



वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

महात्मा गाँधी का राजनीतिक चिंतन



वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

विषय सूची

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई – 1	गाँधी चिन्तन : एक परिचय	1–10
इकाई – 2	राज्य सम्बन्धी गाँधी के विचार	11–17
इकाई – 3	स्वतंत्रता सम्बन्धी गाँधी के विचार	18–24
इकाई – 4	समानता और गाँधी	25–38
इकाई – 5	सामाजिक न्याय और गाँधी	39–55
इकाई – 6	सत्याग्रह : प्रतिरोध का सिद्धान्त	56–76
इकाई – 7	राजनीति का आध्यात्मिकरण और गाँधी	77–90
इकाई – 8	विकेन्द्रीकरण और गाँधी	91–105
इकाई – 9	गाँधी एवं विचारधारायें	106–123
इकाई – 10	गाँधी एवं भारतीय संविधान	124–130
इकाई – 11	गाँधी एवं उत्तर-आधुनिकवाद	131–144
इकाई – 12	गाँधी और समाजवाद	145–160
इकाई – 13	गाँधी और राष्ट्रवाद	161–168

गाँधी चिन्तन : एक परिचय

इकाई रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 राजनीतिक विषयों पर चिन्तन
- 1.3 आर्थिक विषयों पर चिन्तन
- 1.4 सामाजिक विषयों पर चिन्तन
- 1.5 सारांश
- 1.6 अभ्यास प्रश्न
- 1.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन पश्चात निम्नलिखित के बारे में विद्यार्थी आपना समझ विकसित कर सकेंगे :-

- गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक चिन्तन का सार।
- गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत आर्थिक चिन्तन का सार।
- गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत सामाजिक चिन्तन का सार।

1.1 प्रस्तावना

एक परम्परागत गुजराती वणिक् परिवार के सदस्य के रूप में जीवन की शुरुआत करने वाले मोहन दास कर्मचन्द गाँधी ने तत्कालीन मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति और आकांक्षाओं के अनुरूप इंग्लैण्ड से “बैरिस्टर” की उपाधि प्राप्त की और इसे आजीविका के साधन के रूप में प्रयुक्त करने के सिलसिले में अफ्रीका गये तो यहाँ से शुरुआत हुयी जीवनलक्ष्य परिवर्तन की। अफ्रीका में उन्होंने उस अन्याय और अत्याचार को देखा जो वहाँ गोरी सरकार रंग और जाति भेद के आधार पर प्रवासी भारतीयों पर कर रही थी। डर्बन से प्रिटोरिया जाते समय रात मैरिट्सबर्ग स्टेशन पर प्रथम दर्जे के रेल के डिब्बे से उतार दिये जाने की सर्वविदित घटना इस दिशा में निर्णायक सिद्ध हुयी। अपने अपमान के बारे में व्यग्र होकर वह जितना ही सोचते गये, एक इस्पाती दृढ़ता और निश्चय उनमें उतना ही बलवान होता गया। इस घटना को वह अपने जीवन का सबसे सृजनशील और नियामक अनुभव मानते थे। उसी क्षण से उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के शासकीय और वर्ण विशेषक सामाजिक अन्याय के खिलाफ कसर कस ली।

इस प्रकार गाँधीजी स्वयं अपमान, उपेक्षा का शिकार होने तथा अपने हिन्दुस्तानी भाईयों को सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक अधिकार दिलाने के संघर्ष के लिए समर्पित हो गये। स्वयं उन्हीं के शब्दों में – ‘इस प्रकार मैं हिन्दुस्तानी समाज की सेवा में ओत-प्रोत हो गया, उसका कारण आत्म दर्शन की अभिलाषा थी। ईश्वर की पहचान सेवा से ही होगी, यह मान कर मैंने सेवा धर्म स्वीकार किया था।

गाँधी ने अफ्रीका प्रवास के दौरान ही सभी धर्म पुस्तकों का अध्ययन कर लिया था। रस्किन की *अनटु दिस लास्ट* से गाँधी ने “सर्वोदय” का विचार ग्रहण किया, जिसे उनके सामाजिक न्याय की अवधारणा का मुख्य आधार माना जा सकता है। गाँधी ने जीवन के सभी पक्षों (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक) की गतिविधियों का मार्गदर्शन का उसके अंतिम ध्येय, ईश्वर प्राप्ति को माना है अतः सभी मानवों की सेवा उसे पाने के प्रयास का आवश्यक अंग बन जाती है।

गाँधीजी मूलतः मानवतावादी होने के कारण, भारतीय समाज में कुरीतियों व अंधविश्वासों पर आधारित व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति जन्म, लिंग या व्यवसाय के आधार पर किये जाने वाले असमानतापूर्ण दुर्व्यवहार का विरोध किया तथा भारतीय समाज में व्याप्त इन बुराइयों को दूर करने के लिए कार्य तथा विचार प्रस्तुत किया। उनका मानना था कि सम्पूर्ण मानव एक ही परिवार के सदस्य हैं। धर्म जाति, समुदाय तथा राष्ट्रों के द्वारा मानव-मानव के मध्य किये गये भेद में वे विश्वास नहीं करते थे तथा सभी मानवों में पूर्ण समानता और सभी का अधिकतम कल्याण के पक्षधर थे। वे अपने देशवासियों तथा अन्य देशों के लोगों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं करते थे और बिना जाति, धर्म तथा राष्ट्रीयता के सम्पूर्ण मानव जाति से प्रेम करते थे।

1.2 राजनीतिक विषयों पर चिन्तन

नैतिकता, स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय पर आधारित समाज का पुनर्गठन करने के लिए गाँधी ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक व्यवस्था में सुधार के लिए विचार प्रस्तुत किये।

1.2.1 साधन तथा साध्य की पवित्रता

उन्होंने साधन तथा साध्य को अलग-अलग नहीं माना क्योंकि ये दोनों मिलकर ही नैतिक जीवन का निर्माण करते हैं। यह केवल नैतिक सिद्धान्त न होकर मनोवैज्ञानिक सत्य है। गाँधी के अनुसार, साध्य तथा साधन को पृथक् करने वाली कोई दीवार नहीं है। साधन बीज तथा साध्य पेड़ के समान हैं और पेड़ तथा बीज के समान ही इन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। यही कारण है कि गाँधी के राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक विचारों में साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की पवित्रता को अपरिहार्य माना गया है।

गाँधीजी ने साध्य तथा साधन की एकता के सिद्धान्त का निरूपण करके क्रांतिकारी कार्य किया है। गाँधीजी इस मत पर दृढ़ और अटल थे कि चाहे कितना ही महान् उद्देश्य या बड़ा लाभ अथवा हानि हो अनैतिक साधनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। नैतिक साधनों पर इतना बल दिये जाने का अर्थ यह नहीं था कि बुराई, अन्याय तथा अत्याचार को सहन किया जाय। गाँधी अन्याय का विरोध करते हुये जिये तथा मरे। गाँधी इस तथ्य से भी अवगत थे कि यदि अन्याय का विरोध अहिंसा से न किया गया तो किसी अन्य तरीके से किया जायेगा अतः उनका कहना था कि "मेरा यह विश्वास है कि जहाँ केवल हिंसा तथा कायरता में से किसी एक को चुनना हो तो मैं हिंसा की सलाह दूँगा लेकिन इसके साथ उनका यह भी दृढ़ विश्वास था कि अहिंसा हिंसा से अपार रूप में महान् है।

साध्य व साधन की पवित्रता के प्रबल समर्थक होने के कारण ही गाँधी ने जीवन के हर क्षेत्र में इसे अंगीकार करने तथा उसे आध्यात्मिकता से अभिन्न बताते हुये व्यक्ति की सामाजिक व आर्थिक गतिविधियों का ही नहीं, अपितु राजनीति का भी आध्यात्मिकरण करने की आवश्यकता महसूस की।

1.2.2 सत्य और अहिंसा

सत्य और अहिंसा को गाँधीजी ने मानव जीवन तथा सामाजिक सम्बन्धों की आधार शिला के रूप में पूर्ण कल्पना की है। उनका कहना था कि यदि मेरे देश के विकास के लिए असत्य तथा हिंसा आवश्यक है तो मेरे देश की अवनति होने दो। मैं पूरी दुनियाँ की कीमत पर भी सत्य तथा अहिंसा की कुर्बानी नहीं दे सकता। सत्य की कीमत पर मैं देश की सेवा नहीं करना चाहता क्योंकि मैं जानता हूँ कि जो व्यक्ति सत्य को त्याग सकता है वह अपने देश तथा सबसे घनिष्ठ व प्रिय को भी त्याग सकता है।

इसी तरह गाँधीजी ने अहिंसा पर दृढ़ संकल्पित रहने को बहुत महत्वपूर्ण माना। उनके अनुसार अहिंसा ही सत्य की प्राप्ति का साधन हो सकता है। इसलिए अहिंसा को जीवन सिद्धान्त के रूप में अचनाया जाना चाहिए। यह कायरता अथवा अवसरवाद का प्रतीक नहीं होना चाहिए। महान् कर्मयोगी थे, जिनका कार्यक्षेत्र समग्र मानवता की सेवा करना था, अतः वह अपने लक्ष्य- ईश्वर प्राप्ति को, अहिंसा रूपी साधन द्वारा प्राप्त करना चाहते थे और यह कार्य, उनके अनुसार सच्चे समाजसेवक के रूप में ही पूरा किया जा सकता है।

1.2.3 राजनीति का आध्यात्मिकरण

गाँधीजी के लिए धर्म, मानवीय कार्यकलापों से पृथक् मात्र कर्मकाण्ड नहीं था, अपितु वह सम्पूर्ण जीवन का नैतिक आधार था। वास्तविक धर्म आसन्न न्याय का सिद्धान्त है और सामाजिक सम्बन्धों में न्याय के नैतिक

सिद्धान्तों का क्रियान्वयन ही 'वास्तविक राजनीति' है। दोनों का (धर्म तथा राजनीति) आधार नैतिकता या सामाजिक आचार है। जीवन विभिन्न अभेद्य खण्ड में विभाजित न होकर समग्र है यही कारण है कि गाँधी ने राजनीति का नीतिकरण किया। प्रश्न यह उठता है कि गाँधी ने एक मानवतावादी, आध्यात्मिक पुरुष होते हुये भी राजनीति को अपने 'कर्म' का आधार क्यों बनाया? स्वयं गाँधी ने इसका कई बार जवाब दिया है। राजनीति उनके जीवन का ध्येय नहीं था, अपितु जनता को, उसके जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति के लिए समर्थ बनाने के विभिन्न साधनों में से एक था। उनका यह मानना था कि राजनीति में भाग लेना इसलिए अनिवार्य है कि राजनीति ने हमारे "सम्पूर्ण जीवन को साँप के समान जकड़ रखा है और कोई कितना ही प्रयास करें वह इस सर्प-समान राजनीति की जकड़न से मुक्त नहीं हो सकता", वे इस साँप से कुश्ती (संघर्ष) करना चाहते थे।

1.2.4 स्वराज एवं समाज सुधार

समाज सुधार के कार्य को वे राजनीतिक कार्य की तुलना में किसी भी प्रकार से कम महत्वपूर्ण या गौण नहीं मानते थे, अपितु उनका राजनीति में भाग लेने का कारण यह था कि एक हद तक राजनीतिक कार्यों की सहायता के बिना सामाजिक कार्य असंभव हो जाता है। अतः उन्होंने राजनीतिक गतिविधियों में उसी सीमा तक भाग लिया जितना कि सामाजिक कार्य के लिए सहायक हो। इसीलिए उन्होंने स्वीकार किया कि जिसे शुद्ध राजनीतिक कार्य कहा जाता है उसकी अपेक्षा इस प्रकृति (राजनीतिक) का समाज सुधार या आत्म शुद्धिकरण उन्हें सैंकड़ों गुणा प्रिय है।

यही कारण है कि गाँधी ने समाज सुधार पर निरन्तर बल दिया है। उन्होंने कांग्रेस के उग्रवादियों के इस मत को कभी स्वीकार नहीं किया कि पहले स्वाधीनता प्राप्त कर ली जाय, समाज सुधार की समस्या स्वाधीन भारत स्वतः हल कर लेगा। गाँधी का मानना था कि सामाजिक कुरीतियाँ स्वराज की ओर, हमारी गति में बाधक हैं। जितना हमारा समाज-सुधार होगा उतनी ही तीव्र गति से हम अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे। समाज सुधार को स्वराज की प्राप्ति तक स्थगित करने का अर्थ है कि हम स्वराज का अर्थ ही नहीं समझते। सामाजिक पुनर्गठन तथा राजनीतिक स्वराज के लिए संघर्ष का काम साथ-साथ चलना चाहिए। इन दोनों में प्राथमिकता तथा पार्थक्य का प्रश्न ही नहीं है। नयी समाज व्यवस्था को बलपूर्वक थोपा नहीं जा सकता। ऐसी चिकित्सा रोग से भी बदतर होगी। वे अपने आपको व्याकुल समाज सुधारक मानते थे। वे मौलिक तथा सतत सामाजिक पुनर्गठन की प्रक्रिया चाहते थे लेकिन सब कुछ स्वाभाविक रूप से हो, ऊपर से थोपा न गया हो।

सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक स्वाधीनता को गाँधी द्वारा समान महत्व दिये जाने का कारण यह था कि वे समाज के सभी व्यक्तियों को केवल राजनीतिक रूप से ही स्वतंत्र कराने से संतुष्ट नहीं थे अपितु अपार कुरीतियों, अंधविश्वासों, परम्पराओं तथा धर्मशास्त्रों की अनुपालना के नाम पर भारतीय समाज में व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार, अमानवीय भेदभाव तथा शोषण को समाप्त कर समाज को समानता व न्याय के आधार पर पुनर्गठित करना चाहते थे। उनके समाज सुधार की योजना में रचनात्मक कार्यक्रम का महत्वपूर्ण स्थान था। इसके द्वारा वे गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी को समाप्त कर स्वतंत्रता के साथ ही आर्थिक रूप से देश को सक्षम बनाना चाहते थे। उनके लिए यह महत्वपूर्ण नहीं था कि अत्याचार विदेशी लोगों द्वारा किया जा रहा है या स्वयं इसी देश के लोगों द्वारा, उनका लक्ष्य तो अत्याचार को समाप्त करना था इसीलिए उन्होंने 'अस्पृश्यता' के रूप में सवर्ण हिन्दुओं द्वारा निम्न जातियों पर किये जाने वाले दमन तथा अत्याचार के विरुद्ध आंदोलन चलाया। लेकिन गाँधी ने न तो बल के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्ति का समर्थन किया और ना ही नयी सामाजिक व्यवस्था को बलात् जनता पर थोपने का। दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने जनमत जागृत कर जनता के हृदय परिवर्तन द्वारा जन-आन्दोलन के माध्यम से लक्ष्य प्राप्त करना चाहा। लेकिन इस संदर्भ में एक बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ गाँधी ने विदेशी शासन के हृदय परिवर्तन के लिए बार-बार 'सत्याग्रह' तथा 'उपवास' की शक्ति का प्रयोग किया, वहीं सवर्ण हिन्दुओं को अस्पृश्यता निवारण हेतु बाध्य करने के लिए इन हथियारों का प्रयोग नहीं किया। यद्यपि 1932 में साम्प्रदायिक पंचाट में अस्पृश्यों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिये जाने के विरोध में गाँधी द्वारा आमरण-अनशन किया गया था लेकिन इसका लक्ष्य 'अस्पृश्यता' को समाप्त करना नहीं है।

वे केवल अंग्रेजी शासन से मुक्ति को ही स्वराज नहीं समझते थे अपितु उनका मानना था कि औसतन ग्रामीण में यह चेतना आये कि वह स्वयं अपना भाग्यदाता तथा अपने द्वारा चयनित प्रतिनिधि के रूप में स्वयं विधायक है, वहीं वास्तविक स्वराज है। सत्ता के केन्द्रीकरण को लोक हित के विरुद्ध मानने के कारण उन्होंने सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण को ग्रामीण इकाई के आधार पर लागू करने का विचार रखा। वे चाहते थे कि 'स्वराज' गरीब व्यक्ति का स्वराज हो और राजकुमारों तथा पूंजीपतियों के साथ ही आम आदमी भी जीवन की आवश्यकताओं का उपभोग कर सके। इसका अर्थ यह नहीं कि आम आदमी भी जीवन की आवश्यकताओं का उपभोग कर सके। इसका अर्थ यह नहीं कि आम जनता के पास भी भव्य महल हो, यह प्रसन्नता के लिए आवश्यक नहीं है। अपितु जीवन की वे सब सामान्य सुविधायें प्राप्त हों, जिनका धनवान व्यक्ति उपभोग करते हैं, निस्संदेह इसके बिना स्वराज पूर्ण नहीं हो सकता। गाँधी धर्म या नस्ल के भेदभाव के बिना स्वराज के समस्त व्यक्तियों की भलाई का सपना देखते थे। स्वराज किन्हीं विशेष धर्मानुयायियों या पूंजीपतियों के एकाधिकार की वस्तु न होकर सभी के लिए, विशेष तौर से किसान, अंधों, भूखों तथा विकलांग, दलित परिश्रमी अर्थात् असहायों का होगा। गाँधी ने यह सपना देखा था कि 'स्वराज' में हमारी सभी दुर्बलतायें समाप्त हो जयेंगी तथा हमारा समाज मानवतावादी मूल्यों पर आधारित होगा। यद्यपि स्वराज को वे अल्पकाल की व्यवस्था मानते थे, उनका लक्ष्य था— राज्य विहीन समाज जिसमें नैतिक सत्ता की सार्वभौमिकता होगी।

1.2.4 आदर्श राज्य

गाँधीजी राज्य को हिंसा का संगठित स्वरूप मानते थे और आदर्श के तौर पर एक राज्य और वर्ग विहीन समाज की कल्पना करते थे। गाँधीजी ने एक ऐसे राज्य का सपना देखा जिसे उन्होंने रामराज्य का नाम दिया। लेकिन इसका अर्थ किसी धर्म पर आधारित राज्य से न होकर ईश्वर के राज्य से था। राजनीतिक दृष्टि से यह पूर्ण प्रजातंत्र है, जिसमें गरीबी और अमीरी, रंग तथा मतमतांतर के आधार पर स्थापित असमानताओं का सर्वथा अन्त हो जाता है। रामराज्य में भूमि तथा राज्य जनता का होगा। न्याय शीघ्र पूर्ण और सस्ता होगा, प्रत्येक व्यक्ति को अपने तरीके से पूजा प्रार्थना, स्वतंत्र विचाराभिव्यक्ति और लेखन की स्वतंत्रता होगी और नैतिक कानूनों के स्वैच्छिक पालन द्वारा ही यह सब होगा।

1.2.5 अन्तरराष्ट्रीयता

गाँधी केवल अपने देश के लोगों के लिए ही स्वतंत्रता, समानता और न्याय नहीं चाहते थे बल्कि उनकी सेवा के कार्य क्षेत्र में सम्पूर्ण मानवता समाहित थी। उनका कहना था कि वे भारत की स्वतंत्रता के लिए जीने—मरने को तैयार है, क्योंकि स्वतंत्र भारत ही सम्पूर्ण मानवता की सेवा के लिए खड़ा हो सकता है। लेकिन यह स्वतंत्रता वे किसी अन्य देश के शोषण या पतन के मूल्य पर प्राप्त नहीं करना चाहते थे। वे देश को स्वतंत्र करवाना चाहते थे ताकि अन्य देश उससे कुछ सीख सकें, और देश के संसाधनों का उपयोग मानव जाति के लाभ के लिए किया जा सके। जैसे देश भक्ति की अवधारणा हमें यह शिक्षा देती है कि व्यक्ति को परिवार के लिए, परिवार को गांव के लिए, गांव को जिले के लिए, जिले को प्रान्त के लिए और प्रान्त को देश के लिए मर जाना चाहिए। इसीलिए एक देश को स्वाधीन हो जाना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर विश्व के कल्याण के लिए वह बलिदान हो सकें।

गाँधी ने अपने जीवन का लक्ष्य सम्पूर्ण मानव समाज के हर व्यक्ति में आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की भावना की स्थापना बताते हुये कहा था कि यदि " मैं मानव—समाज के शारीरिक रूप से कमजोर से कमजोर स्त्री—पुरुष में यह विश्वास जगा सकूँ कि अपने आत्म—सम्मान और स्वतंत्रता का वह स्वयं संरक्षक है, तो मेरा लक्ष्य पूरा हो जायेगा। यह विश्वास इतना दृढ़ होना चाहिए कि संपूर्ण विश्व भी इसे नहीं हिला सकें।

इस प्रकार गाँधी के राजनीतिक विचार भी नैतिकता तथा मानवतावादी आधार पर अवलम्बित थे। राजनीति को उन्होंने न्याय, स्वतंत्रता और समानता की प्राप्ति तथा मानवता की सेवा के एक साधन के रूप में अपनाया। लेकिन सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह जैसे व्यक्तिगत मूल्यों को राष्ट्रीय स्तर पर एक आंदोलन के रूप में परिवर्तित कर उन्होंने राजनीति के मौलिक आधार, प्रकृति तथा उद्देश्य को अपनी अवधारणाओं के सांचे में ढाल लिया। हिंसा को राज्य का अविभाज्य अंग मानकर अस्वीकार कर दिया और एक ऐसे समाज की कल्पना की

जिसके कानून पालन का आधार राज्य, शक्ति, दण्ड या भय न होकर नैतिकता थी। उन्होंने राजनीति तथा स्वराज को निम्नतम व्यक्ति के हित का साधन बनाने का स्वप्न देखा और विश्व बन्धुत्व तथा संपूर्ण मानव समाज की सेवा के लिए राजनीति को साधन के रूप में अपनाने की बात की।

1.3 आर्थिक विषयों पर चिन्तन

जीवन के अस्तित्व के लिए अर्थ आवश्यक है। रोटी, कपड़ा और निवास, तीनों मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुद्रा अनिवार्य है। समाज का एक वर्ग करोड़पति हो और दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग जा भर पेट भोजन भी न प्राप्त कर सके, ऐसे समाज को न्याय पर आधारित या नैतिकता पर आधारित समाज नहीं कहा जा सकता। गाँधी ने इस तथ्य पर बल देते हुये विद्यमान अर्थ-व्यवस्था तथा अर्थ-सम्बन्धों में मौलिक परिवर्तन की व्यवस्था दी जिसके परिणामस्वरूप समाज में सभी व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। प्रत्येक व्यक्ति को इतना काम मिले कि वह अपनी इन मूल आवश्यकताओं को पूरा कर सके और यह सभी संभव हो सकता है जबकि इन आवश्यकताओं के उत्पादन के साधनों पर आम जनता का नियंत्रण रहे, जनता को शोषण का माध्यम न बनाया जाय। इस क्षेत्र में किसी देश या व्यक्तियों के समूह का एकाधिकार होना अनुचित तथा अन्यायिक होगा। सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए गाँधी के आर्थिक विचारों के मुख्य पहलू इस प्रकार है :-

1.3.1 नैतिकता पर आधारित अर्थ-व्यवस्था

राजनीति के समान ही अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में उनका विचार था कि सच्चा अर्थशास्त्र नैतिकता के महान् नियमों के प्रतिकूल हो ही नहीं सकता। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय चाहता है और समाज के प्रत्येक व्यक्ति का हित चाहता है, यहां तक कि दुर्बलतम व्यक्ति का भी सामाजिक हित चाहता है और अच्छे जीवन के लिए आवश्यकता भी है। क्योंकि व्यक्ति में नैतिक बोध होगा तभी वह आर्थिक रूप से परोपकार कर सकता है। नैतिकता के आधार पर अर्थ संचालन करने पर ही व्यक्ति या राष्ट्र शोषण की दुर्भावना का त्याग कर सकता है तथा दूसरे व्यक्ति को भूखा-नंगा रखकर अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने में नहीं लगा रह सकता। इसी आधार पर गाँधी ने आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के विचार का समर्थन किया और कहा कि यदि व्यक्ति ऐसी चीज लेकर रखता है जिसकी उसे तात्कालिक उपयोग के लिए आवश्यकता नहीं है तो वह किसी दूसरे की चोरी करता है। प्रकृति का यह मौलिक नियम है कि वह रोज उतना ही उत्पन्न करती है जितनी हमें जरूरत हो। यदि हर व्यक्ति प्रतिदिन अपनी आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करे तो इस दुनियाँ में न तो गरीबी रहे और ना ही एक भी व्यक्ति भूखा रहे।

1.3.2 औद्योगीकरण का आधार शोषण

आधुनिक विज्ञान और तकनीक व्यक्ति के जीवन का अभिन्न अंग बनता जा रहा है और इसे सभ्यता और विकास का चिह्न माना है वहीं गाँधी ने वैज्ञानिक आविष्कारों पर आधारित औद्योगीकरण और मशीनों का तीव्र विरोध किया है। विरोध का आधार है नैतिकता। बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए बहुत अधिक मात्रा में कच्चे माल तथा बड़े बाजारों की खोज की यह प्रवृत्ति साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को जन्म देती है जो शोषण पर आधारित और नैतिकता के विरुद्ध है। इस प्रकार औद्योगीकरण पूर्णतया शोषण की क्षमता पर आधारित है।

गाँधी द्वारा मशीनीकरण के विरोध का मूल कारण यही था कि मशीनों ने ही एक राष्ट्र को दूसरे का शोषण करने में समर्थ बनाया है। मशीनों के कारण ही मानव का शारीरिक तथा नैतिक पतन हुआ है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप धन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है और बहुसंख्यक वर्ग को अपना जीवन अत्यधिक निर्धनता में व्यतीत करना पड़ता है इसलिए गाँधी ने मशीनों के साम्राज्य को समाप्त करने का दृढ़मत रखा। उनका कहना था कि मशीनें भी कायम रहे लेकिन वे पूर्णतया मानवीय श्रम का स्थान न लें।

1.3.3 कुटीर उद्योगों का समर्थन

गाँधी ने औद्योगीकरण के स्थान पर कुटीर उद्योगों का समर्थन किया क्योंकि इसके द्वारा ही भारत के करोड़ों ग्रामीण बेरोजगार, भूखे लोगों को शारीरिक श्रम द्वारा आजीविका का साधन मिल सकता था और उत्पादन जनता के हाथ में आने से अर्थ-व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण होता था जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गांव को एक

आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करना था। भारतीय ग्रामों में कुटीर उद्योग के रूप में वे खादी को जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे क्योंकि खादी को वे देश की जनता की आर्थिक स्वतंत्रता तथा समानता की शुरुआत मानते थे। इस प्रकार समाज को सभी प्रकार के आर्थिक शोषण से मुक्त कर सभी सदस्यों को मूलभूत आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए उन्होंने कुटीर-उद्योगों को मुख्य आधार बनाया।

1.3.4 आर्थिक समानता

सामाजिक न्याय की स्थापना में आर्थिक पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्र समान अधिकारों की स्वीकृति के बावजूद यदि व्यक्ति भूखा हो तो वह न तो उपर्युक्त अधिकारों के प्रयोग में सक्षम हो सकता है और ना ही अपने अंतिम लक्ष्य 'ईश्वर की प्राप्ति' की ओर अग्रसर हो सकता है अपितु उसकी संपूर्ण एकाग्रचितता तथा प्रयास 'रोटी' की व्यवस्था करने की ओर ही संचालित होंगे। भूखा व्यक्ति पाप नहीं जानता अतः उससे नैतिकता या सदाचार की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यदि व्यक्ति के पास अपार आर्थिक संसाधन हो तो वह भौतिक वैभव में डूबकर अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य को भूल जाता है अतः गाँधी एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के हिमायती थे जिसमें व्यक्ति अर्थोपार्जन को केवल अपना कर्तव्य समझकर व्यवसाय करे तथा अपना संपूर्ण ध्यान और ऊर्जा आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए लगा सके। गाँधी ने स्वयं 'रचनात्मक कार्यक्रम' में आर्थिक समानता का अर्थ समझाते हुये लिखा है कि – "आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ है, पूँजी च मजदूरी की बीच के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर जिन मुट्टी भर धनवानों और करोड़ों लोग अधभूखे और नंगे रहते हैं उनकी संपत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्टी भर धनवानों और करोड़ो भूखे रहने वालों के मध्य अत्यधिक अन्तर रहेगा तब तक अहिंसा पर आधारित राजव्यवस्था कायम नहीं हो सकती।

आर्थिक समानता के साम्यवादियों के सिद्धान्त की आलोचना करते हुये गाँधी का कहना था कि— "साम्यवादी तथा समाजवादी आर्थिक समानता के लिए प्रचार भर कर सकते हैं। इसके लिए लोगों में द्वेष या वैर पैदा करने और उसे बढ़ाने में उनका विश्वास है और सत्ता प्राप्ति के बाद वे लोगों से समानता के सिद्धान्त पर अमल करवायेंगे जबकि मेरी योजना के अनुसार राज्य लोगों की इच्छा पूरी करेगा न कि लोगों को आज्ञा देगा या जबरन आज्ञा का पालन करवायेगा।.....आर्थिक समानता का अर्थ है – जगत के पास समान संपत्ति का होना यानि सबके पास इतनी संपत्ति का होना जिससे वे अपने प्राकृतिक आवश्यकतायें पूरी कर सकें।

1.3.5 ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

आर्थिक समानता की स्थापना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, समाज के मुट्टी भर पूँजीपतियों के अधिकार में समाज की अधिकाँश सम्पत्ति। इस सम्पत्ति को एक साम्यवादी भी समाज के हित में पूँजीपति से प्राप्त करना चाहता है, लेकिन उसका रास्ता है— वर्ग संघर्ष, खूनी लड़ाई के परिणामस्वरूप पूँजीपति से प्राप्त करना चाहता है, लेकिन उसका रास्ता है— वर्ग संघर्ष, खूनी लड़ाई के परिणामस्वरूप पूँजीपतियों की सम्पत्ति को छीनना लेकिन गाँधी वर्ग संघर्ष के हिंसापूर्ण मार्ग द्वारा लक्ष्य को प्राप्त नहीं करना चाहते। अहिंसा के पुजारी होने के कारण वे शारीरिक बल या हिंसा का प्रयोग किये बिना आर्थिक शोषण का अंत करना चाहते थे। अतः उनका कहना था कि यदि पूँजीपति और जमींदार वर्ग गरीबों के संरक्षक के रूप में कार्य करें तो शोषण समाप्त किया जा सकता है। ट्रस्टी का अर्थ है कि पूँजीपति या जमींदार सम्पत्ति का मालिक नहीं है। मालिक वह होता है जो अपने स्वार्थों की रक्षा करता है। जब पूँजीपति या जमींदार अपने आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज के खातिर धन कमायेगा और समाज के कल्याण में उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। लेकिन यदि पूँजीपति संरक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार न करे तो? ऐसी स्थिति में मजदूरों को सत्याग्रह द्वारा हृदय परिवर्तन साधन का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार गाँधी ने पूँजीवाद को समाप्त न करके उसे जनकल्याण की भावना में परिवर्तित करने के लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दिया।

आर्थिक समानता की स्थापना के लिए गाँधी द्वारा दिया गया ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दो तथ्यों पर अवलम्बित है :-

समाज में समानता के आदर्श की ओर अग्रसर होने के लिए अहिंसा के सिद्धान्त का सामाजिक स्तर तक विस्तार तथा वर्ग संघर्ष को टालना। स्वयं गरीबों तथा अमीरों से जुड़े रहने के कारण ट्रस्टीशिप के आदर्श को व्यवहार में बदलने का गाँधी का विश्वास।

वस्तुतः न्यास का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। गाँधी ने जमनालाल बजाज के उदाहरण से यह विश्वास

किया कि ट्रस्टीशिप को व्यवहार में लाया जा सकता है लेकिन बड़ी संख्या में पूँजीपतियों द्वारा गाँधी व काँग्रेस को सहयोग देने का मुख्य कारण यह नहीं था कि परोपकारिता और देशभक्ति की भावनाओं से पूँजीपति अभिभूत थे अपितु वे स्वहित से प्रेरित थे क्योंकि वे जानते थे कि गाँधी व काँग्रेस के सहयोग के परिणाम स्वरूप उन्हें विदेशी माल से प्रतिस्पर्धा नहीं करनी पड़ेगी और वर्ग संघर्ष की स्थिति टलने से उनकी स्थिति और भी मजबूत हो जायेगी।

दूसरी मुख्य कमजोरी यह है कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त मानव स्वभाव की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है क्योंकि कुछ अपवादों को छोड़कर, मानव स्वभाव अधिक से अधिक सम्पत्ति जुटाकर, प्राप्त जीवन स्तर को और ऊपर उठाने का होता है और एक बार स्थापित जीवन स्तर को घटाना व्यक्ति के लिए आसान नहीं है। यदि उसे सम्पत्ति का स्वैच्छिक उपभोग करना ही नहीं है तो वह इतनी कमायेगा क्यों?

1.3.6 स्वदेशी

गाँधीजी ने स्वदेशी की अवधारणा को भी प्रतिपादित किया जिसके अनुसार उन्होंने इस बात पर बल दिया कि व्यक्ति को दूर दरार जगहों की तुलना में अपने निकटतम क्षेत्र में उत्पादित हो रहे वस्तुओं का उत्पादन करना चाहिए। व्त्यों को रोजगार उपलब्ध कराने और गाँवों को स्वावलम्बी बनाने के लिये गाँधीजी ने स्वदेशी को अपरिहार्य माना।

रस्किन की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से गाँधी ने सर्वोदय का जो विचार ग्रहण किया उकसी तीन मुख्य बातें इस प्रकार थी—

सबके हित में ही व्यक्ति का हित है।

एक वकील तथा नाई के काम का समान महत्व है क्योंकि सभी को अपने कार्य द्वारा आजीविका कमाने का समान अधिकार है।

एक मजदूर का जीवन भी सार्थक है। (जैसे—शिल्पकार)

इसलिए गाँधी का विचार था कि अहिंसा का पुजारी उपयोगितावादी अवधारणा (अधिकतम लोगों का अधिकतम हित) को स्वीकार नहीं कर सकता। वह सभी लोगों के अधिकतम हित को प्राप्त करने के प्रयास में मर जायेगा। इस प्रकार, वह औरों के जीवन के लिए स्वयं मरने को तैयार रहेगा। उपयोगितावादी अपना बलिदान कभी नहीं करेगा जबकि सम्पूर्णतावादी (सभी के हित में विश्वास करने वाला) अपने आपको कुर्बान कर देगा।

इस प्रकार, गाँधी ने व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता की रक्षा के लिए आर्थिक आधार पर अपेक्षित बल दिया है। यद्यपि नैतिकतावादी और सत्य अहिंसा में अटूट आस्था के परिणामस्वरूप प्रस्तुत समस्याओं के समाधान के लिए सुझाये गये उपाय आदर्शवादी बन पड़े हैं लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि उन्होंने अपने जीवन में और जीवनकाल में इन आदर्शों का समाजीकरण करने का भी प्रयास किया। सर्वोदय के विचार की क्रियान्वित करने के लिए ही स्वतंत्र भारत में विनोबा भावे ने सर्वविदित भूदान आंदोलन चलाकर गाँधी के सपने को साकार करने का प्रयास किया।

1.4 सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी विचार

गाँधी व्यक्ति का आंतरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान चाहते थे। उनका मानना था कि यदि सभी व्यक्ति सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों का पालन करते हुये, अपनी समस्त इंद्रियों पर नियंत्रण स्थापित कर इन सिद्धान्तों के अपने विचार तथा व्यवहार का अभिन्न अंग बना ले तो समाज कमशः धीरे-धीरे उनके द्वारा चाहे गये आदर्श की अवस्था तक पहुँच जायेगा। तार्किक दृष्टि से तो यह सही है कि यदि एक-एक करके सभी व्यक्तियों का रूपान्तरण होगा तो अंततः सम्पूर्ण समाज भी सुधर जायेगा लेकिन यह सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप से तार्किक होकर भी अव्यावहारिक है। यद्यपि यही आत्म सुधार विस्तृत रूप से संभव हो सके तो समस्त सामाजिक रोगों का निदान हो सकता है। स्वयं गाँधी ने अपने जीवन को उपदेशानुसार ढाला। उनका आश्रम व्यवस्थित परिश्रम का साकार रूप था और शारीरिक श्रम पर जोर देना गाँधी के महानतम् गुणों में से एक था। लेकिन आज के भौतिकवादी युग में उपलब्ध मशीनों की सुविधा का त्याग कर व्यक्ति न तो शारीरिक श्रम के लिए उत्सुक है और ना ही आत्म सुधार द्वारा समाज सुधर के लिए कृत संकल्प। इसका अर्थ यह नहीं कि समाज

में समानता की स्थापना का गाँधी का सपना टूट गया है। गाँधी के द्वारा स्थापित आदर्श तथा लक्ष्य अनुचित थे अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अहिंसा की अनिवार्यता के कारण हृदय परिवर्तन का ही रास्ता बचता है और हृदय परिवर्तन एक रात में नहीं हो सकता। यह प्रक्रिया बहुत धीमी है और इस तथ्य को स्वयं गाँधी ने भी स्वीकार किया था।

1.4.1 गाँधी एवं शिक्षा

गाँधी शिक्षा को मानव निर्माण की कला मानते थे तथा जो व्यक्ति में अन्तर्निहित 'सर्वोत्तम' है, उसे बाहर निकालना वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य है। वे शिक्षा द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तथा अन्त में, व्यक्ति के विकास द्वारा समाज का विकास या परिवर्तन का लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे। वे मानते थे कि व्यक्ति की आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा शारीरिक क्षमताओं के समन्वित तथा संतुलित विकास द्वारा ही सर्वांगीण विकास संभव है। गाँधी के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य है व्यक्ति के चरित्र का निर्माण। उसमें साहस, शक्ति, गुणों का इस प्रकार विकास करना कि वह महान् उद्देश्यों के लिए काम करते हुये अपने-आप का भुला दे। यह मात्र साक्षरता का उद्देश्य नहीं रखता। विद्यमान विदेशी शिक्षा व्यवस्था में गाँधी ने अनेक दोष बताये और विकल्प के रूप में अपनी अनूठी नई तालीम शिक्षा व्यवस्था का प्रतिपादन किया।

गाँधी ने विद्यमान शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थियों को उनके आसपास के वातावरण से प्रथक रखता है। यह उसे नहीं सिखाता कि जीवन में क्या उचित है और क्या अनुचित। यह उसे अपनी भूमि और परम्पराओं पर गर्व करने की शिक्षा नहीं देता। उनके अनुसार विद्यमान शिक्षा हृदय तथा हाथ के उपयोग की संस्कृति की उपेक्षा करके केवल मस्तिष्क से सम्बन्धित है। यह बच्चों को श्रम की प्रतिष्ठा की शिक्षा नहीं देता। ग्रामीण ने विदेशी भाषा को बच्चों पर अनावश्यक दबाव डालने और मौलिक चिन्तन के लिए असमर्थ करने का दोषी माना। इस प्रकार विदेशी शासन द्वारा स्थापित और संचालित शिक्षा व्यवस्था से वे संतुष्ट नहीं थे और उसे चरित्र-निर्माण के प्रतिकूल मानते थे।

गाँधी ने विद्यमान शिक्षा व्यवस्था पर एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का विचार रखा, जो शिक्षा उनकी परिभाषा के अनुसार, व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास को पूर्ण करती हो। गाँधी के शिक्षा सुधार सम्बन्धी विचार सर्वाधिक मौलिक थे। वर्ष 1936 में, गाँधी ने 'नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा' कि नाम से शिक्षा सम्बन्धी जो विचार रखे इन्हें ही शिक्षा की वर्धा योजना भी कहा जाता है। तत्कालीन भारतीय समाज की आवश्यकताओं तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर गाँधी ने इस शिक्षा व्यवस्था की प्रणाली प्रस्तुत की। संपूर्ण देश के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा में गाँधी का दृढ़ विश्वास था और उनका मानना था कि बच्चों को उपयोगी उद्योग का प्रशिक्षण देकर ही हम उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं और इसको उसके शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के साधन के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं। गाँव एवं शहर में सौहार्दपूर्ण संबंध के लिए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि शहर अपने दायित्व को महसूस करे और गाँवों से अपनी शक्ति तथा पोषणाहार प्राप्त करने के बदले में उचित देय का भुगतान करे और यदि शहरी बालक सामाजिक पुनर्गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाना चाहते हैं तो जिन व्यवसायों के माध्यम से वे शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण आवश्यकताओं से सम्बन्धित होने चाहिये।

गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचार सामाजिक समानता व न्यायप्रियता से ओतप्रोत है। वे इसके माध्यम से अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन लाना चाहते थे। अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा लागू करके वे समाज के निम्न से निम्न व अति गरीब व्यक्ति को भी शिक्षा सुलभ करवाना चाहते थे। गाँधी परम्परागत शिक्षा को पूर्णतया अस्वीकार करते हुये एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे जो कि भारतीय समाज की अनेक समस्याओं को समूल रूप से नष्ट कर सके। उन्होंने समाज में गरीब लोगों को शोषण व दरिद्रता से मुक्त कर समानता की स्थापना की ओर सामाजिक व्यवस्था को उन्मुख किया है।

1.4.2 सामाजिक न्याय

सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए सामाजिक समानता की स्थापना आवश्यकता है। गाँधी इसके प्रबल समर्थक थे, लेकिन केवल वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना या अस्पृश्यता निवारण से ही सामाजिक न्याय की स्थिति का प्राप्त होना कठिन वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना या अस्पृश्यता निवारण से ही सामाजिक न्याय की स्थिति का प्राप्त होना कठिन था, अतः गाँधी ने इसके साथ ही समाज की राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक व्यवस्था में

परिवर्तन कर सम्पूर्ण समाज की एक ऐसी परिवर्तित व्यवस्था का विचार रखा जिसमें सभी व्यक्तियों का अधिकतम हित हो सके। गाँधी के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अवस्था तथा शिक्षा व महिलाओं की स्थिति में निम्नलिखित सुधार व परिवर्तन द्वारा ही ऐसे समाज की स्थापना की जा सकती है, जिसमें सभी लोगों को न्याय मिल सके।

1.4.3 गाँधी एवं स्त्रियाँ

स्त्रियों को गाँधीजी के समकालीन भारतीय समाज में धर्म तथा शास्त्रों के नाम पर निर्योग्य घोषित किया हुआ था। समाज में स्त्रियों को शिक्षा तथा किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता से वंचित करके सम्पूर्ण मानवीय अधिकारों से वंचित कर रखा था। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद आरम्भ हुये समाज सुधार कार्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा स्त्रियों की स्थिति के सुधार का ही रहा। राजाराम मोहन राय से लेकर मोहन दास कर्मचन्द गाँधी तक—सभी समाज सुधारकों ने यह विचार रखा कि स्त्रियों की स्थिति में सुधार करके ही हम अपने समाज का विकास कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

एक आध्यात्मिक व्यक्ति तथा महान् मानवतावादी होने के कारण हर इंसान के दुखदर्दों से गाँधी को हमदर्दी थी। यही कारण है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की दुर्दशा को देखकर वे व्यग्र हो उठे। एक पुरुष होते हुये भी उन्होंने स्त्री की अन्तरवेदना को महसूस किया तथा उन सभी पक्षों पर प्रकाश डाला जो स्त्रियों को समाज में सम्मानजनक स्थिति तथा समानता के अधिकार को प्राप्त करने में सहायक थे। सर्वप्रथम, गाँधी का यह मानना था कि मौलिक रूप से स्त्री तथा पुरुष समान हैं और सारतः दोनों की समस्या भी एक ही है। दोनों में आत्मा एक समान ही है, दोनों समान जीवनयापन करते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा एक के सक्रिय सहयोग के अभाव में दूसरा जी नहीं सकता। गाँधीजी ने कहा कि स्त्री की प्रतिभा को कुंठित करने वाले प्रतिबन्धों को निडर होकर अस्वीकार कर दिया जाय। इसी उद्देश्य से, गाँधी का कहना था कि हमें अपने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त नैतिक आचार संहिता का उल्लंघन नहीं करना चाहिए लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि परम्परा से चला आ रहा है, वह सब अभ्रान्त या अटल सिद्धान्त है। हमें जहाँ तक संभव हो सके, हर बात का तर्क की कसौटी पर परीक्षण करना चाहिए और जो बात इस आधार पर खरी न उतरे, वह चाहे कितनी ही पुरानी क्यों ना हो, अस्वीकार कर देनी चाहिए।

उनका यह मानना था कि स्त्री-पुरुष सामाजिक स्थिति, सम्मान तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से तो समान है लेकिन इसका अर्थ लैंगिक समानता से नहीं है। महिला के शिकार करने या भाला बर्छी फेंकने, चलाने पर कोई कानूनी रोक न होने पर भी वह स्वाभाविक रूप से ऐसा नहीं करती। प्रकृति ने ही इन दोनों को एक दूसरे का पूरक बनाया है और उनकी शारीरिक बनावट के अनुसार ही उनके कार्यों को परिभाषित किया है। लेकिन कार्य चाहे गृहस्थी का हो या साहस का, दोनों को समान प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। सम्पूर्ण सामर्थ्य के आधार पर भी यदि स्त्री पुरुष की तुलना की जाय तो गाँधी ने स्त्री को पुरुष के समकक्ष ही पाया।

गाँधी के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि शारीरिक भिन्नता के आधार पर स्त्री को घर की देखभाल व पुरुष को आजीविका के काम का दायित्व सौंपते हैं लेकिन वे इस कार्य विभाजन को अंतिम रेखा नहीं मानते। वे तो सामर्थ्य तथा परिस्थिति के अनुसार दोनों को अपना काम धंधा करने की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। कार्य के इस क्षेत्र में जहाँ स्त्रियों को नितान्त निर्बल माना जाता है वहाँ गाँधी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वस्तुतः स्त्री ऐसे गुणों की स्वामिनी है जो उसे पुरुष से भी श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं अतः स्त्री को अपनी ही भावना का परित्याग करके यह समझना चाहिए कि उसमें शक्ति, संयम, सहनशीलता का अपार भंडार है।

गाँधी के महिलाओं की स्थिति में सुधार सम्बन्धी विचारों के अध्ययन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग यह है कि गाँधी ने स्त्री-स्वभाव और मनोवृत्ति को अपने सत्य और अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्तों के सर्वाधिक अनुकूल पाया। उनके अनुसार, स्त्री अहिंसा का मूर्तरूप हैं।

1.5 सारांश

इस प्रकार गाँधीजी ने मानवीय जीवन के सभी पक्षों की अटूट सम्बद्धता की धारणा में विश्वास व्यक्त किया। उनके चिन्तन में व्यक्ति तथा समाज के समस्त पक्षों – सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक

आदि में परिशोधन की अपेक्षा दिखई देती है। नैतिकता, स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय पर आधारित समाज का पुनर्गठन करने के लिए गाँधीजी तत्पर थे। इन मूल्यों की प्राप्ति में बाधक ऐसी सभी मान्यताओं, परम्पराओं, प्रथाओं और विश्वासों की उन्होंने तार्किक आलोचना की और सक्रीय रूप से इन्हे दूर करने का प्रयास किया। समाजिक-परिवर्तन के लिए उन्होंने राज्य की कानूनी शक्ति अपर्याप्त माना। वे बल प्रयोग और हिंसा का समर्थन नहीं करने के पक्षधर थे और विकल्प के तौर पर अहिंसा और हृदय परिवर्तन के प्रबल समर्थक थे।

1.6 अभ्यास प्रश्न

1. गाँधीजी के राजनीतिक विचारों की प्रकृति एवं महत्व समझाइये।
2. गाँधीजी के सामाजिक विचारों को स्पष्ट कीजिए।
3. गाँधीजी के आर्थिक विचारों की प्रकृति एवं महत्व समझाइये।

1.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोपीनाथ धवन : दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
2. अय्यर, राघवन, द मोरल एण्ड पोलिटीकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1973
3. सिंह, रामजी गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1986
4. पटेल एम. एस., दी एजुकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958
5. ऑस्टरगार्ड, जेफरी, नानवायलेन्ट रेवल्यूशन इन इण्डिया, गाँधी पीस फाऊण्डेशन, नई दिल्ली, 1985
6. शंकधीर, एम.एम., अण्डरस्टैंडिंग गाँधी टुडे, दीप एण्ड दीप पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1996

गाँधी और राज्य

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 राज्य का अर्थ और इसके तत्व
- 2.3 अराजकतावाद, थोरो एवं गाँधी
- 2.4 आधुनिक राज्य की आलोचना
- 2.5 अहिंसक राज्य
- 2.6 सारांश
- 2.7 अभ्यास प्रश्न
- 2.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

यह इकाई 'गाँधी के राज्य सम्बन्धी विचार' से सम्बन्धित है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :-

- राज्य के अर्थ और उसके तत्वों से अवगत होंगे।
- अराजकतावाद को जान सकेंगे।
- थोरो के राज्य संबंधी विचारों से गाँधी के संबंध के बारे में जानकारी मिलेगी।
- गाँधी द्वारा आधुनिक राज्य की आलोचना से भी अवगत हो सकेंगे।
- गाँधी द्वारा प्रस्तुत एक अहिंसक राज्य की अवधारणा को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी की यह विषिष्टता थी कि उन्होंने अहिंसक दृष्टि के आधार पर विभिन्न सिद्धांतों पर विचार कर एक नवीन आयाम प्रस्तुत किया जो उनकी अहिंसक समाज रचना के उद्देश्य से अभिप्रेरित था। गाँधी ने अपने राजनैतिक विचारों से संबंधित कोई निश्चित रचना नहीं लिखी जिसके आधार पर उनके राजनैतिक विचारों को सिद्धांत रूप में समझा जा सके परन्तु उनके विचारों के मूल में एक सूत्र अवश्य मौजूद है जिसके आधार पर विभिन्न राजनैतिक विचारों को एक साथ पिरोया जा सकता है। यह सूत्र अहिंसा है। यहीं उनके समस्त विचारों का केंद्र भी है। गाँधी ने राज्य संस्था संबंधी अपने विश्लेषण में इसी अहिंसा को आधार बना कर विश्लेषण किया है। गाँधी अराजकतावादियों की तरह राज्य संस्था को पूरी तरह से समाप्त करने के पक्षधर नहीं थे। वह राज्य को बनाए रखते हैं परन्तु उसकी प्रकृति को बिल्कुल उलट देते हैं। थोरो से प्रभावित होते हुए उन्होंने अपने राज्य संबंधी विचारों को भारतीय संदर्भों में नवीन रूप से प्रस्तुत किया और नयी व्याख्या प्रदान की। गाँधी के राज्य संबंधी विचार वस्तुतः राज्य संस्था, लोकतंत्र, सम्प्रभुता एवं स्वराज पर उनके विचारों का युग्म है। यह सभी तत्व आपस में गुंथे हुए प्रतीत होते हैं। गाँधी आधुनिक राज्य की आलोचना के साथ-साथ एक अहिंसक राज्य की कल्पना भी प्रस्तुत करते हैं। यह इकाई गाँधीवादी परिप्रेक्ष्य से राज्य सिद्धांत पर प्रकाश डालने का प्रयास करेगी।

2.2 राज्य का अर्थ एवं इसके तत्व

राज्य संस्था राजनीतिक विचारों में प्रमुख स्थान रखती है। राजनीतिक विचारों के इतिहास से आज तक यह संस्था बहस का केंद्र बनी हुई है। वर्तमान में हम जिस राज्य संस्था की बात करते हैं वह एक यूरोपीय विचार है जो यूरोप में पुनर्जागरण एवं औद्योगिक क्रांति के साथ प्रमुखता से उभर कर आया। अपने विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इसके बारे में अस्पष्टता विद्यमान रहती है। यह कहा जाता है कि 'स्टेट' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग इटली के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मैकियावली ने किया। आधुनिक राज्य की संकल्पना हमें 16वीं सदी में प्राप्त होती है। हमें ध्यान में रखना चाहिए कि राज्य एक अमूर्त विचार और मूर्त संगठन है जिसे उसके भौतिक आधारों पर बताया जा सकता है। राज्य एक राजनीतिक संगठन है। यह अन्य सामाजिक संगठनों से अलग है

जिसका महत्वपूर्ण उद्देश्य सुरक्षा एवं कानून व्यवस्था बनाए रखना है। आधुनिक राज्य के चार मूल तत्व माने गए हैं –

- जनता – लोगों का एक संगठित समुदाय
- भू-भाग – एक निश्चित भू-भाग
- सम्प्रभुता – सर्वमान्य सत्ता जो मान्य होगी। यह आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की होती है।
- संगठन – यह राज्य को व्यक्त करने का साधन है। इसी के द्वारा राज्य अपनी इच्छा को प्रकट और क्रियान्वित करता है। यही संगठन सरकार/शासन कहलाता है।

इन चारों तत्वों के योग से ही राज्य का निर्माण होता है।

2.3 अराजकतावाद एवं थोरो

राज्य के संबंध में कोई भी विचार करते हुए अराजकतावाद का प्रसंग आना स्वाभाविक है। अराजकतावाद एक राजनीतिक दर्शन है जो राज्य तथा उसकी सहयोगी संस्थाओं के उन्मूलन की बात करता है तथा इन्हें अवांछनीय और हानिकारक बताता है। अराजकतावाद राज्य तथा इसकी सहयोगी संस्थाओं के स्थान पर व्यक्तियों, समुदायों और आगे चलकर राष्ट्रों के बीच समान, स्वतंत्र एवं सहयोग की बात करता है। मनुष्य द्वारा निर्मित विभिन्न संगठनों का लक्ष्य है कि वह व्यक्तियों के कार्य स्वातंत्र्यके अधिकतम विकास के अवसर उपलब्ध कराए। मनुष्य में आत्मनियमन की प्रवृत्ति के कारण वह सुव्यवस्था स्थापित कर सकता है। किसी भी के अनुशासन का जबर्दस्ती आरोपण मनुष्य के भीतर विभिन्न सामाजिक और नैतिक बुराईयों को जन्म देता है। अतः मनुष्य पर किसी भी तरह का आरोपण करने वाली संस्थाएं चाहे वह राज्य हो या अन्य संस्थाएं मनुष्य को भ्रष्ट करती हैं। अतः इनसे मुक्ति पाना आवश्यक है। अराजकतावाद राज्य तथा उसकी सहयोगी संस्थाओं की समाप्ति; हर प्रकार के नियंत्रण, सत्ता, शक्ति से मुक्ति; विकेंद्रीकरण इत्यादि की बात करता है। इनके अनुसार समानता और न्याय को राज्य एवं अन्य सहयोगी संस्थाओं को समाप्त करके ही प्राप्त किया जा सकता है। समानता और न्याय को व्यक्तियों के बीच परस्पर सहयोग से पाया जा सकता है। समाज प्राकृतिक है और व्यक्ति प्रकृति से ही अच्छा है परन्तु कृत्रिम संस्थाएं उसे भ्रष्ट करती हैं। वैयक्तिक स्वतंत्रता सभी बातों की कुँजी है।

इस दर्शन ने अनेक महत्वपूर्ण विचारकों को प्रभावित किया। उनमें एक महत्वपूर्ण नाम हेनरी डेविड थोरो का भी है। हालांकि उन्हें पूरी तौर पर अराजकतावादी कहना संभव नहीं है परन्तु उनमें राज्य एवं सहयोगी संस्थाओं की आलोचना के स्वर पूरी तरह मौजूद हैं। हेनरी डेविड थोरो (12 जुलाई 1817– 6 मई 1862) प्रकृतिप्रेमी, कवि, दार्शनिक, नवइंग्लैंड अन्तर्ज्ञावाद के प्रसिद्ध व्यक्तित्व एवं नागरिक स्वतंत्रताओं के समर्थक थे। उनकी प्रसिद्ध रचना “An Essay on Civil Disobedience” अहिंसक प्रतिरोध की घोषणापत्र कही जा सकती है। राज्य संस्था के प्रति अपने असंतोश को विभिन्न तर्कों द्वारा पुष्ट कर थोरो निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) को सैद्धांतिक जामा पहनाने का सफल प्रयास करते हैं। थोरो अपने इस निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा उन तमाम हिंसक व्यवस्थाओं को अपनी आलोचना का शिकार बनाते हैं जिनका प्रतिनिधित्व उस समय बहुत कुछ राज्य नामक संस्था कर रही थी। थोरो तमाम हिंसक कार्यवाही के विरोध में अपने जवाब अहिंसक तरीके से प्रकट करते हैं। अपनी व्यक्तिगत जिंदगी में भी वह इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

अमेरिकी विचारक थोरो ने अपना मत स्पष्ट किया कि न्याय सत्ता से बढ़कर है। Civil Disobedience नामक उनका लेख उनके प्रतिरोध के आदर्श को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने वाला प्रतिनिधि लेख है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है कि ‘वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है।’ ऐसा कहते हुए वे राज्य सत्ता को संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

व्यक्ति और राज्य के आपसी संबंधों पर विचार करते हुए थोरो के विचारों के केंद्र में व्यक्ति था। उसे ही समस्त व्यवस्था का आधार माना। थोरो ने अपने लेखन के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया कि न्याय किसी भी प्रकार की सत्ता से अधिक महत्वपूर्ण होता है, सत्ताशाली का हमेशा न्यायपूर्ण होना जरूरी नहीं है। व्यक्ति के विकास का तात्पर्य उसे राज्य व्यवस्था का एक पुर्जा मात्र बना देना नहीं है अपितु उसे वृहदतर प्रकृति-सार्वभौमिक प्राणी- के रूप में आगे बढ़ाना है। थोरो के अनुसार व्यक्ति के विकास का मतलब है वह ‘व्यक्ति’ बना रहे, किसी व्यवस्था का उपकरण न बनें। Civil Disobedience लेख में थोरो ने कई महत्वपूर्ण

दार्शनिक सवाल खड़े किए हैं जो आज भी प्रासंगिक हैं। इसमें मनुष्य और प्रजा के द्वंद्व, राज्य व्यवस्था और सत्य के द्वंद्व, लोकतंत्र तथा अल्पमत – बहुमत की बहस, कानून और विवेक के द्वंद्व, मतदान के असली मायने, राज्य की भूमिका की बहस, अनुषासन एवं नागरिक प्रशासन के नाम पर असत्य, अन्याय की बढ़ोतरी, आदर्श राज्य इत्यादि तमाम बातों पर विस्तार से चर्चा की है।

थोरो सभी कानूनों के विरोध में नहीं थे पर वह कानून अस्वीकार करते थे जो मनुष्य के नैतिक विवेक के साथ साम्य नहीं रखता हो। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि थोरो एक अनैतिक सरकार के विरोधी हैं और एक 'बेहतर' सरकार के समर्थक भी। अपने लेख में थोरो उनके आदर्श की सरकार की तस्वीर भी प्रस्तुत करते हैं। थोरो के अनुसार लोकतंत्र का अर्थ स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय आदि हो जाते हैं और हर राज्य के इन्हें अपने से उच्चतर मानना चाहिए। उनके अनुसार राज्य को यह स्वीकार करना होगा कि उसे अपनी समस्त शक्ति व्यक्ति से प्राप्त हुई है। अतः जबतक राज्य व्यक्ति को अपने से उच्चतर शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता तब तक एक प्रबुद्ध राज्य नहीं बन सकता।

गाँधी दक्षिण अफ्रीका के अपने सत्याग्रह के दौरान थोरो की रचनाओं के संपर्क में आए। थोरो के सविनय अवज्ञा को गाँधीजी ने अपनाया, संशोधन भी किया। यह स्वीकार करने में कोई हर्ज नहीं है कि अपने प्रतिरोध को दर्शाने के लिए जेल जाने को थोरो ने सम्मान का दर्जा दिया, साथ ही इसे दार्शनिक आधार प्रदान किया। गाँधी ने इस बिंदु को बड़ी मेहनत से अपनाया और सफलतापूर्वक उपयोग किया। गाँधी ने 'ए अपील टू अमेरिकन फ्रेंड्स' (हरिजन, 9-8-1942) में थोरो को अपना 'अध्यापक' बताया और कहा कि दक्षिणी अफ्रीका में वे जो कुछ कार्य कर रहे थे, थोरो ने उसे वैज्ञानिक व सैद्धांतिक आधार देने में सहायता की। गाँधी थोरो के बारे में लिखते हैं कि, 'सविनय अवज्ञा (सिविल डिसेओबिडिएंस) अनैतिक वैधानिक अधिनियमों का विनयपूर्वक उल्लंघन है। यह शब्द-पद 'सिविल डिसेओबिडिएंस' यानि सविनय अवज्ञा, जहाँ तक मैं जानता हूँ, थोरो ने दास-प्रथा-पेशक राज्य के कानूनों का स्वयं जो वे विरोध कर रहे थे, उसी का बोध कराने के लिए गढ़ा गया था। वे सविनय अवज्ञा पर एक श्रेष्ठ निबंध भी लिख गए हैं।' (यंग इंडिया, 23-3-1921)

2.4 आधुनिक राज्य की आलोचना

गाँधी राज्य के मूलभूत आधारों को ही प्रश्नांकित करते हैं। भारतीय ऐतिहासिक परम्परा एवं इंग्लैंड – दक्षिण अफ्रीका में आधुनिक राज्य संस्था के अपने अनुभवों के मद्देनजर वह आधुनिक राज्य संस्था को भारत के लिए अनुपयोगी बताते हैं। आधुनिक राज्य पर गाँधी के विचारों का स्रोत अंग्रेजों द्वारा थोपी गयी ब्रिटिश व्यवस्था थी। जिसके अंतर्गत परम्परागत शासन व्यवस्था के बिल्कुल अलग एक केंद्रीकृत, षोशक एवं अपव्ययी शासन व्यवस्था थोप दी गयी। गाँधी ने अपने अध्ययन और जीवन अनुभवों के आधार पर आधुनिक राज्य की आलोचना की। आधुनिक राज्य अपने मूल में ही हिंसक है। अपनी दंड शक्ति के आधार पर सभी से आज्ञापालन की आकांक्षा रखता है। भय एवं दंड के आधार पर यह अपने आदेश को क्रियान्वित कराता है फिर चाहे यह आदेश विवेक के अनुकूल हो या ना हो। आधुनिक राज्य हिंसा पर आधारित और अमानवीय है। यह मनुष्य होने से पहले नागरिक होने की शर्त रखता है। आधुनिक राज्य व्यक्ति को कमजोर बनाता है। इसकी सम्पूर्ण संरचना में व्यक्ति नगण्य हो जाता है। व्यक्ति के लिए साधन रूप राज्य स्वयं में साध्य बन कर व्यक्ति को दोयम स्थिति में डाल देता है। उनका प्रसिद्ध उद्धरण है – 'राज्य संकेंद्रित और संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के पास आत्मा होती है, लेकिन चूँकि राज्य आत्मा से विहीन तंत्र होता है इसलिए उसे हिंसा से कभी विरत नहीं किया जा सकता – उसका अस्तित्व ही हिंसा में निहित है। मैं राज्य की शक्ति में वृद्धि से बड़ा भयभीत हूँ। यद्यपि वह जाहिर तौर पर शोषण को न्यूनतम करके लोगों की भलाई करने का प्रयास करता है पर वह वैयक्तिकता को नष्ट करके मानव जाति की सबसे बड़ी हानि करता है, क्योंकि वैयक्तिकता ही तो सारी प्रगति की कुँजी है।'।

आधुनिक राज्य में केंद्रीकरण की प्रवृत्ति काफी प्रबल है। यह सत्ता के केंद्रीकरण पर बल देता है। इस प्रवृत्ति का परिणाम अन्य संस्थाओं और समुदायों के हाषिएकरण के रूप में सामने आता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि केंद्रीकरण स्वयं में एक हिंसक प्रवृत्ति है।

राज्य अपने संगठनों के माध्यम से लोगों की स्वप्रेरणा पर आघात करता है। व्यक्ति व समाज हर चीज/बदलाव के लिए राज्य पर आश्रित कर दिए जाते हैं। वस्तुतः आधुनिक राज्य संस्था में व्यक्ति एवं अन्य समुदायों के लिए अधीनता की अनुभूति इसके साथ जुड़ी हुई है। राज्य संस्था अपने नागरिकों के साथ हमेशा से दोगम दर्जे का व्यवहार करती है। राज्य एवं जनता के बीच शासक-शासित का भाव हमेशा बना रहता है। व्यक्ति अगर नैतिक हो तो यह आवश्यक नहीं है कि राज्य भी नैतिक ही हो। कई बार राज्य अपने अनैतिक निर्णयों को व्यक्तियों द्वारा पालन किए जाने पर जोर देता है।

आधुनिक राज्य मूलतः एक यूरोपीय उत्पत्ति है जो बहुसांस्कृतिक समाज के भीतर एक आरोपित एकरूपता पर ज्यादा जोर देता है। एक तरह से इसे समांगीकरण करना भी कहा जा सकता है। राज्य समाज की विविधता और बहुलता को कभी-कभी भय रूप में भी देखता है। वस्तुतः गाँधी की स्मृति में यूरोपीय संदर्भ में राज्य की उत्पत्ति और उनके विभिन्न सिद्धांत होंगे जहाँ लगभग एक समुदाय, भाषा, नस्ल इत्यादि के आधार पर राज्य के निर्माण किए गए। यूरोपीय संदर्भों में राज्य की उत्पत्ति एवं उसके आधार गाँधी को भारतीय ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उचित प्रतीत नहीं होते हैं जहाँ सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक विविधता मौजूद है।

आधुनिक राज्य की सबसे बड़ी कमी अपने प्रति असहमति के स्वर का नकारना है। राज्य कभी भी अपने विरुद्ध असहमति के स्वर को स्वीकार नहीं करना चाहता है। उसके लिए व्यक्ति की नैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। असहमति नैतिक है या नहीं, इसका राज्य के लिए कोई अर्थ नहीं है। राज्य अपने नागरिकों को आदेश मानने वाली जनता बनाए रखने में विश्वास करता है। अगर कोई नागरिक उसके आदेशों का पालन नहीं करता है तो राज्य अपने अन्य संस्थाओं (पुलिस, न्यायालय आदि) की सहायता उसे जेल में डालने से भी नहीं हिचकता है।

राज्य अपनी पूरी रचना में एक उपनिवेशी सोच से निर्मित है। ब्रिटिश शासन में यह भारतीय लोगों के शोषण का यंत्र बना, उसमें भी विशेषतः ग्रामीण जनता का। यूरोपीय समाज में अपनी उत्पत्ति से ही एक शहरी दृष्टिकोण के कारण यह विस्तृत वास्तविक भारतीय जनता-ग्रामीणजनता – के प्रति दोगम दर्जे का भाव रखता है।

गाँधी के लिए राज्य एक पक्षपाती संस्था है जो समाज के सभी हितों पर अपनी नजर रखती है और यह भ्रम बनाए रखती है कि समाज की समस्याएं इतनी गहरी व जटिल है कि व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से इसका नियंत्रण संभव नहीं है। राज्य ही ऐसी संस्था है जो इन समस्याओं को निराकरण कर सकती है। राज्य अपने नागरिकों से एक नई नैतिकता की कल्पना करता है अर्थात् उसका आदेश ही नैतिकता हो जाती है। राज्य अपने अस्तित्व के लिए एक नवीन नैतिकता का निर्माण करता है जिसमें नागरिकों से यह अपील की जाती है कि वे इस राज्य के लिए अपने प्राणों की कुर्बानी भी दें।

गाँधी के अनुसार अपनी प्रकृति में राज्य समाज में विद्यमान ताकतवर तबके के अनुसार संचालित होता है। वस्तुतः राज्य में वहीं अपनी मर्जी मनवाने में सफल हो जाता है जो समाज के भीतर ताकतवर व्यक्तियों/समूहों में से ज्यादा ताकतवर होता है। ऐसे करने से न तो लोकतंत्र का कोई अर्थ रह जाता है और न ही लोकतंत्र में विश्वास करने वाले आम व्यक्ति का। राज्य इस अंतिम व्यक्ति को हमेशा हाशिए पर रखने में यकीन करता है।

इन विभिन्न आधारों पर गाँधी ने आधुनिक राज्य संस्था को विश्लेषित करने का प्रयास किया और उसके मूल आधारों पर अघात किया।

2.6 अहिंसक राज्य

पश्चिमी विचार दर्शन में उदारवादी, मार्क्सवादी व अन्य दर्शनों ने राज्य के संदर्भ में लगभग एक सी राय रखी है। उसे वह एक केंद्रित व सर्वोच्च सत्ता के रूप में हमेशा बनाए रखना चाहते हैं। गाँधी उनसे इन मायनों में अलग है ऐसा इसलिए है कि वह राज्य को जनता का अनुगामी बनाते हैं, उसे विकेंद्रित करते हैं। एक शासनमुक्त समाज की कल्पना करते हैं और लोकशक्ति को सम्प्रभु बनाते हैं। स्वराज आधारित राजनीति छोटे, सुगठित, स्वशासित ग्राम गणतंत्रों का समुदाय होगा। यह सत्ता के निर्धारक होंगे। राज्य का काम इन सभी पर नियंत्रण करने के स्थान पर इन सभी ग्रामों के बीच संयोजन करना होगा। राज्य विविधता को सम्मान देगा,

बहुलतापूर्ण संस्कृत, भाषा एवं संबंधित संस्थाओं को प्रश्रय देगा। उनका एक प्रसिद्ध उद्धरण है—‘मेरे लिए राजनीतिक सत्ता साध्य नहीं है बल्कि हर प्रकार से जनता की स्थिति सुधारने के अनेक साधनों में से एक साधन है, राज्य सत्ता का मतलब है, देश के प्रतिनिधियों द्वारा लोक—जीवन का नियमन प्राप्त करने की सत्ता प्राप्त करना। अगर लोक जीवन इतना अच्छा हो जाए कि अपने—आप ही उसका नियमन होने लगे, तो प्रतिनिधियों को सत्ता प्राप्त करने की आवश्यकता ही न रहे। उस समय एक प्रकार की प्रबुद्ध अराजकता होगी। उस अराजकता में हर एक व्यक्ति अपना षासक होगा। वह इस प्रकार अपने को अंकुष में रखेगा, जिससे उसके पड़ोसी को किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचेगी। अतः आदर्श राज्य तो वह है जिसमें राजनीतिक सत्ता होगी ही नहीं क्योंकि कोई राज्य नहीं होगा। परन्तु आदर्श कभी पूर्णतया मूर्त नहीं होता। इसीलिए थोरो ने कहा था कि सर्वोत्तम सरकार वह है जो कम—से—कम शासन करे।’ (यंग इंडिया, 2/7/1931)

गाँधी एक अहिंसक राज्य की कल्पना करते हैं। राजनैतिक दृष्टि से गाँधी राज्य को एक अहिंसक राज्य में तब्दील कर प्रस्तुत करते हैं। गाँधी के यहाँ राज्य संस्था का स्वीकार है परन्तु उसकी प्रकृति बिल्कुल अलग है। इस अहिंसक राज्य में व्यक्ति सर्वोच्च होता है और राज्य को दिशा प्रदान करने वाली इकाई होता है। जनता आदेश का पालन करने वाली निष्क्रिय जनता नहीं अपितु उस सत्ता को दिशा प्रदान करने वाली सक्रिय अहिंसात्मक शक्ति हो जाती है। एक अहिंसक राज्य अपने में वैयक्तिक स्वतंत्रता, सहयोगात्मक शक्ति, बहुलता संदर्भ, प्रत्यक्ष एवं भागीदारीमूलक लोकतंत्र, विकेंद्रीकरण, ग्राम गणतंत्र संरचना इत्यादि तत्वों को समाहित करता है। इस संदर्भ में गाँधी का प्रसिद्ध उद्धरण है—

“असंख्य गाँवों से बने इस ढाँचे में एक के बाद एक विस्तारशील किंतु कभी उर्ध्वगामी न होने वाले वलय होंगे। जीवन एक पिरामिड की भाँति नहीं होगा जिसमें आधार को शीर्ष का भार वहन करना पड़ता है बल्कि वह एक समुद्री वलय की तरह होगा जिसके केंद्र में व्यक्ति होगा जो सदैव अपने गाँव के लिए मर—मिटने के वास्ते तैयार होगा, गाँव गाँव—समूहों के वास्ते नष्ट हो जानेके लिए तैयार रहेगा, और यह प्रक्रिया वहाँ तक चलेगी जहाँ तक सम्पूर्ण विश्व एक जीवन का रूप धारण कर लेगा; सभी व्यक्ति इस एक जीवन का अंग होंगे; वे कभी आक्रामक रूख नहीं अपनाएंगे बल्कि सदा विनम्रता का व्यवहार करेंगे और उसी समुद्री वलय के ऐश्वर्य में भागीदार होंगे जिसकी वे अंगभूत इकाइयाँ हैं।” (हरिजन, 28/07/1946)

यहाँ यह देखना महत्वपूर्ण है कि गाँधी अपने अहिंसक राज्य की पूरी प्रक्रिया में राज्य के सम्प्रभुता के लक्षण को उलट देते हैं। जो राज्य वस्तुतः केंद्रीकरण एवं पिरामिड की संरचना से लैस था, वही राज्य संरचना अहिंसक राज्य में विकेंद्रीकरण एवं महासागरीय वलय में तब्दील हो जाती है। जैसे महासागरीय वलय में हर वलय अपने पूर्व के वलय से शक्ति प्राप्त करता है उसी प्रकार अहिंसक राज्य अपनी मूल इकाई व्यक्ति से अपनी शक्ति प्राप्त करता है। जहाँ पिरामिड संरचना में सम्पूर्ण संरचना में व्यक्ति अंत में हाशिए पर रहता है, वहीं महासागरीय वलय की संरचना में वह व्यक्ति/ग्राम/ग्रामसमुदाय से अपनी शक्ति प्राप्त करता है।

गाँधी सतत प्रयास करते हैं कि भारतीय जनता केवल स्वतंत्रता के लिए ही प्रयास न करें अपितु समूची व्यवस्था में बदलाव के लक्ष्य को हासिल करने के लिए तैयार हो। इसलिए गाँधी स्वराज को अपना लक्ष्य बनाते हैं जो अपने आपमें एक बहुसंदर्भी शब्द है। इसमें एक साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक आयाम समाहित हैं। यह कहा जा सकता है कि राज्य के संदर्भ में महात्मा गाँधी के विचारों में राज्य, लोकतंत्र, सरकार तथा अन्य संस्थाओं का विश्लेषण स्वयंमेव समाहित हो जाता है।

स्वराज का अर्थ स्पष्ट करते हुए गाँधी कहते हैं कि, ‘स्वराज का अर्थ है सरकार के नियंत्रण से मुक्त होने का सतत प्रयास, यह सरकार विदेशी हो या राष्ट्रीय।’ (यंग इंडिया, 6/8/1925) इसके अतिरिक्त उन्होंने लगातार यह प्रयास किया कि स्वराज में वैयक्तिक स्वतंत्रता काफी महत्वपूर्ण है। वह स्पष्ट करते हैं कि, ‘जनता के स्वराज का अर्थ है व्यक्तियों के स्वराज (स्वशासन) का पूर्ण योग।’ (हरिजन, 25/3/1939)

हम गाँधी यह देख सकते हैं कि किस तरह गाँधी ने एक साथ सम्प्रभुता विमर्श एवं लोकतंत्र विमर्श को अहिंसक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। राज्य संस्था की सम्प्रभुता को नौकरशाही और अमूर्त सत्ता से निकालकर स्वानुशासित, सचेत ग्राम गणतंत्र में निहित कर दिया है। इस अर्थ में गाँधी को भी उन राजनीतिक विचारकों की श्रेणी में रखा जा सकता है जो राज्य के संबंध में बहुलतावादी सम्प्रभुता संबंधी विचार रखते हैं। जिनके अनुसार राज्य की सम्प्रभुता भी समाज में विद्यमान अन्य संस्थाओं जितनी ही है। मगर गाँधी इस बिंदु पर राज्य की

सम्प्रभुता को संयोजन का दायित्व देते हैं और अहिंसा को कार्य करने की कसौटी बनाते हैं। गाँधी के अनुसार अहिंसक राज्य को धर्मनिरपेक्ष राज्य होना चाहिए। इसे अपने समाज में विद्यमान विविध धार्मिक बहुलता का सम्मान करना चाहिए। राज्य का कोई धर्म नहीं होगा और राज्य न ही किसी धार्मिक दृष्टिकोण से संचालित होगा। धर्म व्यक्ति का एक निजी मसला है, वह जिस धर्म को मानना चाहे, उसे उस धर्म को मानने की छूट होनी चाहिए। राज्य द्वारा न ही धार्मिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। राज्य को पहले से विद्यमान सांस्कृतिक एवं धार्मिक बहुलता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह राज्य के प्रति गहरे असंतोष को जन्म देता है। अगर राज्य यह मानता है कि किसी प्रकार की रीति, रिवाज, कायदे मनुष्य की गरिमा के अनुकूल नहीं है तो राज्य को प्रयास करना चाहिए कि वह उस समुदाय के भीतर सुधार आंदोलन को प्रोत्साहन दे जिससे ऐसा वातावरण निर्मित हो सके जिसमें समुदाय के लोग उस रीति, रिवाज, कायदे की अप्रासंगिकता को समझ सकें और अपने सामाजिक व्यवहार में इसे त्याग दे। ऐसे वातावरण में राज्य द्वारा बनाया गया कोई भी कानून ज्यादा कारगर एवं प्रभावी होगा।

अहिंसक राज्य की सफलता में ग्राम गणतंत्र एवं स्थानीय समुदायों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। यह समुदाय यह प्रयास करते हैं कि स्थानीय स्तर पर विभिन्न समस्याओं के निराकरण के प्रयास सद्भाव एवं आपसी तालमेल से हो। लोगों के बीच अधिक से अधिक परस्पर संबंध हो ताकि समाज की आंगिक एकता की पहचान हो सके तथा विभिन्न समाजों की अन्तरनिर्भरता को समझा जा सके। इनके बीच उत्पन्न होने वाले संघर्षों, समस्याओं का निपटारा भी इन समुदायों के सदस्यों के बीच आपसी आधार पर किया जाना चाहिए। इसकी कसौटी भी अहिंसा और सत्य की खोज होनी चाहिए। वस्तुतः यह सामान्य सी दीखने वाली बात आधुनिक राज्य के न्याय संस्थान के नकारने की बात है। आधुनिक राज्य संस्थान के साथ जिस खर्चीली और लंबी न्याय प्रक्रिया ने अपना स्थान बनाया है उसने लोगों के हितों को पोषित करने के स्थान पर उनका शोषण की किया है। इसलिए गाँधी लगातार इस न्याय व्यवस्था की पुनर्संरचना की बात करते हैं। विवाद के दोनों पक्षों को निर्णय प्रक्रिया में सहभागी बनाते हैं और आपसी बातचीत, सुलह, मध्यस्थता के जरिए विवाद निवारण की बात करते हैं। एक अहिंसक राज्य में न्याय व्यवस्था के सदस्य एक वकील की भूमिका सत्य के प्रति समर्पित होगी। इसका जिक्र गाँधी हिंद स्वराज में स्पष्ट तौर पर कर चुके थे।

अहिंसक राज्य में भय एवं दण्ड के आधार पर कार्य कराने वाली संस्थाओं पुलिस और जेल को भी गाँधी ने नवीन दृष्टिकोण से व्याख्यायित किया है। वह कहते हैं कि अहिंसक राज्य में पुलिस भी अहिंसक होगी। वह कहते हैं कि, 'मेरी कल्पना की पुलिस आज के पुलिस बल से बिल्कुल भिन्न होगी। इसमें अहिंसा में विश्वास करने वाले लोग भरती किए जाएंगे। वे जनता के स्वामी नहीं बल्कि सेवक होंगे। लोग सहज रूप से उनकी सब प्रकार की सहायता करेंगे और परस्पर सहयोग से वे बढ़ते उपद्रवों पर आसानी से काबू पा सकेंगे। कृसच पूछा जाए तो पुलिसकर्मी सुधारक के रूप में काम करेंगे। पुलिस का काम मुख्यतः लुटेरों और डाकुओं तक सीमित होगा।' (हरिजन, 1/9/1940)

एक अहिंसक राज्य में गाँधी राज्य और नागरिकों के बीच संबंधों पर बात करते हुए नागरिकों के लिए अधिकार एवं कर्तव्य की साझी बात प्रस्तुत करते हैं। वह इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, 'अहिंसा पर आधारित स्वराज में, लोगों को अपने अधिकारों की जानकारी रखने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि अपने दायित्वों को जानना आवश्यक है। प्रत्येक कर्तव्य से ही तदनुरूप अधिकार जन्म लेता है, और वे अधिकार सच्चे हैं जो मनुष्य के सम्यक कर्तव्यपालन से उत्पन्न होते हैं। इसलिए सच्ची नागरिकता के अधिकार उन्हें ही प्राप्त होने चाहिए जो अपने राज्य की सेवा करें। ऐसे व्यक्ति ही अपने अधिकारों का न्यायोचित उपयोग कर सकते हैं।' (हरिजन, 23/3/1939)

एक अहिंसक राज्य में नागरिकों के जागरूक होने की बात अत्यन्त मूलभूत है। जिसे गाँधी ने निम्नानुसार बताया है, 'सच्चा स्वराज मुट्ठी भर लोगों द्वारा सत्ता प्राप्ति से नहीं आएगा, बल्कि सत्ता का दुरुपयोग किए जाने की सूरत में, उसका प्रतिरोध करने की जनता की सामर्थ्य विकसित होने से आएगा। दूसरे शब्दों में, स्वराज जनता को सत्ता का नियमन तथा नियंत्रण करने की अपनी क्षमता विकसित करने की शिक्षा देने से आएगा।' (यंग इंडिया, 29/1/1925) यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब महात्मा गाँधी जनता को सत्ता का नियमन

एवं नियंत्रण करने की बात कहते हैं तब उनका संकेत सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह से है। इन नवीन अहिंसक साधनों के जरिए ही जनता सत्ता का नियमन एवं नियंत्रण कर सकती है।

2.6 सारांश

महात्मा गाँधी ने एक अहिंसक दृष्टिकोण से राज्य तथा उसकी सहयोगी संस्थाओं को अपने विश्लेषण का विषय बनाया। गाँधी द्वारा अपने जीवन अनुभवों एवं वृहद अध्ययन के आधार पर आधुनिक राज्य संस्था की आलोचना की। अपने मूल रूप में हिंसक यह संस्था भारतीय संदर्भों के अनुकूल नहीं है। राज्य संस्था की आलोचना करते समय गाँधी उसकी तत्वमीमांसीय आलोचना प्रस्तुत करते हैं। एक राजनीतिक विचारक की भाँति उनके राज्य संबंधी विचारों में एकसूत्रता आसानी से खोजी जा सकती है। सम्प्रभुता संबंधी उनकी अवधारणाएं भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संदर्भों में आज भी महत्वपूर्ण हैं। भारतीय ग्रामीण परिदृश्य के मद्देनजर आज हमें स्थानीय पहल एवं भागीदारीमूलक लोकतंत्र की नितांत आवश्यकता है। साथ ही कठोर एवं अमानवीय नौकरशाही की हिंसा से मुक्त होकर स्थानीय समुदायों को सशक्त करना, उनके बीच अन्तर्सम्बन्ध बढ़ाना आज हमारा अभिप्रेत है। एक समतामूलक समानता की स्थापना के लिए गाँधी ने विकेंद्रीकरण का जो तर्क प्रस्तुत किया है उससे हम मुक्त नहीं हो सकते हैं। अगर हम एक समतामूलक, अहिंसक समाज रचना करना चाहते हैं तो वर्तमान में उपस्थित राज्य संस्था में वह बदलाव अवश्य लाने होंगे जो महात्मा गाँधी ने हमें बतलाए हैं। लोकतंत्र की असली शक्ति उसके नागरिकों में निहित अहिंसक प्रतिरोध करने की क्षमता में निहित है। लोकतंत्र तभी तक कायम रह पाता है जब तक उसके नागरिक सजग एवं सचेत रहते हैं और राज्य संस्था को इस बात के लिए बाध्य करते हैं कि वह सही दिशा में शासन का कार्य सम्पन्न करे। महात्मा गाँधी के राज्य संबंधी विचार हमें यह रास्ता दिखलाते हैं कि राज्य की केंद्रीकृत सत्ता, शोषणकारी प्रवृत्ति, अलोकतांत्रिक संरचना से कैसे मुक्ति पायी जा सकती है।

2.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'राज्य एक केंद्रीभूत हिंसक सत्ता है' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
2. गाँधी ने राज्य की किन आधारों पर आलोचना की, स्पष्ट कीजिए।
3. राज्य पर थोरो के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
4. एक अहिंसक राज्य के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डालिए।

2.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रभु,आर.के. एवं राव,यू.आर., महात्मा गाँधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट,नई दिल्ली, 2003 (तीसरी आवृत्ति)
2. रामरतन एवं शोभिका, डॉ. शारदा, महात्मा गाँधी की राजनैतिक अवधारणाएँ, कलिंगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1992
3. पारेख, भीखू, गाँधी : ए शोर्ट इंट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 2001
4. पारेख,भीखू, कॉलोनियलिज्म,ट्रेडिशन एंड रिफॉर्म : एन एनालिसिस ऑफ गाँधीज पालिटिकल डिस्कॉर्स, सेज, 1989
5. प्रसाद, उपेन्द्र, गाँधीवादी समाजवाद, नमन प्रकाशन, दिल्ली, 2007
6. आचार्य, नंदकिशोर, सभ्यता का विकल्प, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1995

स्वतंत्रता पर गाँधीजी के विचार

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1. प्रस्तावना
- 3.2 स्वतन्त्रता की अवधारणा
- 3.3 स्वतन्त्रता सम्बन्धी गाँधी के विचार
- 3.4 अधिकार की धारणा
- 3.5 अधिकार एवं कर्तव्य पर गाँधी जी के विचार
- 3.6 सारांश
- 3.7 अभ्यास प्रश्न
- 3.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.0 उद्देश्य

स्वतंत्रता, अधिकार एवं कर्तव्य सदैव से ही राजनीतिक चिन्तन के आधारभूत तत्व रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में गांधी जी के विचारों के विशेष सन्दर्भ में उपरोक्त सम्प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। इस अध्ययन के उपरान्त आप –

- स्वतंत्रता के वास्तविक स्वरूप और विभिन्न समयावधियों में उसके चिन्तन धारा के विकास से परिचित हो सकेंगे।
- गाँधी जी के स्वराज सम्बन्धी विचारों से अवगत हो सकेंगे।
- अधिकार किस प्रकार स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक हैं इससे परिचित हो सकेंगे, तथा
- अधिकार किस प्रकार कर्तव्य से सम्बद्ध हैं यह जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता सम्बन्धी गाँधी जी के विचारों पर प्रकाश डालने से पूर्व हम यह समझने का प्रयास करते हैं कि स्वतंत्रता क्या है? इसकी आवश्यकता क्यों है? स्वतंत्रता की अवधारणा को परिभाषित करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। यह एक ऐसा शब्द है जिसके अनेक भावनात्मक अभिकल्पित अर्थ हैं। इस शब्द को विविध समयावधियों में पृथक-पृथक रूप से परिभाषित किया गया। परंतु इन सब विविधताओं में उसका एक समान भाव भी प्रकट होता है।

आमतौर पर स्वतंत्रता (Liberty) और आजादी (Freedom) को एक-दूसरे के लिए इस्तेमाल किया जाता है। एक प्रमुख मूल्य के और अन्य मूल्यों के एक साधन के रूप में स्वतंत्रता व्यापक अर्थों में ऐसा कुछ है जिसकी आवश्यकता सभी युगों और सभ्यताओं में बड़ी तीव्रता के साथ महसूस की गयी है। अतः अनेक विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि स्वतंत्रता मनुष्य की स्वाभाविक मांग है। स्वतंत्रता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिप्राय है कि इससे प्रेरित होकर विवेकशील व्यक्ति बिना किसी बाह्य दबाव के अपनी इच्छानुसार कार्य कर पाता है। इस अर्थ में स्वतंत्रता हमारे व्यक्तित्व के स्वतंत्र व मुक्त विकास की एक अनिवार्य अवस्था है। इसके अभाव में हम उसे प्राप्त नहीं कर सकते जिसे हम विवेकयुक्त और श्रेष्ठ मानते हैं। इस तरह स्वतंत्रता पाने का

अर्थ होता है अपनी सुदृढ़ इच्छा के अनुसार कार्य करना, अपने सपनों को साकार करना और अपनी क्षमता को कार्य रूप देना।

3.2 स्वतंत्रता की धारणा

स्वतंत्रता की उत्पत्ति लैटिन भाषा 'लाईबर' (Liber) से हुई है जिसका अर्थ है – 'स्वतंत्र होना'। अंग्रेजी में इसे (Liberty) कहा गया है। अर्थात् लिबर्टी से आशय स्वतंत्रता से है। यूनान और रोम के लोग स्वतंत्र मनुष्य को दासों और गैर-नागरिकों से भिन्न मानते थे। स्वतंत्र मनुष्य से श्रेष्ठ कार्य करने की उम्मीद की जाती थी और इसके लिए उनके पास पर्याप्त समय होता था।

मध्यकालीन यूरोप में व्यक्ति की स्वतंत्रता के बारे में विवाद रहा है, लेकिन ये विवाद भी कुछ भिन्न प्रकार के थे। सामंतशाही शासन कदाचित् ही व्यक्तिगत अधिकारों या आजादी की अनुमति देता है। कभी-कभी स्वतंत्रता और इसकी आवश्यकता पर विचार होता भी था तो प्रायः उसमें धार्मिक स्वतंत्रता के बारे में विचार-विमर्श होता था। राजनीतिक व सामाजिक स्वतंत्रता के बारे में चर्चा सामान्यतः इन चर्चाओं के विषय नहीं हुआ करते थे। राजनीतिक अधिकारों के अर्थ में आज हम जिस स्वतंत्रता की बात करते हैं, उस पर सबसे पहले गंभीर रूप से चर्चा पुनर्जागरण के बाद खास तौर से 17वीं सदी के बाद ही शुरू हुई।

पश्चिमी परम्परा में समाज और राज्य के संदर्भ में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अवधारणा को पश्चिमी यूरोप के आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों में स्थान दिया गया परन्तु आधुनिक परम्परा में इस विषय पर विभिन्न विचारधाराओं में मतभेद दिखाई पड़ता है। उदारवादी चिन्तकों ने आम तौर पर स्वतंत्रता को किसी भी प्रकार के प्रतिबंधों का अभाव बताया। वहीं समाजवादी/मॉर्क्सवादी परम्परा में स्वतंत्रता को पूँजीवादी समाज में असमान सम्बन्धों के ढाँचे से जुड़ा माना गया। अतः मॉर्क्सवादियों के अनुसार स्वतंत्रता को मूर्त रूप में नहीं अपितु वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों और उत्पादन की भौतिक स्थितियों के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है।

जब हम स्वतंत्रता के संदर्भ में भारतीय परम्परा पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में स्वतंत्रता की अवधारणा की और पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया अर्थात् व्यक्तिगत स्वतंत्रता को धर्म की अवधारणा से सीमित कर दिया गया था। यह मान्यता थी कि पवित्र धर्मग्रंथों, रीति-रिवाजों और परम्पराओं से मिलकर बना 'धर्म' एक न्यायोचित और (सद्भाव पूर्ण) सामाजिक व्यवस्था कायम कर सकता है। ऐसे में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए ज्यादा कुछ बचता नहीं था। इसमें फेरबदल की थोड़ी बहुत अनुमति तब दी गई जब खुद धर्म के लिए किसी खतरे की आशंका पैदा हुई। जैसे प्राच्य राजनीतिक चिन्तक कौटिल्य ने तर्क दिया कि "ऐसे लोकाचारों और रीति रिवाजों को अनुमति दी जानी चाहिए जो धर्म की मान्यताओं के विपरीत न हों।"

जब हम आधुनिक भारतीय परम्परा में स्वतंत्रता के संदर्भ का अनुशीलन करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में स्वतंत्रता की जिस मूल अवधारणा को स्वीकृत किया गया तथा स्वतंत्र भारत के संविधान में जिस स्वतंत्रता के मूल्य को स्थान दिया गया, वह मूलतः पश्चिमी परम्परा की ही देन थी। कई भारतीय विचारकों ने यह तर्क दिया कि भारतीय संदर्भ में केवल व्यक्तिगत और राजनीतिक स्वतंत्रता ही पर्याप्त नहीं है वरन् इसमें स्वतंत्रता के सामाजिक आयाम को शामिल किया जाना अपरिहार्य है। परन्तु इस बारे में सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण हमें महात्मा गाँधी के स्वतंत्रता सम्बन्धी लेखन और व्यवहार में दिखाई देता है।

गाँधी जी ने अपने स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों को एक नये प्रकार की स्वतंत्रता जिसे उन्होंने 'स्वराज्य' नाम दिया, के अन्तर्गत प्रकट किया। इसमें मनुष्य की गतिविधियों पर बाहरी पाबंदियों के न होने और स्वयं पर संयम रखने का विचार समाहित है। बाह्य पाबंदियाँ न केवल राजनीतिक और आर्थिक थीं, वरन् सांस्कृतिक व नैतिक भी थीं। आन्तरिक पाबंदियाँ वे थीं जो व्यक्ति की अपनी इच्छाओं, आवेशों, ईर्ष्याओं और अन्य प्रयोजनों पर लगाई जाती थीं। गाँधी जी के अनुसार इस तरह के नियंत्रण न होने से स्वयमेव एक वास्तविक मानवीय अस्तित्व का विकास होगा। इसलिए गाँधी जी को लगा कि कोई भी बाह्य नियंत्रण यहाँ तक कि किसी नैतिक प्रतिनिधि या परोपकारी राज्य द्वारा नियंत्रण भी आगे चलकर स्वतंत्रता के लिए खतरनाक होगा।

गाँधी जी के स्वतंत्रता की अवधारणा अत्यन्त व्यापक थी। वे न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की उत्कृष्ट कामना करते थे अपितु साथ ही नैतिक व आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिए भी उनका ऐसा ही आग्रह था। राजनीतिक स्वतंत्रता से उनका तात्पर्य 'स्वराज' से था। उनके लिए स्वराज सत्य का ही अंग है और सत्य ईश्वर है अतः स्वतंत्रता एक पवित्र वस्तु बन जाती है।

गाँधी ने बाल गंगाधर तिलक द्वारा दिये गये इस मंत्र को स्वीकार किया कि 'स्वराज हमारा (भारतवासियों) का जन्म सिद्ध अधिकार है।' 'राजभक्ति में हस्तक्षेप' नामक एक लेख में गाँधी ने लिखा कि ब्रिटिश सरकार के प्रति असंतोष भड़काना भारतवासियों का धर्म है। उनका स्पष्ट कहना था कि भारतवासी स्वतंत्रता के हकदार इसलिए हैं कि उसके लिए उन्होंने अगणित कष्ट भोगे हैं।

राष्ट्रीय स्वाधीनता के अर्थ में भी गाँधी जी ने स्वतंत्रता का बलपूर्वक समर्थन किया। अपनी बातों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि "मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्र बाहर से थोपी गयी सरकार के द्वारा अपने को उचित ढंग से शासित कर सकता है।...साथ ही उन्होंने नागरिक स्वतंत्रता के बारे में उन यंग इण्डिया (अप्रैल 24, 1930) में लिखा कि "नागरिक के शरीर को पवित्र माना जाना चाहिए। उसे केवल गिरफ्तार करने अथवा हिंसा को रोकने के लिए कहा जा सकता है। वाणी एवं लेखनी की स्वतंत्रता को गाँधी स्वराज की नींव मानते थे। उनका कहना था कि युद्ध के दौरान भी व्यक्ति को बोलने की स्वतंत्रता होनी ही चाहिए।

गाँधी की स्वतंत्रता की अवधारणा स्वच्छंदता या उच्छृंखलता नहीं थी। उनका कहना था कि समाज के लिए आत्म-त्याग करना ही स्वतंत्रता का फल है। नैतिक स्वतंत्रता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी ने बताया कि आध्यात्मिक सत्ता के साथ एकात्म्य स्थापित करना ही नैतिक स्वतंत्रता है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हेतु इंद्रियों व वासनाओं (कामनाओं) की भौतिक मांगों पर विजय प्राप्त करना ही स्वतंत्रता है। इसलिए अपने आश्रम उन्होंने एकादश व्रतों का कठोरता से पालन करने पर बल दिया।

स्वतंत्रता के सम्बन्ध में गाँधी के विचारों के अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि गाँधी भी स्वतंत्रता को मनुष्य का अविभाज्य तत्व मानते हैं। रूसों की भांति ही गाँधी जी का विश्वास है कि स्वतंत्रता का त्याग करने का अर्थ 'मनुष्यत्व का त्याग करना है। स्वतंत्रता का त्याग करने का तात्पर्य अपनी अन्तरात्मा का परित्याग करना है। स्वतंत्रता गाँधी के विचारों में केन्द्रीभूत तत्व है। गाँधी अनेक पाश्चात्य आदर्शवादी दार्शनिकों की भांति ही यह मानते थे कि व्यक्ति एक विवेकशील (चेतनशील) प्राणी है और उसकी चेतना को विकसित करने हेतु स्वतंत्रता एक अपरिहार्य आवश्यकता है। अतः उन्होंने स्वतंत्रता को व्यक्तित्व का अविभाज्य तत्व स्वीकार किया।

गाँधी के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों को विभिन्न रूपों में समझा जा सकता है। इनमें प्रमुख हैं – राजनीतिक, वैयक्तिक, आर्थिक, आध्यात्मिक अथवा नैतिक स्वतंत्रता। गाँधी ने राजनीतिक स्वतंत्रता को ही स्वराज नामक सम्प्रत्यय के अन्तर्गत विकसित किया है। स्वराज व्यक्ति तथा देश दोनों की ही स्वतंत्रता की अवधारणा है। गाँधी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अनुलंघनीय मानते हैं। वे निजी जीवन तथा विचारों की अभिव्यक्ति (भाषण लेखन आदि) की स्वतंत्रता को व्यक्ति का मूलभूत अधिकार तथा लोकतंत्र की आधारशिला बताते हैं। 22 सितम्बर, 1940 को हरिजन में गाँधी ने लिखा कि – 'भाषण की स्वतंत्रता लोकतंत्रीय जीवन की सांस है।' गाँधी का स्पष्ट मत है कि 'व्यक्ति की आध्यात्मिक अथवा नैतिक स्वतंत्रता व्यक्ति के भीतर से जन्म लेती है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता ही व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को नियंत्रित एवं विकसित करने का मार्गदर्शन करती है।' गाँधीजी का यह दृढ़ मत था कि आर्थिक स्वतंत्रता के बगैर राजनीतिक स्वतंत्रता की सिद्धि नहीं हो सकती। राजनीति व आर्थिक स्वतंत्रता एक –दूसरे के पूरक हैं। आर्थिक स्वतंत्रता के बगैर व्यक्ति उन संसाधनों से वंचित रहता है जो उसकी क्षमताओं को पूर्णरूप से विकसित करने हेतु आवश्यक है। 30 जून, 1946 गाँधी जी ने हरिजन में विचार व्यक्त किया कि— 'आर्थिक स्वतंत्रता अहिंसात्मक स्वतंत्रता की एकमात्र कुंजी है।' गाँधी का मानना है कि यदि लोगों को आर्थिक अधिकार प्राप्त नहीं होंगे तो व्यक्ति की स्वतंत्रता एक खोखली दार्शनिक अवधारणा मात्र रह जायेगी। उन्होंने इस बात की जोरदार वकालत की कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता

की पूर्ति हेतु आवश्यकता संसाधन उपलब्ध होने चाहिए। गाँधी का सर्वोदय दर्शन व्यक्ति स्वतंत्रता पर ही आधारित है। जबकि इसके विपरीत 'राज्य'की परिकल्पना दण्ड के सिद्धान्त पर आधारित है। राज्य की सत्ता व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण करती है। इसी सन्दर्भ में गाँधी को अराजकतावादी चिन्तक माना जाता है। एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने कहा था कि –'राज्य की शक्ति को मैं सबसे अधिक भय की दृष्टि देखता हूँ यद्यपि वह शोषण को कम करके भलाई करते हुए दिखलाई पड़ती है। क्योंकि व्यक्तित्व का विनाश करके जो समस्त प्रगतियों का मूल है मानव-जाति को सबसे ज्यादा नुकसान पहुँचाती है। राज्य हिंसा का संगठित रूप है। व्यक्ति की एक आत्मा होती है तथा चूँकि राज्य एक आत्माविहीन यंत्र है इसे हिंसा से कभी अलग नहीं किया जा सकता जिसके कारण इसका जन्म हुआ है।' गाँधी ने "स्वराज" की जो अवधारणा प्रस्तुत की थी वह किसी राज्य की संरचना न होकर एक ऐसे समाज की संरचना का उद्घोष है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधारित है। पश्चिमी अराजकतावादियों से भिन्न गाँधी का राज्य –विरोध का सिद्धान्त नैतिकता के सिद्धान्त पर आधृत है। वे राज्य का निषेध इसलिए करते हैं कि इससे व्यक्ति की आत्मा का हनन होता है वह उसकी आध्यात्मिक शक्तियों को विनष्ट करता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि गाँधी जी के लिए स्वतंत्रता एक समग्र वस्तु थी। वासनाओं की दासता से मुक्ति के रूप में 'नैतिक स्वतंत्रता' विदेशी शासन से मुक्ति के रूप में 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता' और मोक्ष तथा सत्य के साक्षात्कार के रूप में 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता'। ये सब उनकी समझ स्वतंत्रता के ही विभिन्न रूप थे। इस तरह गाँधी जी के लिए स्वतंत्रता एक समग्र वस्तु है। उनके अनुसार स्वतंत्रता विकास की एक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य यह खोज करना है कि सामंजस्यपूर्ण नैतिक उद्देश्यों एवं कार्यों की समुचित व्यवस्था क्या हो सकती है? गाँधी का साध्य नैतिक स्वतंत्रता की अभिप्राप्ति कैसे हो और साधन की पवित्रता भी अपरिहार्य है।

3.4 अधिकार की धारणा

महान यूनानी दार्शनिक अरस्तू का महत्वपूर्ण कथन है कि 'राज्य मानव जीवन की रक्षा के लिए स्थापित हुआ है और वह उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए स्थिर रहता है' अर्थात् राज्य मनुष्य के अच्छे जीवन की व्यवस्था करता है ऐसी व्यवस्था राज्य तब कर पाता है जब वह लोगों के लिए उन तमाम बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करता है जो उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए नितान्त अपरिहार्य हैं। इस तरह अधिकार मानव जीवन की वह अनिवार्य परिस्थिति है जो लोगों के स्व के विकास के लिए आवश्यक है। यह व्यक्ति की वह माँग है जिसे राज्य निर्मित करता है और समाज उसे मान्यता देता है। अधिकार के पीछे समाज की शक्ति होती है। अधिकार कोई स्वार्थपूर्ण दावा नहीं है। अधिकार के लिए यह आवश्यक है कि उसका उद्देश्य समाज का हित हो एवं समाज की सामान्य धारणा द्वारा मान्य हो। इस तरह अधिकार वास्तव में वे दावे होते हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने अस्तित्व के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

सरल अर्थ में 'अधिकार व्यक्ति के वे दावे हैं जिसकी स्वीकृति समाज और राज्य द्वारा मिली हुई होती है।' इस अर्थ में तीन महत्वपूर्ण तत्व निहित हैं—प्रथम अधिकार व्यक्ति का दावा है। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रत्येक दावा व्यक्ति का अधिकार नहीं है। अधिकार वस्तुतः वे दावे होते हैं जिन्हें समाज मान्यता देता है और राज्य द्वारा लागू किया जाता है। आशीर्वादम् ने लिखा है कि 'अधिकार एक स्वार्थपूर्ण दावा नहीं है बल्कि यह एक स्वार्थ विहीन इच्छा है जो सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होता है।'

अधिकार का दूसरा तत्व है समाज द्वारा व्यक्ति के अधिकार को स्वीकृति। यदि समाज व्यक्ति के अधिकार की स्वीकृति नहीं देता तो वह दावा व्यर्थ होता है। किसी भी अधिकार का प्रयोग समाज में होता है इसलिए समाज द्वारा इसकी स्वीकृति आवश्यक है। इस सामाजिक स्वीकृति में कानूनी स्वीकृति भी निहित रहती है। अधिकार का तीसरा तत्व है अधिकार को राजनीतिक स्वीकृति प्राप्त होना अर्थात् राज्य की मान्यता प्राप्त होना। यदि अधिकार को राजनीतिक स्वीकृति प्राप्त नहीं होती तो वह केवल नैतिक घोषणा मात्र रह जाता है। व्यक्तियों के अधिकारों को लागू करने के लिए राजनीतिक बल की आवश्यकता पड़ती है जिसके अभाव में अधिकार निरर्थक

हो जाता है। इस संबंध में एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व की चर्चा की जा सकती है जिसके अभाव में अधिकार अधिकार नहीं रह जाता वह है- कर्तव्य का तत्व। अधिकार की बात करने मात्र से ही कर्तव्य का बोध नहीं हो जाता अपितु बिना कर्तव्यों की पालना के अधिकार सार्थक नहीं होते। अधिकार कर्तव्य भावना से युक्त होना चाहिए अर्थात् कर्तव्यों के पालन के बिना अधिकारों का कोई मूल्य नहीं है। मानव को अपने अधिकार सुरक्षित रखने के लिए कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य है। संक्षेप में अधिकार व कर्तव्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। किसी व्यक्ति का अधिकार उसके कर्तव्यों से ही निर्धारित होता है।

गाँधी मूलतः मानवतावादी थे और व्यक्ति की गरिमा में उनकी अगाध आस्था थी। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को हर दृष्टि से अनिवार्य मानते थे। साथ ही गाँधी के स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं था कि व्यक्ति जैसा चाहे व्यवहार करे बल्कि उन्होंने हर व्यक्ति के लिए अनुशासित होना अत्यन्त आवश्यक माना। गाँधी सदैव व्यक्तियों के अधिकारों को उनके कर्तव्यों से जोड़कर देखते हैं। गाँधी के अनुसार 'कर्तव्यपरायणता धर्म की आधारशिला है।' उनका कहना है कि बिना कर्तव्यों के पालन के व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। जिस प्रकार साध्य और साधन दोनों की पवित्रता अनिवार्य है उसी प्रकार अधिकार एवं कर्तव्य भी पवित्रता के सिद्धान्त पर आधारित हैं। उनके मत में किसी भी अधिकार की पवित्रता तभी सिद्ध होती है जब इसका प्रयोग करने वाला व्यक्ति अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करे।

3.5 अधिकार एवं कर्तव्य पर गाँधी जी के विचार

अधिकार संबंधी अपने विचारों को उद्घटित करते हुये गाँधी कहते हैं –“ जीवन की आवश्यकताओं को पाने का हर एक आदमी का समान अधिकार है। यह अधिकार तो पशुओं और पक्षियों को भी है। और चूँकि प्रत्येक अधिकार के साथ एक संबंधित कर्तव्य जुड़ा हुआ है और उस अधिकार पर कहीं से कोई आक्रमण हो तो उसका वैसा ही इलाज भी है इसलिए हमारी समस्या का रूप यह है कि हम उस प्रारम्भिक बुनियादी समानता को सिद्ध करने के लिए उस समानता के अधिकार से जुड़े हुए कर्तव्य और इलाज ढूँढ निकालें। वह कर्तव्य यह है कि हम अपने हाथ-पांव से मेहनत करें और वह इलाज यह है कि जो हमें हमारी मेहनत के फल से वंचित करे उसके साथ हम असहयोग करें। 26 मार्च, 1931 के यंग इण्डिया में उन्होंने अपने विचारों को आगे बढ़ाते हुए वे लिखा कि – 'अधिकारों की उत्पत्ति का सच्चा स्रोत कर्तव्यों का पालन है। यदि हम सब अपने कर्तव्यों का पालन करें, तो अधिकारों को ज्यादा ढूँढने की जरूरत नहीं रहेगी। लेकिन यदि हम कर्तव्यों को पूरा किये बिना ही अधिकारों के पीछे दौड़े तो वह मृग-मरीचिका के पीछे पड़ने जैसा व्यर्थ सिद्ध होगा। जितने हम उनके पीछे जायेंगे उतने ही वे हमसे दूर हटते जायेंगे। यही शिक्षा श्री कृष्ण ने इन अमर शब्दों में दी है – 'तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है, फल में कदापि नहीं। यहां कर्म कर्तव्य है और फल अधिकार।

उनका स्पष्ट मत था कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता, संगठन, धर्म और अन्तःकरण की स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया था कि अल्पसंख्यकों को अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। बिना किसी जातीय, धार्मिक अथवा लैंगिक भेदभाव के सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान समझा जाना चाहिए। इस तरह गाँधी मानवीय अधिकारों के महान पैरोकार थे। उन्होंने सदैव नवीन परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार अपने मानवीय अधिकारों की सूची को परिवर्तित करने में तत्परता दिखाई।

गाँधी के दर्शन में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया है। उनका स्पष्ट कहना है कि “कर्तव्य पालन का अधिकार ही सर्वोच्च अधिकार है और कर्तव्य पालन के बिना किसी भी प्रकार की अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तव में कर्तव्य पालन से ही अपने अधिकारों की प्राप्ति होती है।” इस तरह गाँधी की विचारधारा में अधिकार एवं कर्तव्य में अन्योन्याश्रितता का संबंध है।

गाँधी जी ने सदैव यह बात दुहराई कि व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का निर्वहन बिना अपने अधिकारों की चिन्ता करते हुए करना चाहिए। क्योंकि उनके अनुसार अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्तव्यों में निहित है। कर्तव्यों को छोड़कर अधिकारों के पीछे हम जितना दौड़ेंगे, उतने ही अधिकार हमसे दूर होते जाएंगे।

गाँधी के लिए सर्वोच्च धर्म (कर्तव्य अनुपालना) ही सर्वोच्च राजनीति है। वे राज्य को व्यक्तियों का सामूहिक त्याग मानते हैं। उनका मानना है कि वैसा राज्य जिसमें व्यक्ति राज्य से अधिकाधिक प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं तथा अपना न्यूनतम योगदान देते हैं, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। परन्तु साथ ही गाँधीजी ने इस आशय से कि राज्य अपने सत्ता का प्रयोग निरंकुशता के रूप में न करें, अधिकारों की महत्ता को स्वीकार किया है। ध्यातव्य है कि करांची कांग्रेस (1931) में गाँधीजी की सहमति से ही मूल अधिकारों संबंधित प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था। किन्तु गाँधीजी ने अधिकारों की स्थिति को व्यक्तियों की क्षमता के अनुसार निर्धारित करने पर बल दिया था। उन्होंने मताधिकार के लिए श्रम की अनिवार्यता बतलाई। गाँधीजी ने श्रमिकों और किसानों के लिए न्यूनतम आर्थिक वेतन के अधिकार को स्वीकृति दी। उन्होंने शिक्षा के साथ ही रोजगार के अधिकार को जोड़ने पर बल दिया। गाँधीजी ने राज्य पर यह दायित्व आरोपित किया कि उसे सभी को रोजगार उपलब्ध कराना चाहिए। बावजूद उपरोक्त तर्कों के गाँधीजी ने सदैव कर्तव्यों को अधिकारों से श्रेष्ठ माना। उन्होंने कहा कि अधिकारों से आत्मानुभूति होती है परन्तु सच्ची आत्मानुभूति तो कर्तव्यों के माध्यम से ही होती है। प्रत्येक अधिकार अपने कर्तव्यों की पूर्ति करने का अधिकार है। इसमें सभी प्रकार के वैधानिक अधिकार भी निहित हैं। यदि अधिकार की मांग करने वाला उसके अनुरूप कर्तव्य क्षमता नहीं रखता तो ऐसे अधिकार का महत्व स्वतः समाप्त हो जायेगा।

कर्तव्यों के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे स्वयं को संदर्भित करते हुए कहते हैं कि 'युवावस्था में मैंने सदैव अपने अधिकारों को जताने का प्रयास किया किन्तु बाद में मुझे यह शीघ्र ही भान हो गया कि मुझे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है – अपनी पत्नी पर भी नहीं। अतः उन्होंने स्वयं अपनी पत्नी, संतान, मित्रों, सहयोगियों तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का जानने तथा पूरा करने का कार्य प्रारंभ किया और यह अनुभव किया कि उन्हें कहीं अधिक अधिकार प्राप्त है।

3.6 सारांश

गाँधीजी के अनुसार अधिकार शब्द का प्रयोग केवल राज्य के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए। व्यापक दृष्टि से देखने पर अधिकार सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को समाहित किये हुए हैं। उनके मत में व्यक्ति सत्य तथा अहिंसा का पालन करने से उत्पन्न दक्षता से अधिकारों का सृजन करता है। व्यक्ति के अधिकार राज्य या अन्य किसी संस्था या समुदाय द्वारा उत्पन्न नहीं है, बल्कि संस्थाएं केवल उन्हें मान्यता प्रदान करती हैं। व्यक्तियों को अहिंसा के प्राप्त स्तर के अनुपात में ही अधिकार प्राप्त होते हैं। गाँधीजी ने इस तथ्य पर बल देते हुए कहा कि आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति सामाजिक हित की दृष्टि से प्रत्येक कार्य करे। इस प्रकार गाँधीजी ने अधिकारों को व्यक्तिगत सम्पत्ति न बनाकर उनके माध्यम से समाज सेवा के कार्यों को वरीयता दी है। इस तरह उनका अधिकार विषयक सिद्धान्त सामाजिक कल्याण पोषक है। अधिकार और कर्तव्य संबंधी उनके विचार एक स्वस्थ अंतर्वैक्तिक और नागरिक-राज्य संबंधों को निर्धारित करने में भी उपयोगी हैं।

3.7 अभ्यास प्रश्न

1. स्वतंत्रता की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. 'गाँधी के समग्र चिन्तन में स्वतंत्रता केन्द्रीभूत तत्व है।' इस संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करें।
3. स्वराज पर एक लघु निबंध लिखिए।
4. 'बिना अधिकारों के मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है।' टिप्पणी लिखिए।
5. कर्तव्यों के संबंध में गाँधी के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
6. 'अधिकारों की सृष्टि कर्तव्य पालन से ही होती है' – गाँधी इस कथन के आधार पर अधिकार और कर्तव्य के बीच सम्बन्ध बतलाइये।

3.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोपीनाथ धवन : दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
2. अय्यर, राघवन, द मोरल एण्ड पोलिटीकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1973
3. सिंह, रामजी गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1986
4. पटेल एम. एस., दी एजुकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958
5. ऑस्टरगार्ड, जेफरी, नानवायलेन्ट रेवल्यूशन इन इण्डिया, गाँधी पीस फाऊण्डेशन, नई दिल्ली, 1985
6. शंकधीर, एम.एम., अण्डरस्टेंडिंग गाँधी टुडे, दीप एण्ड दीप पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1996

समानता पर गाँधी के विचार

इकाई रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 गाँधी की समानता का अर्थ
- 4.3 गाँधी : समानता और सर्वोदय दर्शन
- 4.4 सर्वोदय का अर्थ
- 4.5 सर्वोदय दर्शन के आधारभूत तत्त्व
 - 4.5.1 सत्य
 - 4.5.2 अहिंसा
 - 4.5.3 अपरिग्रह
 - 4.5.4 आत्म-त्याग
 - 4.5.5 सर्वजनहिताय
 - 4.5.6 वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त अनुचित
 - 4.5.7 साधन-शुद्धि
 - 4.5.8 कर्तव्यों का पालन
- 4.6 गाँधी दृष्टि में अधिकार और कर्तव्य
 - 4.6.1 अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध
- 4.7 गाँधी : समानता और वर्णाश्रम
- 4.8 गाँधी : समानता और आश्रम धर्म
- 4.9 गाँधी : समानता और आर्थिक दर्शन
 - 4.9.1 समता और सामाजिक न्याय
 - 4.9.2 उपभोग एवं उत्पादन
 - 4.9.3 ट्रस्टीशिप : आर्थिक समानता का दर्शन
 - 4.9.4 विकेन्द्रीकरण एवं स्वावलम्बन की नीति
 - 4.9.5 आर्थिक स्वतन्त्रता और विकेन्द्रीकरण
 - 4.9.6 विकेन्द्रीत ग्रामीण अर्थरचना
 - 4.9.7 सामाजिक समानता का साधन
- 4.10 सारांश
- 4.11 अभ्यास प्रश्न
- 4.12 सदर्थ ग्रन्थ सूची

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत गाँधी के समानता के विचारों को समझ सकेंगे। इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप :-

- गाँधी की समानता सर्वोदय में निहित है, को समझ सकेंगे।
- सर्वोदय दर्शन के आधारभूत तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
गाँधी की दृष्टि में समानता अधिकार और कर्तव्य में निहित है, की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- गाँधी समानता एवं वर्णाश्रम, आश्रम धर्म को समझ सकेंगे।
- गाँधी के समानता और आर्थिक दर्शन की जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी वास्तव में एक युग-पुरुष थे। सच तो यह है कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् गाँधी ने ही सफलतापूर्वक भारत की परम्पराओं और उच्च नैतिक आदर्शों पर आधारित सत्य व अहिंसा के सन्देश को न केवल संसार के सामने रखा बल्कि इसे मूर्त रूप भी प्रदान किया। गाँधी की महत्ता विशेषतः इसी बात में निहित है कि उन्होंने अपने विचारों को जीवन का अंग बनाया। उन्होंने जिस बात को ठीक समझा, उसकी सच्चाई को व्यावहारिकता की कसौटी पर परखा। वह सदैव सत्य की खोज में लगे रहे तथा इस कार्य में उन्होंने अहिंसा को सर्वोपरि साधन बनाया। उन्होंने मानव जीवन के सभी पहलुओं सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक इत्यादि का मननपूर्वक अध्ययन किया और विविध समस्याओं को सुलझाने के लिए उपाय सुझाए। उनके द्वारा बताये हुए उपाय सामयिक न होकर शाश्वत हैं। उन्होंने विभिन्न समस्याओं का हल व्यापक दृष्टि से ढूँढा। यही कारण है कि शताब्दियों तक केवल भारत ही नहीं वरन् संसार भर के लोग गाँधीजी के विचारों तथा कार्यों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करते रहेंगे। गाँधीजी ने सिद्ध कर दिखाया कि किस प्रकार अहिंसा की शक्ति हिंसा की पाशविक शक्ति से अधिक प्रभावशाली तथा स्थायी है। वास्तव में महात्मा गाँधी एक ऐसे मौलिक चिन्तक थे, जिन्होंने मानव समुदाय को समग्र रूप से अर्थात् आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक रूप से समानता का आचार व विचार दिया। गाँधीजी के हृदय में सदैव नैतिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता एवं समानता के आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा थी। गाँधी की समानता संबंधी संकल्पना नैतिकता पर आधारित है। गाँधी का मत था कि स्वतंत्रता एवं समानता सापेक्ष होती है अर्थात् व्यक्ति की स्वतंत्रता मर्यादित व नैतिक होनी चाहिए, जिससे नैतिक, सामाजिक व्यवस्था बनी रहे। गाँधी ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि उद्विकासीय संरचना में व्यक्ति के विकास के जो चरण होंगे, वे विभिन्न प्रायोगिक स्तरों से गुजरते हुए सार्वभौमिक विकास की दशाओं के अनुरूप व्यक्तिगत विकास को सुनिश्चित करेंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज का संतुलित व स्वतन्त्र विकास हो पायेगा।

गाँधी ने व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता और आत्मपूर्णता के प्रयास की समानता पर बल दिया। समानता ऐसी नैतिक शक्ति व नैतिक अधिकार है, जिसके द्वारा समाज का नैतिक विकास संभव है। गाँधी ने व्यक्ति की समानता को सिर्फ व्यक्ति के विकास के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के विकास के लिए अपरिहार्य माना है, जिसमें व्यक्ति का विकास अन्तर्निहित है। वैयक्तिक व सामाजिक समानता की उपर्युक्त गाँधीवादी अवधारणा मानवाधिकारवादी चिंतन के उन आयामों के निकट है, जिसमें राज्य के निम्नतम हस्तक्षेप और व्यक्ति के समग्र विकास के लिए अधिकतम अवसरों की उपलब्धता की बात की गई है। गाँधी के चिन्तन में समानता व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा नहीं वरन् एक सामाजिक आवश्यकता है।

किन्तु गाँधी की दृष्टि में मानवाधिकार का सृजन सिर्फ कर्तव्य व समानता की भूमि पर नहीं होता वरन् इसके लिए आधार स्वतंत्रता से सुनिश्चित होता है। गाँधी मनुष्य की क्षमताओं के समग्र विकास के लिए समानता की भाँति स्वतंत्रता को भी अपरिहार्य मानते हैं। गाँधी की समानता की अवधारणा में स्वतंत्रता की धारणा

अन्तर्निहित है, क्योंकि समानताविहीन स्वतन्त्रता मूल्यहीन हो जाती है। गाँधी व्यक्ति के बीच सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नता को तो स्वीकार करते हैं पर आध्यात्मिक स्तर पर मानव में समानता देखते हैं और इसलिए व्यक्तियों के बीच किसी प्रकार के भेदभाव को अस्वीकार करते हैं। गाँधी समानता के उस आधारभूत तत्त्व के पक्षधर थे जो पारस्परिक प्रेम, सहयोग, दया आदि पर निर्भर हो। उनके अनुसार, “किसी पर किसी का वर्चस्व नहीं होना चाहिए। एक व्यक्ति के रूप में प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से समानता का अधिकार रखता है।” गाँधी के अनुसार एक-दूसरे पर श्रेष्ठता का दावा करने वाले व्यक्ति मानव कहलाने योग्य नहीं। प्रत्येक मनुष्य जन्म से समान होता है यदि कोई दूसरे पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास करता है तो वह मनुष्य के विपरीत है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को समानता का अधिकार है।

गाँधी प्रत्येक मनुष्य के प्रति आत्मवत् प्रेम की आवश्यकता पर विशेष बल देते थे। उनका मानना था कि आत्मवत् प्रेम का मूल आधार जाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय, लिंग, भेद आदि से मुक्त प्रेम है। गाँधी ने धार्मिक स्तर पर वैयक्तिक समानता की भाँति वर्ण या जाति के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में भेदभाव को अस्वीकार करते हुए यह विचार स्थापित किया कि इस मानव समाज में जाति, प्रजाति या वर्ण में निहित असमानताओं को दूर किया जाना चाहिए तथा इस आधार पर किसी व्यक्ति को दूसरे की तुलना में असमान स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

आर्थिक समानता की वकालत करते हुए गाँधी इसे अहिंसापूर्ण स्वराज्य की कुंजी मानते हैं। गाँधी आर्थिक समरूपता को समानता नहीं मानते बल्कि उनका मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुरूप कार्य लिया जाये और उसकी आवश्यकतानुसार उसे दिया जाए।

इस प्रकार गाँधी समानता के माध्यम से सामाजिक न्याय की स्थापना करना चाहते थे। उनका मानवाधिकारवादी चिंतन एक ऐसे समाज की कल्पना करता है, जहाँ समाज का सबसे अन्तिम व्यक्ति भी एक सम्मानपूर्ण व प्रतिष्ठापरक जीवन व्यतीत कर सके। आईरिस मेरियन यंग अपनी पुस्तक ‘Justice and the Politics of Difference’ में लिखती है कि सामाजिक न्याय का अर्थ हाशिये पर अवस्थित लोगों के उत्थान का नाम है, जहाँ योजना अवसर एवं सभी स्तरों पर असमानता व्याप्त हो वहाँ सामाजिक न्याय की परिकल्पना नहीं की जा सकती। गाँधी ऐसी सामाजिक असमानता का विरोध करते हैं और सामाजिक न्याय को भारतीय समाज की प्राथमिक आवश्यकता मानते हैं। ऐसा समाज, जिसका कोई भी अंश मानवीय गरिमा व अस्मिता से वंचित हो वह अमानवीय है। सामाजिक न्याय को गाँधी प्राथमिक मूल्य तो स्वीकार करते हैं पर उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी साधन को अपनाये जाने की स्वीकृति नहीं देते, उसे सिर्फ अहिंसा के माध्यम से प्राप्त करने की बात करते हैं। उन्होंने सत्याग्रह को एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार किया और शक्ति के प्रयोग के प्रति असहमति व्यक्त की। “मैंने हमेशा यह विश्वास किया है कि सामाजिक न्याय सबसे नीचे और कमजोर वर्गों के लिए भी शक्ति के द्वारा प्राप्त करना असंभव है। मैंने आगे यह विश्वास किया है कि सबसे नीचे के व्यक्तियों के अपने प्रति अन्याय के निराकरण हेतु अहिंसात्मकपरक साधनों के प्रशिक्षण द्वारा अपने प्रति अन्याय को दूर करना संभव है और यह साधन अहिंसात्मक असहयोग है।”

गाँधी भौतिक आवश्यकताओं को सीमित कर न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की बात करते हैं। उनके अनुसार नैतिक विकास भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाने में निहित नहीं है बल्कि अनावश्यक इच्छाओं को समाप्त करने में एवं अपनी अधिकतम शक्ति को आध्यात्मिक गरिमा प्राप्त करने हेतु लगाने में निहित है। चूँकि सीमित भौतिक आवश्यकताओं से गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है अतः जो कुछ आवश्यकता से अधिक है, उसे समाज के कल्याण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

अतः गाँधी ने पूँजी एवं सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सहिष्णुता, सहअस्तित्व, सर्वोदय, साध्य एवं साधनों की पवित्रता, आध्यात्मिक एवं नैतिक साधनों द्वारा समानता पर बल दिया।

4.2 गाँधी की समानता का अर्थ

गाँधी का समानतावादी दर्शन उस सर्वोदय की कामना करता है, जहाँ मानवीय सम्बन्ध सत्य, अहिंसा व धर्म पर आधारित होंगे और सभी की क्षमताओं का पूर्ण विकास व सदुपयोग होगा। सर्वोदय बहुसंख्यक के कल्याण की नहीं वरन् सबके कल्याण की बात करता है। वे चाहते थे कि सबका सहविकास हो, सबका सब

प्रकार से उत्थान हो। सर्वोदय सबके उदय की स्थिति है, यह अधिकतम के विकास या उन्नति की स्थिति नहीं है। गाँधी का सर्वोदय दर्शन अहिंसा पर आधारित ऐसी सामाजिक संरचना की बात करता है, जहाँ व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक होंगे और दोनों समन्वित रूप से एक आदर्श राज्य की स्थापना करेंगे। गाँधी का मत है कि नैतिक गुणों का विकास होने के बाद व्यक्ति आत्मनियंत्रित व स्वशासित हो जाता है और स्वतन्त्र प्राणी के रूप में उसे मानव गरिमा को बनाये रखने वाले कार्यों के सम्पादन का निरन्तर अवसर मिलता रहता है।

इस प्रकार गाँधी का समानतावादी दर्शन परम्परागत, जातीय, धार्मिक एवं असमानता आर्थिक संरचना को समाप्त करके व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सर्वोदय, सामाजिक न्याय व जन-सहभागिता वाली शासन-व्यवस्था को सर्वसुलभ बनाने का प्रयास है।

4.3 गाँधी : समानता और सर्वोदय दर्शन

सर्वोदय सिद्धान्त गाँधी दर्शन की स्वाभाविक परिणति है। यह ऐसा जीवन-दर्शन है, जिसमें जीने का अनुपम तरीका निहित है। इसमें “सब सुखी हम सुखी” वाली बात है। यह कोई नई बात कहता हो, ऐसा नहीं है, पर पुरानी अच्छाइयों को जीवन में दाखिल करने का एक रास्ता जरूर बताता है। गाँधीजी कहा करते थे, “जीवन जीना सबसे बड़ी कला है और जिससे इसको सीख लिया, वही सबसे बड़ा कलाकार है।”

मानव-जीवन एवं समाज के विकास के लिए प्रतिस्पर्धा को मुख्य साधन माना गया, लेकिन इसका परिणाम भयंकर हुआ। संघर्ष से संघर्ष, प्रतिस्पर्धा से प्रतिस्पर्धा विकसित हुई और फलस्वरूप आज विरोधवाद, संघर्षवाद और संहारवाद संस्कृति पर हावी है। राजनीति क्षेत्र में जहाँ इस विचार से द्वेष की भावना का जहर समाज की नस-नस में फैला हुआ है, वहीं आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा के विचार ने बड़े-बड़े पूंजीपतियों, सेठ-साहूकारों में और सामाजिक क्षेत्र में मदान्धता का विकास किया। सामान्य व्यक्ति सर्वहारा होकर शोषण के नीचे दब गया। सर्वोदय ने संघर्ष के स्थान पर सहकार की बात कहकर जीवन के विकास की दशा में समाज को एक अनोखा उपहार भेंट किया। डार्विन ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसमें उन्होंने कहा कि जो सबसे अधिक सक्षम होगा, वही जीवन-संग्राम में बचेगा। डार्विन के इस सिद्धान्त में हक्सले ने कमी देखी और एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो डार्विन महोदय के सिद्धान्त से उदारवादी है। हक्सले ने कहा—“जीओ और जीने दो।” हालाँकि हक्सले के सिद्धान्त में कोई त्रुटि नहीं, लेकिन सर्वोदय सिद्धान्त मानवता के उच्चतम शिखर को प्राप्त करते हुए कहता है—“दूसरे के लिए जीओ, जिलाने के लिए जीओ।” सर्वोदय में सर्व का हित, सर्व के लिए हित, सर्व के द्वारा हित की साधना की बात कही गई। केवल साधना की बात नहीं, वरन् जीवन के हर पहलू को यह विचार स्पर्श करता है। आदमी अपना रोजगार भी सर्वोदय की भावना से कर सकता है। व्यक्ति केवल अपने बारे में नहीं, बल्कि अपने पड़ोस के बारे में भी सोचे, यह इस विचारधारा की नींव का पहला पत्थर है। तभी तो बापू ने कहा था, “अमेरिकन गेहूँ खाकर अपने पड़ोसी अनाज के व्यापारी को ग्राहक के अभाव में भूखों मरने देना पीड़ादायक है। वैसे ही “रीजेन्ट स्ट्रीट (इंग्लैण्ड का एक औद्योगिक नगर) की नवीनतम व तड़क-फड़कदार पोशाक पहनना मेरे लिए पापपूर्ण है जबकि मैं जनता हूँ कि यदि मैंने अपने पड़ोसी जुलाहों की बुनी पोशाक पहनी होती तो न केवल मेरा तन ढकता, बल्कि उनके तन भी ढकते और पेट भी भरते।” पड़ोसी से सहयोग की बात व्यापक रूप से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ तक में लागू होती है। यह सामाजिकता है। यदि हम सर्वोदय के इस विचार से मुँह मोड़ते हैं तो फिर हमारे लिए समाजवाद, साम्यवाद या सभ्यता और संस्कृति आदि की बात करना प्रवंचना मात्र है। फिर मनुष्य की मनुष्यता की असली परख भी तो उसकी पशुता में नहीं होकर उसकी आध्यात्मिक शक्ति, उसकी सर्वभूत हित-साधन की हृदयवत्ता में है। मानव समाज भी पशुबल की उपेक्षा कर नीति एवं धर्मबल को ही स्वीकारता है। ऐशले मंटेंग्यू जैसे विचारक ने अपनी पुस्तक “On Being Human” में कहा है कि “संघर्ष या होड़ नहीं, सहयोग ही प्रकृति का सिद्धान्त है।” विलर भी सर्वोदय के विचार का ही समर्थन करता हुआ कहता है कि प्रकृति में सबसे अधिक प्रवृत्ति पाई गई है—सहजीवन और सहयोग की। सह-अस्तित्व प्रकृति का नियम है।

धर्म की दृष्टि से सर्वोदय को सभी धर्मों का समन्वय कहा जा सकता है। स्वयं विनोबा ने सर्वोदय को “सर्वोत्तम धर्म तथा सर्वोदयमिद् तीर्थम्” कहा है। लगता है विनोबा की यह मान्यता सच भी है। आखिर विश्व के सभी धर्मों का सार भी तो सबका हित, सबका कल्याण करना है। इसलिए सर्वोदय ऐसा धर्म-दर्शन है, जिसके अन्तर्गत दुनिया के सभी धर्म समाये हुए हैं। सर्वोदय में प्रत्येक के दोषों को अस्वीकार कर सिर्फ गुण को स्वीकारा गया है।

सर्वोदय सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा सहयोग के आधार पर आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करता है। इस आदर्श समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का समान अवसर प्राप्त होगा। उसमें ऊँच-नीच, छूत-अछूत, गरीब-अमीर, मालिक-मजदूर और भूमिपति एवं खेत-मजदूर के बीच गहरी खाई न होगी, कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा। ईर्ष्या और द्वेष के स्थान पर प्रेम और भलाई ही सामान्य व्यवहार के नियम होंगे और सब व्यक्ति एक-दूसरे की उन्नति करने का मान करेंगे। यह व्यवस्था स्वर्गतुल्य होगी। इसी को संक्षेप में ‘सर्वोदय’ कहा गया है। सर्वोदय ने मानव समाज के परिवर्तन एवं पुनर्निर्माण के लिए विश्व के अन्य धर्मों की तरह अहिंसा, प्रेम और करुणा को ही अपना मुख्य साधन माना है। समाजगत शोषण, उत्पीड़न, विषमता एवं अन्य सामाजिक, आर्थिक अन्याय के उन्मूलन के लिए सर्वोदय दण्ड शक्ति और हिंसा शक्ति के विरुद्ध अहिंसक जनशक्ति जिसे ‘तीसरी शक्ति’ भी कहते हैं, का सहारा लेता है। सर्वोदय विचार की यह मान्यता है कि ‘दण्डशक्ति’ के आधार पर कभी भी स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिए तो विचार क्रान्ति करनी होगी। जनता के अभिक्रम और कर्तृत्व शक्ति को जगाकर ही अहिंसक समाज की स्थापना की जा सकती है। सर्वोदय में त्याग के द्वारा हृदय परिवर्तन, तर्क के द्वारा विचार परिवर्तन, शिक्षा के द्वारा संस्कार परिवर्तन एवं पुरुषार्थ के द्वारा स्थिति परिवर्तन कर स्वच्छ एवं नैतिकपूर्ण मानव समाज की रचना की जाती है। ऐसे समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती है। समाज में प्रेम एवं सहयोग का स्वस्थ वातावरण रहता है। अतः सर्वोदय समाज वर्ग, जाति अथवा अन्य दलों से विहीन समाज का आदर्श उपस्थित करता है।

गाँधीजी ने नैतिक मूल्यों पर प्रतिस्थापित जिस आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की, उसे ‘सर्वोदय समाज’ की संज्ञा दी। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है, ‘सबका उदय और सब प्रकार से उदय’ अर्थात् समाज में प्रत्येक व्यक्ति का सर्वांगीण उत्थान। प्रसिद्ध गाँधीवादी काका कालेलकर कहते हैं—सर्वोदय कोई मामूली शब्द नहीं है, गाँधी के हृदय से निकली हुई यह एक ऋषि वाणी है। आज के युग का यह ‘युग मंत्र’ है। सर्वोदय पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद की होड़ में खड़ा किया हुआ कोई नया वाद नहीं है। सर्वोदय सब वादों का समन्वय करने वाला कल्याणकारी मन्त्र है। गाँधीजी के एक अन्य सात्विक अनुयायी ने सर्वोदय का भाष्य करते हुए कहा है कि सर्वोदय के मानी है ‘अन्तोदय’ जो सबसे पिछड़ा हुआ है, दलित और उपेक्षित है, उससे प्रारम्भ करके सबकी उन्नति के लिए प्रारम्भ किया जाता है, वह है सर्वोदय। सर्वोदय में पवित्र-अपवित्र का भेद नहीं है। गुलामों की गुलामी नष्ट करने के लिए कटिबद्ध यह सर्वोदय जालिमों का भी कल्याण ही चाहता है। अन्याय का प्रतिकार करते हुए अन्यायी के प्रति उसके मन में दया भाव ही रहता है। विनोबा सर्वोदय के अर्थ को साधारण यानी सरल अर्थ बनाते हुए समझाते हैं कि हमने अपने जीवन को एक-दूसरे के विरोध के निमित्त कर लिया है। जैसे धन का ही संग्रह कर हम दूसरे के हितों को नजरअन्दाज करते हैं। एक प्रकार से यदि कहा जाये तो कभी-कभी तो दूसरों से छीनकर ही हम धन का अनावश्यक संग्रह करते हैं। मानवता और प्रेम से अधिक महत्त्व हमने धन को दे रखा है। नतीजा यह है कि परस्पर मेल या सम्बन्ध जो आसान होना चाहिए था, वह मुश्किल हो गया है। उस आसान प्रेम की शोध में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गये हैं, फिर भी सबका हित नहीं सध रहा है, सबका कल्याण नहीं हो रहा है। सबका हित या कल्याण तो एक सीधी-सी बात मान लेते हैं और वह यह कि हर व्यक्ति एक-दूसरे की फिक्र रखें और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखें कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। यही कुटुम्ब में भी होता है। कुटुम्ब का न्याय समाज के लिए लागू करना कठिन नहीं होना चाहिए, बल्कि आसान होना चाहिए। ऐसे कौटुम्बिक न्याय को सर्वोदय कहते हैं। यह सर्वोदय का कम-से-कम और स्पष्ट अर्थ है और इसी से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए। हमें अपना भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए। दूसरे का धन हम किसी तरह ले लें, इसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता है और इस नीति से दूसरों के हित के बदले अहित ही होता है। कमाई का अर्थ प्रत्यक्ष उत्पादन है।

सबका एक साथ विकास ही 'सर्वोदय' है। सर्वोदय का यह अर्थ नहीं होगा कि कुछ का विकास हो और कुछ का नहीं हो, सर्वोदय बहुमत को हित की बात नहीं करता, वह तो समान रूप से सबका उदय चाहता है। सर्वोदय का साधन "सर्व" शब्द में है, जो कुछ भी हो, व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास या फिर सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक उन्नति, वह सबकी हो। जो कुछ भी प्राप्त हो, वह समाज के सभी व्यक्ति को प्राप्त हो। सर्वोदय इसी अर्थ में कहता है जो कुछ भी पैदा करो, जो कुछ भी प्राप्त करो वह सबमें बांटो। श्रम का, धन का, जमीन का समान बंटवारा कर लो।

4.5 सर्वोदय दर्शन के आधारभूत तत्त्व

गाँधीजी के सर्वोदय संबंधी विचार को स्पष्ट करते हुए विनोबा भावे ने कहा है। "गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय आन्दोलन का उद्देश्य कुछ व्यक्तियों का या बहुत से व्यक्तियों का उत्थान करना नहीं है। इसका उद्देश्य अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख से भी नहीं बल्कि हम सभी के उच्च व निम्न, सबल तथा निर्बल के, बुद्धिमान और बुद्धिहीन के सुख से ही संतुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय इसी भावना को प्रकट करता है। सर्वोदय का सिद्धान्त समस्त समाज का हित चाहता है। इस सिद्धान्त में किसी विशेष व्यक्ति, विशेष वर्ग, विशेष संस्था इत्यादि की भलाई के लिए पहल नहीं की जाती। सभी की भलाई के लिए समान रूप से कार्य किया जाता है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए भारतन कुमारप्पा ने कहा है कि "सर्वोदय जन-कल्याण के रूप में एक आदर्श समाज की झलक देता है। इसका आधार जन-कल्याण है। इसीलिए प्रत्येक को इसमें एक समान अधिकार प्राप्त है, चाहे वह राजा हो या किसान, हिन्दू हो या मुसलमान, अछूत हो या उच्च वर्ग का, गोरा हो या काला, समाज में सभी को समान सदस्य के रूप में मान्यता प्राप्त होगी।"

अतः सर्वोदय दर्शन के आधारभूत तत्त्व आध्यात्मिक हैं, जो निम्नलिखित हैं :-

4.5.1 सत्य

गाँधीजी के लिए सत्य सर्वप्रधान है जो अपने में अनेक सिद्धान्तों को समेटे हुए है। उनका सारा जीवन सत्य के साथ किया गया प्रयोग है। उनके विचार में सत्य ही ईश्वर है। इसलिए इसी सत्य के प्रति निष्ठा ही व्यक्ति के अस्तित्व का एकमात्र औचित्य है। व्यक्ति की समस्त गतिविधियाँ सत्य केन्द्रित होनी चाहिए। सत्य ही व्यक्ति के जीवन का प्राण तत्त्व होना चाहिए, क्योंकि सत्य के बिना जीवन में किसी सिद्धान्त व नियम का पालन करना असंभव है। इसलिए सर्वोदय विचार के पालन करने के लिए सत्य का पालन अपरिहार्य है, क्योंकि सत्य का पालन तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है। सत्य के पालन में पूर्वाग्रह, टालमटोल, प्रवंचना या विकृति को कोई स्थान नहीं है। सर्वोदय विचार को व्यक्त करते समय आचार्य विनोबा भी कहा करते थे, "प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करे। समाज में रहकर सबका यही कर्तव्य होना चाहिए।" साधारण अर्थ में सत्य को सत्य-आग्रह, सत्य-विचार, सत्य-वाणी एवं सत्य-कर्म से जान सकते हैं। असत्य का सत्यादि साधनों द्वारा प्रतिकार करना सत्याग्रह है। अतः सर्वोदय या सबके उत्थान में सत्य का बहुत महत्त्व है।

4.5.2 अहिंसा

सर्वोदय में सत्य की भांति अहिंसा का भी महत्त्व है। सामान्य अर्थ में किसी दूसरे जीव को न मारना ही अहिंसा है। व्यापक अर्थ में व्यक्ति द्वारा मन, वचन और कर्म द्वारा प्राणी-मात्र को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना ही अहिंसा है। अहिंसा का दूसरा नाम प्रेम है। गाँधीजी कहते हैं जो व्यक्ति अहिंसक होने का दावा करता है, उससे यह अपेक्षित है कि वह अपने को क्षतिग्रस्त करने वाले पर क्रोधित न हो। वह उसका बुरा नहीं चाहेगा, वह उसका भी भला चाहेगा, वह उसे किसी प्रकार शारीरिक आघात नहीं पहुंचायेगा। वह अनिष्टकर्ता द्वारा उसे पहुंचायी गयी समस्त क्षति को सह लेगा। इस प्रकार समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का परिपूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है। अपनी गतिशील अवस्था में इसका अर्थ है—अनन्तः सम्मत पीड़ा सहन। इसका प्रसार हानिकारक कीटाणु समेत मानवेंतर योनियों तक है। उनकी सृष्टि हमारी विनाशात्मक प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए नहीं हुई है। अपने सक्रिय रूप में अहिंसा सर्वजीवों के प्रति सद्भावना है। यह विशुद्ध प्रेम है। सर्वोदय के विचार में यह मान्य है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के साथ अपने-अपने व्यवहार में अहिंसक

होना चाहिए, तभी सर्वोदय का हित सधेगा। गाँधीजी तो कहा करते थे, “मेरे लिए स्वराज्य से भी बढ़कर अहिंसा का स्थान है।” सर्वोदय जनसमूह में अहिंसा को फैलाना चाहता है, क्योंकि जन-समूह द्वारा हिंसा के अवलम्बन से रोग कभी नहीं मिट सकता। आज का अनुभव यही बताता है कि हिंसा की सफलता क्षणिक होती है। अब तक हिंसा के विविध रूपों एवं मुख्यतः हिंसक की इच्छा पर निर्भर कृत्रिम यंत्रों का ही तो प्रयोग किया गया है। निर्णायक क्षणों में ये नियंत्रण स्वभावतः असफल रहे हैं। गाँधीजी का विश्वास है कि लोकतांत्रिक सर्वोदय समाज-व्यवस्था के लिए अहिंसा अनिवार्य है। डॉ. राधाकृष्णन् भी यह मानते हैं कि, “आध्यात्मिक जीवन की पवित्रता एवं श्रेष्ठता, मानव-जाति के बन्धुत्व-बोध तथा शांति, प्रेम-इन आदर्शों के आधार पर एक पूरी नई पीढ़ी को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है।”

4.5.3 अपरिग्रह

सर्वोदय दर्शन का तीसरा मंत्र अपरिग्रह है। गाँधीजी अपरिग्रह का अर्थ समझाते हुए कहते हैं, “आदर्श स्थिति में अपरिग्रह केवल शरीर के वस्त्रों तक का त्याग न होकर अपनी अस्थियों के मांस तक का त्याग है।” सर्वोदय दर्शन का जीवन में पालन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी शारीरिक आवश्यकता के अनुसार किसी भी वस्तु का अधिक संग्रह न करे और न उससे किसी प्रकार का भेद करे। वस्तुओं का उपयोग केवल इस शरीर को चलाने के लिए हो। आचार्य विनोबा ने इस सम्बन्ध में कहा, “यदि इस दृष्टिकोण को अपनाया जाये तो इस संसार में कोई भी व्यक्ति भूखा न मरे। गाँधीजी का विश्वास था कि ईश्वर पर निष्ठा रखने वाले व्यक्ति को परिग्रह की जरूरत नहीं होती है। सन्त और महापुरुषों का जीवन इसका सबल प्रमाण है। बिना संग्रह किये ही संग्रहकर्ता व्यक्ति से महापुरुषों का जीवन अधिक सुखमय होता है। इसलिए सर्वोदय विचार में अपरिग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान होना आवश्यक है।

4.5.4 आत्म-त्याग

सर्वोदय सिद्धान्त की मुख्य मान्यता यही है कि त्यागमय जीवन में ही सच्चा सुख है, सच्चा आनन्द है। निश्चय ही अपने कर्तव्यों का पालन करने वाला और सत्य मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति दूसरों की सेवा में शान्ति का अनुभव करेगा। वह कभी भी किसी को धोखा तो नहीं ही देगा, अपना जीवन भी सादगीपूर्ण व्यतीत करेगा। इसलिए सर्वोदय विचार के सूत्रधार महात्मा गाँधी हरिजनों, दीन-दुःखियों और दरिद्रों की सेवा करने में गर्व का अनुभव करते थे और दूसरों को इस पुण्य में सहभागी होने को प्रेरित करते थे। बापू का कहना था, “दूसरों की स्वेच्छापूर्वक सेवा में हमारी शक्तियाँ लगनी चाहिए। यही सब धर्मों एवं सर्वोदय का सार है।” इसलिए तो विनोबा और जयप्रकाश ने दूसरों की सेवा में अपने को अर्पित कर दिया, “जीवनदान” कर दिया।

4.5.5 सर्वजनहिताय

सर्वोदय का अर्थ ही है सबका उदय। सर्वोदय की यह भावना सर्वोदय विचार का सार है। गाँधीजी ने रस्किन की पुस्तक “अन टु दि लास्ट” के आधार पर जो सर्वोदय के तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं वे समष्टि के हित में ही निहित हैं। आचार्य विनोबा के मतानुसार “सर्वोदय” का तात्पर्य है हर एक-दूसरे के लिए फिक्र रखे, साथ ही अपनी ऐसी फिक्र न रखें जिससे कि दूसरों को कष्ट हो। यही हर कुटुम्ब में भी होता है। “वसुधैव कुटुम्बकम्” का यह न्याय समाज पर लागू करना कठिन नहीं, बल्कि आसान होना चाहिए।” सर्वोदय के इस तत्त्व में गाँधीजी और विनोबाजी ने समाज में सबके सुखी होने का विचार व्यक्त किया है। दोनों इस बात को स्वीकारते हैं कि नैतिक अच्छाई हवा में नहीं रहती, बल्कि समस्त राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में निहित होती है। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के सभी स्तरों पर ‘सर्वजन हिताय’ की नीति का समर्थन किया। इसी विशेषता के कारण उनकी विचारधारा ‘सर्वोदय’ के नाम से प्रसिद्ध है।

4.5.6 वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त अनुचित

सर्वोदय दर्शन मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को बिल्कुल स्वीकार नहीं करता, क्योंकि जब तक समाज में वर्ग-भेद रहेगा तो संघर्ष होना भी स्वाभाविक है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे साधन अपनाये जो सभी वर्गों के लिए हितकर हो तथा कम से कम संघर्ष होने की संभावना हो। सत्य और अहिंसा को

आधार मानकर ही वर्ग-संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। वर्ग-संघर्ष के विरोध में बोलते हुए विनोबा ने कहा, “जो वर्ग-विग्रह के अनिवार्य होने की बात करते हैं, उन्होंने अहिंसा का गूढ़ अर्थ नहीं समझा है या केवल ऊपर-ऊपर से ही समझा है।”

4.5.7 साधन-शुद्धि

गाँधी दर्शन में सर्वोदय प्राप्ति हेतु साधन को साध्य से विशेष महत्ता दी गई है। इसलिए साधन-शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। गाँधीजी के अनुसार साधन की पवित्रता ही साध्य को पवित्र बनाती है, क्योंकि जैसा साधन होगा, वैसे ही साध्य की प्राप्ति भी होगी। आचार्य विनोबा का विचार है कि अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चाहे जैसे साधन यदि मान्य समझे जाते हैं तो फिर किसका उद्देश्य ठीक है, यह कौन तय करेगा? हर एक को अपना उद्देश्य ठीक ही लगता है लेकिन कितने ही अलग-अलग उद्देश्य क्यों न हो, उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा और असत्य का उपयोग तो करना ही सब कुछ है। अतएव साध्य के सही होने पर भी यदि साधन अनुचित हों तो वे साध्य को नष्ट कर देंगे या उसे अनुचित दिशा में मोड़ देंगे। साधन और साध्य में गहरा और अटूट सम्बन्ध है, वे एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।

4.5.8 कर्तव्यों का पालन

सर्वोदय में जिस आदर्श समाज व्यवस्था की कल्पना की गई है, उसकी स्थापना तभी सम्भव है, जब प्रत्येक नागरिक बिना किसी आदेश या दबाव के अपने कर्तव्यों का पालन स्वेच्छा से करेगा। गाँधी के सर्वोदय विचार में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों का अधिक महत्त्व है। कर्तव्यों का पालन करने से अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार विनोबा भी सदैव कर्तव्यों का पालन के महत्त्व पर बल देते हैं। इस संबंध में उनका विचार था कि अगर केवल अधिकारों का आग्रह रखें और कर्तव्यों को नजर-अन्दाज कर दें तो चारों तरफ हिंसा का वातावरण उपस्थित हो जायेगा और अव्यवस्था फैल जायेगी। यदि अधिकारों के आग्रह के बजाय हर-एक अपने कर्तव्यों का पालन करें तो मानव-जाति में जल्द ही व्यवस्था का राज्य स्थापित हो जायेगा, जिससे सर्वोदय के उद्देश्यों को पूरा होने में भी आसानी होगी।

गाँधीजी ने अपने समानता के दृष्टिकोण में अधिकार संबंधी व्याख्या को अपने दर्शन में प्रमुख स्थान दिया। वस्तुतः उनका सम्पूर्ण जीवन अधिकारों की प्राप्ति के लिए ही समर्पित था। ईश्वर की सर्वोच्चता में आस्था रखने के कारण वे मानवीयता, समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व में विश्वास रखते थे और यही अधिकार उनके राजनीतिक दर्शन के निष्कर्ष थे।

गाँधी मानते थे कि अधिकारों के प्रयोग द्वारा व्यक्ति अपने श्रेष्ठत्व को प्राप्त करता है और इन अधिकारों में अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता का अधिकार सर्वोपरी है तथा अधिकारों के उपभोग में समानता के अधिकार की प्राथमिकता है। वे स्वीकारते थे कि व्यक्ति के विकास के लिए नागरिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक अधिकारों की आवश्यकता है। इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की नीति के विरुद्ध विद्रोह किया। अस्पृश्यता के अन्त के लिए उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया और अंग्रेजों से भारत को मुक्ति दिलाने के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। अधिकारों की प्रकृति के संबंध में गाँधी आध्यात्मिक व नैतिक श्रेणी के अधिकारों को ही स्वीकारते थे। उनके अनुसार राजनीतिक, सामाजिक, वैयक्तिक, नागरिक अधिकार भी नैतिकता की कसौटी पर खरे उतरने के बाद ही अधिकारों की श्रेणी में आते हैं और वे तभी व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक होते हैं। गाँधी ने कहा कि अधिकारों का सृजन राज्य या किसी दूसरे समुदाय द्वारा नहीं होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति सत्य और अहिंसा को साधना के अधिकारों के लिए योग्यता प्राप्त कर लेता है, वैसे-वैसे उसको अधिकार मिलते जाते हैं। राज्य और सरकार केवल अधिकारों को मान्यता देते हैं। गाँधी का मत था कि राज्य जितना अधिक अहिंसक होगा, उतने ही अधिक व्यक्ति के अधिकार होंगे। उनके शब्दों में “असत्यपूर्ण व हिंसक साधनों का स्वाभाविक परिणाम है—विरोध को विरोधियों के विनाश द्वारा हटाना”। इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की वृद्धि नहीं होती। केवल शुद्ध अहिंसक व्यवस्था में ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता की पूर्ण रूप से पूर्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों में उनकी नैतिक

क्षमता अर्थात् उनके द्वारा प्राप्त की गई अहिंसा के स्तर के अनुसार अन्तर होता है। यदि अहिंसा पर आक्रमण हो तो उसका उचित साधन है—अहिंसक असहयोग। अधिकारों के सामाजिक कल्याणकारी सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए लास्की के समान गाँधी भी मानते थे कि व्यक्ति को अधिकार उसके वैयक्तिक विकास मात्र के लिए नहीं दिये जाते, बल्कि उसे अधिकार इसलिए प्राप्त हैं कि वह उनका उपभोग करते हुए समाज-कल्याण की अभिवृद्धि करे। इस प्रकार सामाजिक कल्याण की भावना ही अधिकारों की आधारशिला है।

4.6.1 अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध

यद्यपि गाँधी के विचारों में अधिकार द्वारा व्यक्ति की श्रेष्ठता प्राप्त की जा सकती है, तथापि अधिकारों की अपेक्षा वे कर्तव्य को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार अधिकार का अर्थ है—आत्मानुभूति का अवसर मिलना और आत्मानुभूति का अर्थ है दूसरों की सेवा तथा उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करके उनके साथ आध्यात्मिक एकता की अनुभूति कराना। इस तरह प्रत्येक अधिकार अपने कर्तव्य पालन करने का अधिकार है। इसलिए गाँधी ने कहा—“अपने कर्तव्य पालन करने का अधिकार एकमात्र ऐसा अधिकार है, जिसके लिए मनुष्य जी सकता है, मर सकता है। इसमें सभी अधिकारों का समावेश हो जाता है।”

गाँधी कहते हैं कि ऐसा कोई भी कर्तव्य नहीं है जो अनुरूप अधिकारों को जन्म नहीं देता है और न ही वे सच्चे अधिकार हैं, जिनका जन्म कर्तव्य से न होता हो। इसलिए सच्ची नागरिकता के अधिकार उन्हीं को मिलते हैं जो राज्य की सेवा करते हैं और वे ही समुचित अधिकारों का प्रयोग भी करते हैं। गाँधी कहते हैं कि जिन व्यक्तियों को अपने कर्तव्य पालन के फलस्वरूप अधिकार मिलते हैं वे उनका उपयोग अपने लिये न करके समाज व देश सेवा के लिए करते हैं। गाँधी अधिकारों का मूल स्रोत कर्तव्य को मानते हुए कर्तव्य पालन पर अधिक बल देते हैं तथा केवल उन्हीं अधिकारों को मान्यता देते हैं, जो कर्तव्य पालन से प्राप्त होते हैं। व्यक्ति की स्वार्थमूलक प्रकृतियों की अपेक्षा समाज सेवा पर जोर देते हुए गाँधी स्वावलम्बन की ओर प्रेरित करते हैं और व्यक्ति से यह अपेक्षा करते हैं कि सभी के साथ आध्यात्मिक एकता का अनुभव करते हुए तथा अपने आत्मोत्थान के लिए गतिशील रहते हुए वह अपने अधिकारों का प्रयोग समाज हित के लिए करेगा।

4.7 गाँधी : समानता और वर्णाश्रम

मानव जीवन की समग्रता के आधार पर गाँधी ने अपने जीवन-दर्शन के प्राण तत्त्व सत्य-अहिंसा को मनुष्य के प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक बनाया। सामाजिक जीवन में नैतिकता को प्रतिष्ठापित कर उन्होंने एक आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की। गाँधी ने इसे सर्वोदय समाज की संज्ञा प्रदान की। यह एक ऐसा समाज होगा, जिसमें सभी स्वेच्छा से नैतिक नियमों का पालन करेंगे, जो पूर्णरूपेण सामाजिक सामंजस्य, संतुलन व पारस्परिक सहयोग पर आधारित होगा। इस लक्ष्य में अधिकतम रूप में सभी का सम्पूर्ण कल्याण होगा। वस्तुतः सामाजिक क्षेत्र में गाँधी का आदर्श विषमता रहित, शोषण रहित, न्यायपूर्ण व समानता पर आधारित समाज था। अपने इसी आदर्श समाज की संकल्पना को मूर्त रूप देने हेतु सामाजिक संगठन में उन्होंने वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता को स्वीकार किया।

गाँधी ने हिन्दू धर्म के एक प्रमुख आधार के रूप में वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया। उन्होंने कहा—प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ लेकर जन्म लेता है। इसी तरह प्रत्येक आदमी की योग्यताओं की कुछ निश्चित सीमाएँ होती हैं, जिनका उल्लंघन कर पाना या जीतना सम्भव नहीं होता है। इन्हीं सीमाओं को ध्यान में रखकर वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ है। गाँधी के अनुसार वर्ण धर्म के दो अर्थ होते हैं—एक अर्थ में यह नीति सम्मत आजीविकाओं का सूचक है जो किसी कुटुम्ब विशेष में जन्म लेने के कारण कर्तव्य की भावना से ग्रहण किया जाता है। इसका अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्वजों के संस्कारों व परम्पराओं से मिली आजीविका को ग्रहण करना चाहिए तथा बचा हुआ धन समाज हित में लगाने का दायित्व निभाना चाहिए। प्रत्येक को अपने पुरखों द्वारा प्राप्त आनुवांशिक व्यवसाय का वहाँ तक निर्वाह करना चाहिए, जहाँ तक वह आधारभूत नैतिकता के विरुद्ध न जाता हो। वर्ण धर्म के अनुसार ब्राह्मण का कर्तव्य ब्रह्मा को पहचानने और उसका उपदेश कर धर्म भाव से जीने का है। क्षत्रिय का कर्तव्य जनता का पालन, उनकी रक्षा तथा मर्यादित रूप से उसके लिए द्रव्य लेना है। वैश्य का प्रजा पालन के लिए व्यवसाय करने का अधिकार है तथा शूद्र का कर्तव्य धर्म

समझकर सभी की सेवा करना है। साथ ही सभी का यह कर्तव्य भी है कि अपनी आवश्यकता पूर्ति के बाद बचे हुए धन को समाज सेवा के कार्य में लगाएँ।

वर्ण-धर्म का दूसरा अर्थ गाँधी ऐसे धर्म से लगाते हैं, जिसमें सभी वर्णों के बीच आपस में ऊँच-नीच का भेदभाव न पैदा कर समानता का भाव पैदा किया जाता है। गाँधी के अनुसार वर्णाश्रम धर्म बताता है कि दुनिया में मनुष्य का सच्चा लक्ष्य क्या है? उसका जन्म इसलिए नहीं हुआ है कि वह रोज-रोज ज्यादा से ज्यादा पैसा इकट्ठा करने के तरीकों व साधनों की खोज करे। उसका जन्म तो इसलिए हुआ है कि वह अपनी शक्ति का प्रत्येक अणु ईश्वर को जानने में लगाएँ। इसलिए वर्णाश्रम धर्म कहता है कि अपने शरीर के निर्वाह के लिए अपने पूर्वजों का ही धंधा पर्याप्त है।

गाँधी जन्म और कर्म दोनों को ही वर्ण की सदस्यता का आधार मानते हैं। उनके अनुसार किसी वर्ण की सदस्यता का सर्वोत्तम आधार यह है कि व्यक्ति जिस वर्ण में जन्म ले, उसी वर्ण के कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक निभाएँ। गाँधी के अनुसार “वर्ण का निर्णय तो जन्म के द्वारा होता है किन्तु उसका संरक्षण उसके कर्तव्यों का पालन करके ही किया जा सकता है। ब्राह्मण माता-पिता का पुत्र ब्राह्मण ही होगा, किन्तु यदि वयस्क होने पर उसके जीवन में ब्राह्मणोचित गुण अभिव्यक्त नहीं हुए तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। यदि वह किसी और वर्ण के कार्य में कुशल है व उसे कुशलतापूर्वक निभाने की इच्छा रखता है तो वह संबंधित वर्ण का कहलाएगा, ब्राह्मण नहीं।”

गाँधी इस परम्परागत विचार का निषेध करते थे कि शारीरिक श्रम द्वारा आजीविका कमाना किसी एक वर्ण विशेष का ही कर्तव्य है। गाँधी का मत था कि प्रथम तीनों वर्णों को अपने परम्परागत वर्ण संबंधी कर्मों (दायित्वों) को सामाजिक सेवा के रूप में अपनाना चाहिए, किन्तु उन्हें भी अपनी आजीविका शारीरिक श्रम द्वारा अर्जित करनी चाहिए। गाँधी के अनुसार इस प्रकार चार वर्ण तो बने रहेंगे और वर्ण आधारित कोई भेदभाव भी नहीं किया जाएगा। गाँधी के अनुसार शारीरिक परिश्रम से दो लाभ होंगे, पहला सामाजिक समानता बढ़ेगी और दूसरा आर्थिक समानता की स्थापना होगी।

4.8 गाँधी : समानता और आश्रम धर्म

हिन्दू धर्म मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास चार आश्रमों में बाँटता है तथा प्रत्येक आश्रम के लिए अलग-अलग कर्तव्यों का विधान करता है। जीवन के प्रथम 25 वर्ष पुरुष के लिए व 18 वर्ष स्त्रियों के लिए की अवस्था ब्रह्मचर्यावस्था कहलाती है। इसमें व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य विद्याध्ययन और इन्द्रिय संयम के द्वारा पवित्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करना है। यह आध्यात्मिक दृष्टि से मुख्य अवस्था है, जिसमें प्रवेश के बिना कोई आगे नहीं बढ़ सकता। गृहस्थ आश्रम में मुख्य कर्तव्य राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाना है। विवाह आदि के माध्यम से संतति को आगे बढ़ाना है। इस आश्रम में भोग-विलास को अधिक महत्त्व दिया गया है। लेकिन गाँधी इस विचार का विरोध कर संयम और सादगी की आवश्यकता पर बल देते हैं। परन्तु जो संयम के बाद भी भोग-लिप्सा के आकर्षण को रोक नहीं सकते, इनके लिए भोगों की मर्यादा और उनकी सेवन-विधि का विधान किया गया है। मनुस्मृति का यह विचार गाँधी को मान्य नहीं था कि स्त्री-पुरुष को ऋतुगामी होना ही चाहिए। गाँधी के अनुसार “स्त्री-पुरुष में से कोई भी एक इन्द्रिय-संयम की इच्छा रखता है तो दूसरे को कष्ट सहकर भी उसका साथ देना चाहिए।” गाँधी के अनुसार, “संयमपूर्वक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने पर ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार मिल सकता है।” गाँधी वानप्रस्थी उसे कहते हैं कि जिसने अपनी इन्द्रियों को संयमित कर लिया है, परन्तु राग-द्वेष पर विजय प्राप्त नहीं की है। राग-द्वेष को पूर्णतः जीतने वाला तथा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य का मन, वचन, कर्म से पालन करने वाला गाँधी के अनुसार संन्यासी है। संन्यासी निष्काम भाव से सेवा करता है व भिक्षा के आधार पर अपना जीवन-यापन करता है। गाँधी के अनुसार प्रत्येक आश्रम सीढ़ी के समान एक-दूसरे से सम्बद्ध है। प्रत्येक सोपान से गुजरने के बाद ही कोई दूसरे सोपान तक पहुँच सकता है। इन चारों आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार प्रत्येक वर्ण के सदस्य को है।

4.9 गाँधी : समानता और आर्थिक दर्शन

गाँधी के आर्थिक विचार उनके अध्यात्मवाद और अहिंसा की अवधारणा पर आधारित रहे हैं। गाँधी की अहिंसक अर्थव्यवस्था के चिंतन को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध गाँधीवादी अर्थशास्त्री जे. सी. कुमारप्पा ने लिखा

है—“गाँधीजी के अर्थशास्त्र के सिद्धान्त जैसी कोई वस्तु नहीं है। गाँधी के लिए अर्थशास्त्र जीवन-प्रणाली का एक अंग है। गाँधीजी की समस्त आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मान्यताओं पर केवल दो शाश्वत सिद्धान्तों का शासन है और वे दो सिद्धान्त हैं—सत्य एवं अहिंसा। यह कहना पर्याप्त होगा कि गाँधी ने जिस प्रकार सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में लागू किया है, उसी प्रकार उनके आर्थिक विचार भी सत्य एवं अहिंसा पर अवलम्बित हैं। गाँधी के विभिन्न आर्थिक विचारों, यथा—सर्वोदय, स्वदेशी, औद्योगिकरण, शरीर-श्रम, विकेन्द्रीकरण, ट्रस्टीशिप, इच्छाओं का अल्पीकरण आदि के मूल में अहिंसा के भाव सन्निहित हैं। आर्थिक सन्दर्भों में गाँधी ने अहिंसा को समानता, मानव कल्याण, त्याग, न्याय आदि रूपों में व्याख्यायित किया है।

4.9.1 समता और सामाजिक न्याय

तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर गाँधी ने यह अनुभव किया कि आर्थिक जीवन में हिंसा का स्वरूप उग्र हो रहा था, प्रतियोगिता की शक्ति बढ़ रही थी, केन्द्रीय उत्पादन पद्धति में बढ़ोतरी हो रही थी, मनुष्य आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण की मांग कर रहा था, सुरक्षा व न्याय की अपेक्षा तीव्र गति से बढ़ रही थी और साथ ही विज्ञान की दासता को मनुष्य स्वीकार करने लगा था। मांग और पूर्ति के संतुलन के निर्जीव सिद्धान्त पर अर्थशास्त्र गतिमान था। गाँधी ने देश की तत्कालीन गरीबी की समस्या, मध्यकालीन भूमि व्यवस्था, रूढ़िग्रस्त आर्थिक व्यवस्था, हासोन्मुख उद्योगों की दयनीय स्थिति को देखते हुए समाधान के लिए मानव कल्याणकारी मार्ग का प्रतिपादन किया। गाँधी ने ‘सादा जीवन उच्च विचार’ के आधार पर उपभोग की व्याख्या की, कौटुम्बिक उत्पादन का अर्थशास्त्र रचा, वैयक्तिक जीवन के अर्थशास्त्र को सामाजिक जीवन के अर्थशास्त्र में नये ढंग से निहित करके सहयोगी अर्थशास्त्र की कल्पना की, प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने का दर्शन दिया। विज्ञान तथा आर्थिक जीवन को संघर्ष से निकालकर सहकार में बांधकर उसे कल्याणकारी बना दिया। गाँधी ने आर्थिक क्रियाओं को कल्याणकारी क्रियात्मक स्वरूप प्रदान कर एक ऐसे समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की, जहाँ ऊँचे-नीचे का भेद नहीं होगा व सभी के कल्याण का चिंतन होगा। ऐसी व्यवस्था को “स्वराज” का नाम देकर गाँधी ने स्पष्ट किया कि “स्वराज शब्द का अर्थ स्वयं और उसकी प्राप्ति के साधन यानि ‘सत्य’ और ‘अहिंसा’, जिनका पालन करने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं—ऐसी किसी संभावना को असंभव सिद्ध करते हैं कि हमारा स्वराज किसी के लिए तो अधिक होगा और किसी के लिए कम, किसी के लिए लाभकारी होगा और किसी के लिए हानिकारी या कम लाभकारी।”

अर्थशास्त्र को लोक-कल्याणकारी स्वरूप प्रदान करने के लिए गाँधी ने समाज में समता और सामाजिक न्याय की स्थापना के पहलुओं पर चिंतन प्रस्तुत किया। समाज में व्याप्त वर्ग-संघर्ष की अर्थनीति को अमान्य कर उन्होंने मनुष्य-मनुष्य में भेद एवं संघर्ष की नींव को ही समाप्त कर दिया। वर्ग संघर्ष की अर्थनीति पर विचार प्रस्तुत करते हुए गाँधी ने कहा—“मैंने यह कभी नहीं कहा कि शोषकों और शोषितों में सहयोग होना चाहिए। जब तक शोषण और शोषण करने की इच्छा कायम है, तब तक सहयोग नहीं हो सकता। अलबत्ता मैं यह नहीं मानता कि सब पूंजीपति और जमींदार अपनी स्थिति की किसी आन्तरिक आवश्यकता के फलस्वरूप शोषक ही हैं और न मैं यह जानता हूँ कि उनके और जनता के हितों में कोई बुनियादी या अकाट्य विरोध है। हर प्रकार का शोषण शोषित के सहयोग पर आधारित है, फिर वह सहयोग स्वेच्छा से दिया जाता हो या लाचारी से। हम इस सच्चाई को स्वीकार करने से कितना ही इनकार क्यों न करें, फिर भी सच्चाई तो यही है कि यदि लोग शोषक की आज्ञा न मानें तो शोषण हो ही नहीं सकता। लेकिन उसमें स्वार्थ आड़े आता है और हम उन्हीं जंजीरों को अपनी छाती से लगाये रहते हैं जो हमें बांधती हैं। यह चीज बंद होनी चाहिए। जरूरत इस बात की नहीं है कि पूंजीपति और जमींदार खत्म हो जाएँ, उनमें और आम लोगों में जो संबंध हैं, उसे बदलकर ज्यादा स्वस्थ और शुद्ध सम्बन्ध बनाने की जरूरत है।”

4.9.2 उपभोग एवं उत्पादन

उपभोग एवं उत्पादन के क्षेत्र में समानतावादी विचार प्रकट करते हुए गाँधी ने कहा जब तक सभी लोगों की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी न हो जाएँ, तब तक उच्च एवं मध्यम वर्ग के उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन बंद कर देना चाहिए। उनका मानना था कि जीवनदायिनी वस्तुओं की उपलब्धि सभी को सम्मानपूर्वक प्राप्त

है। यह प्रकृति का नियम तो है ही, साथ ही मानव समाज के कल्याण के लिए भी यह अत्यावश्यक है। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षा अधिकतम उपभोग की रहती है और अनवरत इसी 'अधिकतम उपभोग' की चाह लेकर व्यक्ति समाज के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ता है। लेकिन दूसरी ओर विकास मूलतः अधिकतम उत्पादन पर निर्भर करता है। मनुष्य की उपभोग की प्रवृत्ति के कारण अधिक उत्पादन की आधारशिला समाज में गौण हो जाती है और अधिकतम उपभोग की प्रवृत्ति बलवती हो जाती है। परिणामतः समाज में अन्याय, शोषण एवं अनैतिक गतिविधियों को बढ़ावा मिलता है। अतः गाँधी ने यह विचार व्यक्त किया था कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण करके एवं सादगीपूर्ण जीवन जीकर अपनी उपभोग की प्रवृत्ति पर संयम करना चाहिए तथा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के प्रयास किए जाने चाहिए। उत्पादन के क्षेत्र में गाँधी ने "जनता के लिए जनता द्वारा उत्पादन" पद्धति द्वारा विकेंद्रित उत्पादन का विचार प्रस्तुत कर उत्पादन को समानतावादी स्वरूप प्रदान किया। गाँधी का मानना था कि वस्तुओं को कम से कम लागत में उत्पादित कर उनकी कीमत को कम करने और अधिक आवश्यकताओं को पूरा करने के निरन्तर प्रयास किए जाने चाहिए। वस्तुओं के उत्पादन में तीन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए, प्रथम-उत्पादन समाज के लोगों को सुलभ हो व साधारण मनुष्य की पहुँच से बाहर न हो, दूसरी-उत्पादन समाज और प्रकृति के लिए समस्याएँ पैदा ना करे एवं तीसरी-नए उत्पादनों की खोज आय की वृद्धि का कारण न बने।

गाँधी का मानना था-राजनैतिक समता उतनी प्रभावकारी नहीं है, जितनी आर्थिक और सम्मानपूर्वक, जीवन हेतु सामाजिक समता का होना बहुत ही आवश्यक है। समता का पूर्ण लाभ तभी प्राप्त होगा। जब सामाजिक समता अन्य समताओं के साथ प्राप्त होगी। इससे वितरण के क्षेत्र में समानता का अर्थशास्त्र पूर्ण होता है।

4.9.3 ट्रस्टीशिप : आर्थिक समानता का दर्शन

गाँधी का अहिंसात्मक आर्थिक चिंतन मूलतः पूर्ण समानता के आदर्श पर आधारित है। उनके अनुसार जब तक समाज के वर्गों में ऊँच-नीच का भेद बना रहेगा तब तक सर्वोदय की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। आर्थिक समानता की व्याख्या को स्पष्ट करते हुए गाँधी ने कहा था-"आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूँजी और मजदूरी के बीच के झगड़े को हमेशा के लिए मिटा देना। जिसका अर्थ यह होता है कि एक ओर जिन मुट्टी भर पैसे वाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है। उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर जो करोड़ों लोग अधपेट खाते और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्टी भर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच बेइन्तहा अन्तर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राजव्यवस्था कायम नहीं हो सकती।" स्पष्ट है कि गाँधी की आर्थिक समानता की भावना इसमें निहित है कि समाज के पूँजीपति और श्रमिक दोनों ही वर्गों की समाप्ति।

4.9.4 विकेंद्रीकरण एवं स्वावलम्बन की नीति

गाँधी ने औद्योगिकीकरण पर आधारित केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था को प्रकृति से हिंसक, अनैतिक एवं अमानवीय मानते हुए इसके विकल्प के रूप में अहिंसक अर्थव्यवस्था के चिन्तन को प्रस्तुत किया था। इस अर्थव्यवस्था से उनका आशय एक ऐसी व्यवस्था से था जिसका संचालन मानवीय सहयोग एवं सद्भाव से होता है, न कि संघर्ष एवं प्रतियोगिता से। गाँधी ने इस अहिंसक अर्थव्यवस्था को विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था का नाम दिया, क्योंकि यह आर्थिक दृष्टि से ऐसे विकेंद्रित ढाँचे वाली है, जहाँ उत्पादन एवं वितरण की दृष्टि से ग्राम-समाज आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी होंगे। अतः इस अर्थव्यवस्था को स्वावलम्बी एवं आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के नाम से भी पुकारा जाता है। यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था का स्वरूप है, जहाँ उत्पादन एवं वितरण का आधार जनसहयोग है। आर्थिक क्षेत्र में आत्म-निर्भर ग्राम-समाज एक आदर्श के रूप में स्वीकारा जाता है। अर्थव्यवस्था का स्वरूप विकेंद्रित होता है। मानव श्रम की प्रधानता के कारण सभी को रोजगार प्राप्त हो, जन-समुदाय आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति मात्र से संतुष्ट हो एवं इस अर्थव्यवस्था का निर्माण देश की जलवायु, भूमि एवं संस्कृति के अनुरूप किया जाता है।

4.9.5 आर्थिक स्वतन्त्रता और विकेन्द्रीकरण

गाँधी का मानना था कि जब व्यक्ति मूलतः स्वतन्त्र और सुव्यवस्थित होगा तभी समाज के प्रत्येक अंग का स्वाभाविक विकास हो सकता है। इसी कारण वे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण के पक्षधर थे। उनके अनुसार शक्ति और अधिकार का विकेन्द्रीकरण, स्वार्थ और हित का विकेन्द्रीकरण तथा पूंजी और उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। विकेन्द्रीकरण हो ताकि समाज का प्रत्येक वर्ग ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके, जिसमें जीवन के संचालन के लिए किसी पर निर्भर न रहना पड़े, साथ ही किसी वर्ग विशेष का हित दूसरे वर्ग के विकास व उसके हित में भी बाधक न बने। गाँधी के अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना सामाजिक स्वतन्त्रता का उदय होना सम्भव नहीं है। आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य किसी पर निर्भर न हो तथा उत्पादन एवं व्यवस्था का संचालन उसी के हाथ में हो।

4.9.6 विकेन्द्रित ग्रामीण अर्थरचना

गाँधी ने भारत को गाँवों का देश माना है। अतः जब तक गाँव की व्यवस्था स्वतन्त्र नहीं रहेगी तब तक राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं है। जब तक ग्रामीण अर्थव्यवस्था शहरों पर निर्भर रहेगी तब तक देश का वास्तविक विकास सम्भव नहीं है। वर्तमान की समस्त आर्थिक संरचना शहरों और केन्द्रीकरण के जाल में जकड़ी हुई है। गाँधी ने कहा था—“आप कारखानों की सभ्यता पर अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते, लेकिन वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी गाँवों के आधार पर निर्माण की जा सकती है। मेरी कल्पना की ग्रामीण अर्थ-रचना शोषण का सर्वथा त्याग करती है और शोषण हिंसा का सार है।” गाँधी का मानना था—प्राचीन ग्रामीण समुदायों की पुनर्स्थापना की जाए तथा उसमें समृद्धिशाली कृषि, विकेन्द्रित उद्योग व छोटे पैमाने के सहकारी संगठन स्थापित हों जिसमें सभी स्तर के व्यक्तियों की सहभागिता हो।

4.9.7 सामाजिक समानता का साधन

गाँधी ने रोटी के लिए शारीरिक श्रम को व्यक्ति तथा समाज अर्थात् सम्पूर्ण मानवता के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। उनका मत था कि शरीर श्रम के धर्म की अनुपालना से समाज में ऐसी अहिंसक क्रान्ति होगी जहाँ परस्पर, सेवा के द्वारा मानव धर्म की संस्थापना होगी। गाँधी पूंजी पर आधारित निर्भरता को समाप्त कर पूंजी निवेश के बदले श्रम निवेश को श्रेयस्कर मानते थे। उनका मानना था कि इससे समाज में समानता आएगी और वर्ग-संघर्ष, वर्ग-भेद एवं भूखमरी को दूर करने में भी सहायता मिलेगी। उन्होंने देश को सम्पन्न एवं आत्म-निर्भर बनाने के लिए अपनी आर्थिक नीति को यह आधार प्रदान किया था कि प्रत्येक उपभोक्ता उत्पादक हो। रोटी के लिए शारीरिक श्रम के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा था—श्रम न केवल शरीर को स्वस्थ रखता है बल्कि मन को भी प्रेरित करता है। इससे कृषि उपज बढ़ेगी, जिससे न अन्न की कमी होगी व न ही जनसंख्या वृद्धि पर आपत्ति होगी। व्यक्तियों की जीवन पद्धति सादगी प्रधान होगी व सभी सादे भोजन व पोशाक से संतुष्ट होंगे। इससे स्वतः आवश्यकताएँ सीमित हो जायेगी व विलासिता की वस्तुओं की आकांक्षा भी कम हो जाएगी। बुद्धि व श्रम के सहयोग से कृषि-कार्य व मानव अथवा पशु ऊर्जा से चलने वाले लघु यन्त्रों में निरन्तर सुधार होगा। बेरोजगारी, आलस्य, दरिद्रता एवं शोषण का अन्त होगा और भीषण आर्थिक असमानता का अन्त होगा व उससे उत्पन्न आर्थिक अन्याय भी नहीं रहेगा। समाज की आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण से राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण को मजबूती मिलेगी। समाज में व्याप्त सभी व्यवसायों को समान महत्त्व दिए जाने से ऊँच-नीच की भावना का अन्त होगा व सामाजिक सहयोग स्थापित होगा।

4.10 सारांश

महात्मा गाँधी के समानता संबंधी राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारों से स्पष्ट है कि उन्होंने समकालीन विश्व में स्थापित राजनीतिक प्रयोगों या राजनीतिक चिन्तन धाराओं से हटकर समानता संबंधी मौलिक स्वरूप में अपने विचार सामने रखे। उन्होंने उन्हें प्रयोगात्मक कसौटियों पर भी करना और सामान्यतः अव्यावहारिक प्रतीत होने वाली अपनी वैचारिक अवधारणाओं को बड़ी सहजता के साथ प्रयोगात्मक व्यवहार में उतारा। उन्होंने सामाजिक समानता के लिए नैतिक मूल्यों, आध्यात्मिक चेतना, बन्धुत्व भाव, सहिष्णुता, मानवीय

दृष्टि, अहिंसा एवं सत्य, सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सत्याग्रह पर जोर दिया, जिसकी प्रासंगिकता सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक है।

गाँधी ने समाज में व्याप्त असमानता एवं विषमता के प्रचलित चरित्र को बदलने और उसे मानवीय मूल्यों में जोड़ने का चिन्तन किया और उस चिन्तन को क्रियात्मक रूप देने की कोशिश की। वास्तव में गाँधी मानव इतिहास की एक अप्रतिम एवं महान विभूति थे, जिन्होंने सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और शान्ति के विचारों को महत्त्व दिया। अस्पृश्यता निवारण तथा जातीय एवं प्रजातीय विभेदों के निषेध एवं अन्त की कोशिशों के साथ ही सामाजिक समरसता, सहयोग एवं सहकार के प्रयोगों पर बल दिया। वस्तुतः गाँधी ने समानता की समग्रता में समाज व्यवस्था, राजनीतिक संरचना एवं आर्थिक प्रणाली को नैतिक मूल्यों के धरातल पर जिस प्रकार विकसित करने का स्वप्न देखा, वह समूची मानवता को सुख, शान्ति एवं समृद्धि की ओर ले जाने में सहायक है।

4.11 अभ्यास प्रश्न

1. गाँधीजी का 'समानता' से क्या आशय है?
2. गाँधीजी के समानता सम्बन्धी विचारों का वर्णन कीजिये।
3. गाँधीजी की समानता सर्वोदय में निहित है, स्पष्ट करें।

4.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. वर्मा, वी.पी., आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, पाँचवा संस्करण, 2003.
2. त्रिपाठी, कमलापति, बापू और मानवता, सरस्वती मन्दिर, बनारस, 1948.
3. धावन, बी.एन.ए द पॉलिटिकल फिलोसफी ऑफ महात्मा, अहमदाबाद, नवजीवन, 1951.
4. गाँगोली, बी.एन., गाँधी सोशल फिलॉसफी परस्पेक्टिव एण्ड रैलेवेन्स, नई दिल्ली, विकास, 1969
5. कृपलानी, जे.बी., गाँधी व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, 1966
6. कालेलकर, काका, गाँधीजी का जीवनदर्शन, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 2000
7. सिंह, राममूर्ति, महात्मा गाँधी और विश्वशान्ति, साहित्य विकुंज प्रकाशन, इलाहाबाद, 1946
8. सिंह, रामजी, गाँधी-दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973
9. गाँधी, एम.के., ट्रूथ इज गॉड, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1959
10. राय, रामाश्रय, सेल्फ एण्ड सोसाइटी : ए स्टडी इन गाँधीयन थॉट, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1985
11. चतुर्वेदी, डी.एन., गाँधी अर्थनीति, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1991

गाँधी एवं सामाजिक न्याय

इकाई रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 साधन तथा साध्य

5.3 न्याय और संरचनात्मक सुधार

5.3.1 न्याय और राजनीतिक सुधार

5.3.2 न्याय और आर्थिक सुधार

5.3.2.1 नैतिकता पर आधारित अर्थ-व्यवस्था

5.3.2.2 औद्योगीकरण का आधार शोषण

5.3.2.3 कुटीर उद्योगों का समर्थन

5.3.2.4 आर्थिक समानता

5.3.2.5 ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

5.3.3 न्याय और समाज

5.3.3.1 सर्वोदय

5.3.3.2 अस्पृश्यता का समाधान

5.3.3.3 गाँधी एवं शिक्षा

5.3.3.3.1 विद्यमान शिक्षा प्रणाली के दोष

5.3.3.3.2 गाँधी की शिक्षा व्यवस्था

5.3.3.4 गाँधी एवं स्त्रियाँ

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास प्रश्न

5.7 सदरभ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप :-

- प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत गाँधी के सामाजिक न्याय संबंधी विचारों समझ सकेंगे।
- गाँधी की सामाजिक न्याय संबंधी विचार के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक को समझ सकेंगे।
- समझ सकेंगे कि गाँधी की सामाजिक न्याय कुछ संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक व्यवस्थाओं और नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित है।
- समझ सकेंगे कि गाँधी की सामाजिक न्याय सर्वोदय समाज में निहित है।

5.1 प्रस्तावना

एक परम्परागत गुजराती वणिक् परिवार के सदस्य के रूप में जीवन की शुरुआत करने वाले मोहन दास कर्मचन्द गाँधी ने तत्कालीन मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति और आकांक्षाओं के अनुरूप इंग्लैण्ड से “बैरिस्टर” की उपाधि प्राप्त की और इसे आजीविका के साधन के रूप में प्रयुक्त करने के सिलसिले में अफ्रीका गये तो यहां से शुरुआत हुयी जीवनलक्ष्य परिवर्तन की। अफ्रीका में उन्होंने उस अन्याय और अत्याचार को देखा जो वहाँ

गोरी सरकार रंग और जाति भेद के आधार पर प्रवासी भारतीयों पर कर रही थी। डर्बन से प्रिटोरिया जाते समय रात मैरिट्सबर्ग स्टेशन पर प्रथम दर्जे के रेल के डिब्बे से उतार दिये जाने की सर्वविदित घटना इस दिशा में निर्णायक सिद्ध हुयी। अपने अपमान के बारे में व्यग्र होकर वह जितना ही सोचते गये, एक इस्पाती दृढ़ता और निश्चय उनमें उतना ही बलवान होता गया। इस घटना को वह अपने जीवन का सबसे सृजनशील और नियामक अनुभव मानते थे। उसी क्षण से उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के शासकीय और वर्ण विद्वेषक सामाजिक अन्याय के खिलाफ कमर कस ली।

इस प्रकार गाँधी स्वयं अपमान, उपेक्षा का शिकार होने तथा अपने हिन्दुस्तानी भाईयों को सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक अधिकार दिलाने के संघर्ष के लिए समर्पित हो गये। स्वयं उन्हीं के शब्दों में —‘इस प्रकार मैं हिन्दुस्तानी समाज की सेवा में ओत-प्रोत हो गया, उसका कारण आत्म दर्शन की अभिलाषा थी। ईश्वर की पहचान सेवा से ही होगी, यह मान कर मैंने सेवा धर्म स्वीकार किया था।

गाँधी ने अफ्रीका प्रवास के दौरान ही सभी धर्म पुस्तकों का अध्ययन कर लिया था। रस्किन की अनटु दिस लास्ट से गाँधी ने “सर्वोदय” का विचार ग्रहण किया, जिसे उनके सामाजिक न्याय की अवधारणा का मुख्य आधार माना जा सकता है। गाँधी ने जीवन के सभी पक्षों (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक) की गतिविधियों का मार्गदर्शन का उसके अंतिम ध्येय, ईश्वर प्राप्ति को माना है अतः सभी मानवों की सेवा उसे पाने के प्रयास का आवश्यक अंग बन जाती है।

गाँधी मूलतः मानवतावादी होने के कारण, भारतीय समाज में कुरीतियों व अंधविश्वासों पर आधारित व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति जन्म, लिंग या व्यवसाय के आधार पर किये जाने वाले असमानतापूर्ण दुर्व्यवहार का विरोध किया तथा भारतीय समाज में व्याप्त इन बुराइयों को दूर करने के लिए कार्य तथा विचार प्रस्तुत किया। उनका मानना था कि सम्पूर्ण मानव एक ही परिवार के सदस्य हैं। धर्म जाति, समुदाय तथा राष्ट्रों के द्वारा मानव-मानव के मध्य किये गये भेद में वे विश्वास नहीं करते थे तथा सभी मानवों में पूर्ण समानता के पक्षधर थे। एक बार एक अंग्रेज ने गाँधी से कहा कि वे भारतीय होने के नाते भारतीयों को स्वाभाविक रूप से अन्य देशों के लोगों की अपेक्षा ज्यादा प्रेम करते होंगे। वह गाँधी का यह जवाब सुनकर आश्चर्य चकित रह गये कि— मैं अपने देशवासियों तथा अन्य देशों के लोगों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं करता। मैं बिना जाति, धर्म तथा राष्ट्रीयता के सम्पूर्ण मानव जाति से प्रेम करता हूँ। यदि मैं अपने देशवासियों की सेवा करता हूँ तो ऐसा इसलिए कि यह मेरे लिए आसान है।

गाँधी ने सदियों से दमित तथा पीड़ित समाज के दो मुख्य वर्गों को न्याय दिलाने का प्रयास किया, ये वर्ग थे— अछूत वर्ग तथा महिला वर्ग।

5.2 साधन तथा साध्य

समानता तथा न्याय पर आधारित समाज का पुनर्गठन करने के लिए गाँधी ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक व्यवस्था में सुधार के लिए जो विचार प्रस्तुत किये, उनका अवलोकन करने से पूर्व यह देखना आवश्यक होगा कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने किस प्रकार के साधनों को औचित्यपूर्ण माना है।

साधन तथा साध्य को अलग-अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि ये दोनों मिलकर ही नैतिक जीवन का निर्माण करते हैं। यह केवल नैतिक सिद्धान्त न होकर मनोवैज्ञानिक सत्य है। गाँधी के अनुसार, साध्य तथा साधन को पृथक् करने वाली कोई दीवार नहीं है। साधन बीज तथा साध्य पेड़ के समान हैं और पेड़ तथा बीज के समान ही इन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। यही कारण है कि गाँधी के राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक विचारों में साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की पवित्रता को अपरिहार्य माना गया है।

गाँधी ने साध्य तथा साधन की एकाग्रता के सिद्धान्त का निरूपण करके क्रांतिकारी कार्य किया है तथा सत्य और अहिंसा की, मानव जीवन तथा सामाजिक सम्बन्धों की आधार शिला के रूप में पूर्व कल्पना की है। उनका कहना था कि यदि मेरे देश के विकास के लिए असत्य तथा हिंसा आवश्यक है तो मेरे देश की अवनति होने दो। मैं पूरी दुनियाँ की कीमत पर भी सत्य तथा अहिंसा की कुर्बानी नहीं दे सकता। सत्य की कीमत पर मैं देश की सेवा नहीं करना चाहता क्योंकि मैं जानता हूँ कि जो व्यक्ति सत्य को त्याग सकता है वह अपने देश तथा सबसे घनिष्ठ व प्रिय को भी त्याग सकता है।

इस प्रकार गाँधी इस मत पर दृढ़ और अटल थे कि चाहे कितना ही महान् उद्देश्य या बड़ा लाभ अथवा हानि हो अनैतिक साधनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। नैतिक साधनों पर इतना बल दिये जाने का अर्थ यह नहीं था कि बुराई, अन्याय तथा अत्याचार को सहन किया जाय। गाँधी अन्याय का विरोध करते हुये जिये तथा मरे। गाँधी इस तथ्य से भी अवगत थे कि यदि अन्याय का विरोध अहिंसा से न किया गया तो किसी अन्य तरीके से किया जायेगा अतः उनका कहना था कि “मेरा यह विश्वास है कि जहाँ केवल हिंसा तथा कायरता में से किसी एक को चुनना हो तो मैं हिंसा की सलाह दूँगा लेकिन इसके साथ उनका यह भी दृढ़ विश्वास था कि अहिंसा हिंसा से अपार रूप में महान् है।

साध्य व साधन की पवित्रता के प्रबल समर्थक होने के कारण ही गाँधी ने जीवन के हर क्षेत्र में इसे अंगीकार करने तथा उसे आध्यात्मिकता से अभिन्न बताते हुये व्यक्ति की सामाजिक व आर्थिक गतिविधियों का ही नहीं, अपितु राजनीति का भी आध्यात्मिकरण करने की आवश्यकता महसूस की। गाँधी के सामाजिक विचारों में, समस्याओं के जो हल प्रस्तुत किये उसमें साध्य के अनुसार साधनों के प्रयोग व पवित्रता का कोई विकल्प नहीं था।

5.3 न्याय और संरचनात्मक सुधार

समाज के दमित तथा दलित व पिछड़े लोगों को न्याय दिलाने के लिए गाँधी ने विभिन्न सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की साथ ही विभिन्न सामाजिक पक्षों में सुधार के लिए सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक, राजनीतिक व्यवस्था के पुनर्गठन की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है :-

5.3.1 न्याय और राजनीतिक सुधार

गाँधी महान् कर्मयोगी थे, जिनका कार्यक्षेत्र समग्र मानवता की सेवा करना था, अतः वह अपने लक्ष्य – ईश्वर प्राप्ति को, अहिंसा रूपी साधन रूपी साधन द्वारा प्राप्त करना चाहते थे और यह कार्य सच्चे समाजसेवक के रूप में ही पूरा हो सकता था। अतः गाँधी के लिए धर्म, मानवीय कार्यकलापों से पृथक् मात्र कर्मकाण्ड नहीं था, अपितु वह सम्पूर्ण जीवन का नैतिक आधार था। वास्तविक धर्म आसन्न न्याय का सिद्धान्त है और सामाजिक सम्बन्धों में न्याय के नैतिक आधार था। वास्तविक धर्म आसन्न न्याय का सिद्धान्त है और सामाजिक सम्बन्धों में न्याय के नैतिक सिद्धान्तों का क्रियान्वयन ही ‘वास्तविक राजनीति’ है। दोनों का (धर्म तथा राजनीति) आधार नैतिकता या सामाजिक आचार है। जीवन विभिन्न अभेद्य खण्ड में विभाजित न होकर समग्र है यही कारण है कि गाँधी ने राजनीति का नीतिकरण किया। प्रश्न यह उठता है कि गाँधी ने एक मानवतावादी, आध्यात्मिक पुरुष होते हुये भी राजनीति को अपने ‘कर्म’ का आधार क्यों बनाया? स्वयं गाँधी ने इसका कई बार जवाब दिया है। राजनीति उनके जीवन का ध्येय नहीं था, अपितु जनता को, उसके जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति के लिए समर्थ बनाने के विभिन्न साधनों में से एक था। उनका यह मानना था कि राजनीति में भाग लेना इसलिए अनिवार्य है कि राजनीति ने हमारे “सम्पूर्ण जीवन को साँप के समान जकड़ रखा है और कोई कितना ही प्रयास करें वह इस सर्प-समान राजनीति की जकड़न से मुक्त नहीं हो सकता”, वे इस साँप से कुश्ती (संघर्ष) करना चाहते थे।

समाज सुधार के कार्य को वे राजनीतिक कार्य की तुलना में किसी भी प्रकार से कम महत्वपूर्ण या गौण नहीं मानते थे, अपितु उनका राजनीति में भाग लेने का कारण यह था कि एक हद तक राजनीतिक कार्यों की सहायता के बिना सामाजिक कार्य असंभव हो जाता है। अतः उन्होंने राजनीतिक गतिविधियों में उसी सीमा तक भाग लिया जितना कि सामाजिक कार्य के लिए सहायक हो।

इसीलिए उन्होंने स्वीकार किया कि जिसे शुद्ध राजनीतिक कार्य कहा जाता है उसकी अपेक्षा इस प्रकृति (राजनीतिक) का समाज सुधार या आत्म शुद्धिकरण उन्हें सैंकड़ों गुणा प्रिय है।

यही कारण है कि गाँधी ने समाज सुधार पर निरन्तर बल दिया है। उन्होंने कांग्रेस के उग्रवादियों के इस मत को कभी स्वीकार नहीं किया कि पहले स्वाधीनता प्राप्त कर ली जाय, समाज सुधार की समस्या स्वाधीन भारत स्वतः हल कर लेगा। गाँधी का मानना था कि सामाजिक कुरीतियाँ स्वराज की ओर, हमारी गति में बाधक हैं। जितना हमारा समाज-सुधार होगा उतनी ही तीव्र गति से हम अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे। समाज सुधार को स्वराज की प्राप्ति तक स्थगित करने का अर्थ है कि हम स्वराज का अर्थ ही

नहीं समझते। सामाजिक पुनर्गठन तथा राजनीतिक स्वराज के लिए संघर्ष का काम साथ-साथ चलना चाहिए। इन दोनों में प्राथमिकता तथा पार्थक्य का प्रश्न ही नहीं है। नयी समाज व्यवस्था को बलपूर्वक थोपा नहीं जा सकता। ऐसी चिकित्सा रोग से भी बदतर होगी। वे अपने आपको व्याकुल समाज सुधारक मानते थे। वे मौलिक तथा सतत सामाजिक पुनर्गठन की प्रक्रिया चाहते थे लेकिन सब कुछ स्वाभाविक रूप से हो, ऊपर से थोपा न गया हो।

सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक स्वाधीनता को गाँधी द्वारा समान महत्व दिये जाने का कारण यह था कि वे समाज के सभी व्यक्तियों को केवल राजनीतिक रूप से ही स्वतंत्र कराने से संतुष्ट नहीं थे अपितु अपार कुरीतियों, अंधविश्वासों, परम्पराओं तथा धर्मशास्त्रों की अनुपालना के नाम पर भारतीय समाज में व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार, अमानवीय भेदभाव तथा शोषण को समाप्त कर समाज को समानता व न्याय के आधार पर पुनर्गठित करना चाहते थे। उनके समाज सुधार की योजना में रचनात्मक कार्यक्रम का महत्वपूर्ण स्थान था। इसके द्वारा वे गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी को समाप्त कर स्वतंत्रता के साथ ही आर्थिक रूप से देश को सक्षम बनाना चाहते थे। उनके लिए यह महत्वपूर्ण नहीं था कि अत्याचार विदेशी लोगों द्वारा किया जा रहा है या स्वयं इसी देश के लोगों द्वारा, उनका लक्ष्य तो अत्याचार को समाप्त करना था इसीलिए उन्होंने 'अस्पृश्यता' के रूप में सवर्ण हिन्दुओं द्वारा निम्न जातियों पर किये जाने वाले दमन तथा अत्याचार के विरुद्ध आंदोलन चलाया। लेकिन गाँधी ने न तो बल के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्ति का समर्थन किया और ना ही नयी सामाजिक व्यवस्था को बलात् जनता पर थोपने का। दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने जनमत जागृत कर जनता के हृदय परिवर्तन द्वारा जन-आन्दोलन के माध्यम से लक्ष्य प्राप्त करना चाहा। लेकिन इस संदर्भ में एक बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ गाँधी ने विदेशी शासन के हृदय परिवर्तन के लिए बार-बार 'सत्याग्रह' तथा 'उपवास' की शक्ति का प्रयोग किया, वहीं सवर्ण हिन्दुओं को अस्पृश्यता निवारण हेतु बाध्य करने के लिए इन हथियारों का प्रयोग नहीं किया। यद्यपि 1932 में साम्प्रदायिक पंचाट में अस्पृश्यों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिये जाने के विरोध में गाँधी द्वारा आमरण-अनशन किया गया था लेकिन इसका लक्ष्य 'अस्पृश्यता' को समाप्त करना नहीं।

वे केवल अंग्रेजी शासन से मुक्ति को ही स्वराज नहीं समझते थे अपितु उनका मानना था कि औसतन ग्रामीण में यह चेतना आये कि वह स्वयं अपना भाग्यदाता तथा अपने द्वारा चयनित प्रतिनिधि के रूप में स्वयं विधायक है, वहीं वास्तविक स्वराज है। सत्ता के केन्द्रीकरण को लोक हित के विरुद्ध मानने के कारण उन्होंने सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण को ग्रामीण इकाई के आधार पर लागू करने का विचार रखा। वे चाहते थे कि 'स्वराज' गरीब व्यक्ति का स्वराज हो और राजकुमारों तथा पूंजीपतियों के साथ ही आम आदमी भी जीवन की आवश्यकताओं का उपभोग कर सके। इसका अर्थ यह नहीं कि आम आदमी भी जीवन की आवश्यकताओं का उपभोग कर सके। इसका अर्थ यह नहीं कि आम जनता के पास भी भव्य महल हो, यह प्रसन्नता के लिए आवश्यक नहीं है। अपितु जीवन की वे सब सामान्य सुविधायें प्राप्त हों, जिनका धनवान व्यक्ति उपभोग करते हैं, निस्संदेह इसके बिना स्वराज पूर्ण नहीं हो सकता। गाँधी धर्म या नस्ल के भेदभाव के बिना स्वराज के समस्त व्यक्तियों की भलाई का सपना देखते थे। स्वराज किन्हीं विशेष धर्मानुयायियों या पूंजीपतियों के एकाधिकार की वस्तु न होकर सभी के लिए, विशेष तौर से किसान, अंधों, भूखों तथा विकलांग, दलित परिश्रमी अर्थात् असहायों का होगा। गाँधी ने यह सपना देखा था कि 'स्वराज' में हमारी सभी दुर्बलतायें समाप्त हो जयेंगी तथा हमारा समाज मानवतावादी मूल्यों पर आधारित होगा। यद्यपि स्वराज को वे अल्पकाल की व्यवस्था मानते थे, उनका लक्ष्य था- राज्य विहीन समाज जिसमें नैतिक सत्ता की सार्वभौमिकता होगी।

गाँधी ने एक ऐसे राज्य का सपना देखा जिसे उन्होंने रामराज्य का नाम दिया लेकिन इसका अर्थ किसी धर्म पर आधारित राज्य से न होकर ईश्वर के राज्य से था। राजनीतिक दृष्टि से यह पूर्ण प्रजातंत्र है, जिसमें गरीबी और अमीरी, रंग तथा मतमतांतर के आधार पर स्थापित असमानताओं का सर्वथा अन्त हो जाता है। रामराज्य में भूमि तथा राज्य जनता का होगा। न्याय शीघ्र पूर्ण और सस्ता होगा, प्रत्येक व्यक्ति को अपने तरीके से पूजा प्रार्थना, स्वतंत्र विचाराभिव्यक्ति और लेखन की स्वतंत्रता होगी और नैतिक कानूनों के स्वैच्छिक पालन द्वारा ही यह सब होगा।

गाँधी केवल अपने देश के लोगों के लिए ही स्वतंत्रता, समानता और न्याय नहीं चाहते थे बल्कि उनकी

सेवा के कार्य क्षेत्र में सम्पूर्ण मानवता समाहित थी। उनका कहना था कि वे भारत की स्वतंत्रता के लिए जीन-मरने को तैयार हैं, क्योंकि स्वतंत्र भारत ही सम्पूर्ण मानवता की सेवा के लिए खड़ा हो सकता है, लेकिन यह स्वतंत्रता वे किसी अन्य देश के शोषण या पतन के मूल्य पर प्राप्त नहीं करना चाहते थे। वे देश को स्वतंत्र करवाना चाहते थे ताकि अन्य देश उससे कुछ सीख सकें, और देश के संसाधनों का उपयोग मानव जाति के लाभ के लिए किया जा सके। जैसे देश भक्ति की अवधारणा हमें यह शिक्षा देती है कि व्यक्ति को परिवार के लिए, परिवार को गांव के लिए, गांव को जिले को प्रान्त के लिए, प्रान्त को देश के लिए मर जाना चाहिए। इसीलिए एक देश को स्वाधीन हो जाना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर विश्व के कल्याण के लिए वह बलिदान हा सकें।

गाँधी ने अपने जीवन का लक्ष्य सम्पूर्ण मानव समाज के हर व्यक्ति में आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की भावना की स्थापना बताते हुये कहा था कि यदि " मैं मानव-समाज के शारीरिक रूप से कमजोर से कमजोर स्त्री-पुरुष में यह विश्वास जगा सकूँ कि अपने आत्म-सम्मान और स्वतंत्रता का वह स्वयं संरक्षक है, तो मेरा लक्ष्य पूरा हो जायेगा। यह विश्वास इतना दृढ़ होना चाहिए कि संपूर्ण विश्व भी इसे नहीं हिला सकें।

इस प्रकार गाँधी के राजनीतिक विचार भी नैतिकता तथा मानवतावादी आधार पर अवलम्बित थे। राजनीति को उन्होंने सामाजिक न्याय की प्राप्ति तथा मानवता की सेवा के एक साधन के रूप में अपनाया लेकिन सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह जैसे व्यक्तिगत मूल्यों को राष्ट्रीय स्तर पर एक आंदोलन के रूप में परिवर्तित कर उन्होंने राजनीति के मौलिक आधार, प्रकृति तथा उद्देश्य को अपनी अवधारणाओं के सांचे में ढाल लिया। हिंसा को राज्य का अविभाज्य अंग मानकर अस्वीकार कर दिया और एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसके कानून पालन का आधार राज्य, शक्ति, दण्ड या भय न होकर नैतिकता थी। उन्होंने राजनीति तथा स्वराज को निम्नतम व्यक्ति के हित का साधन बनाने का स्वप्न देखा और विश्व बन्धुत्व तथा संपूर्ण मानव समाज की सेवा के लिए राजनीति को साधन के रूप में अपनाने की बात की।

5.3.2 न्याय और आर्थिक सुधार

जीवन के अस्तित्व के लिए अर्थ आवश्यक है। रोटी, कपड़ा और निवास, तीनों मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुद्रा अनिवार्य है। समाज का एक वर्ग करोड़पति हो और दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग जा भर पेट भोजन भी न प्राप्त कर सके, ऐसे समाज को न्याय पर आधारित या नैतिकता पर आधारित समाज नहीं कहा जा सकता। गाँधी ने इस तथ्य पर बल देते हुये विद्यमान अर्थ-व्यवस्था तथा अर्थ-सम्बन्धों में मौलिक परिवर्तन की व्यवस्था दी जिसके परिणामस्वरूप समाज में सभी व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। प्रत्येक व्यक्ति को इतना काम मिले कि वह अपनी इन मूल आवश्यकताओं को पूरा कर सके और यह सभी संभव हो सकता है जबकि इन आवश्यकताओं के उत्पादन के साधनों पर आम जनता का नियंत्रण रहे, जनता को शोषण का माध्यम न बनाया जाय। इस क्षेत्र में किसी देश या व्यक्तियों के समूह का एकाधिकार होना अनुचित तथा अन्यायिक होगा। सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए गाँधी के आर्थिक विचारों के मुख्य पहलू इस प्रकार हैं :-

5.3.2.1 नैतिकता पर आधारित अर्थ-व्यवस्था

राजनीति के समान ही अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में उनका विचार था कि सच्चा अर्थशास्त्र नैतिकता के महान् नियमों के प्रतिकूल हो ही नहीं सकता। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय चाहता है और समाज के प्रत्येक व्यक्ति का हित चाहता है, यहां तक कि दुर्बलतम व्यक्ति का भी सामाजिक हित चाहता है और अच्छे जीवन के लिए आवश्यकता भी है। क्योंकि व्यक्ति में नैतिक बोध होगा तभी वह आर्थिक रूप से परोपकार कर सकता है। नैतिकता के आधार पर अर्थ संचालन करने पर ही व्यक्ति या राष्ट्र शोषण की दुर्भावना का त्याग कर सकता है तथा दूसरे व्यक्ति को भूखा-नंगा रखकर अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने में नहीं लगा रह सकता। इसी आधार पर गाँधी ने आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के विचार का समर्थन किया और कहा कि यदि व्यक्ति ऐसी चीज लेकर रखता है जिसकी उसे तात्कालिक उपयोग के लिए आवश्यकता नहीं है तो वह किसी दूसरे की चोरी करता है। प्रकृति का यह मौलिक नियम है कि वह रोज उतना ही उत्पन्न करती है जितनी हमें जरूरत हो। यदि हर व्यक्ति प्रतिदिन अपनी आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करे तो इस दुनियाँ में न तो गरीबी रहे और ना ही एक भी व्यक्ति भूखा रहे।

5.3.2.2 औद्योगीकरण का आधार शोषण

आधुनिक विज्ञान और तकनीक व्यक्ति के जीवन का अभिन्न अंग बनता जा रहा है और इसे सभ्यता और विकास का चिह्न माना है वहीं गाँधी ने वैज्ञानिक आविष्कारों पर आधारित औद्योगीकरण और मशीनों का तीव्र विरोध किया है। विरोध का आधार है नैतिकता। बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए बहुत अधिक मात्रा में कच्चे माल तथा बड़े बाजारों की खोज की यह प्रवृत्ति साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को जन्म देती है जो शोषण पर आधारित और नैतिकता के विरुद्ध है। इस प्रकार औद्योगीकरण पूर्णतया शोषण की क्षमता पर आधारित है।

गाँधी द्वारा मशीनीकरण के विरोध का मूल कारण यही था कि मशीनों ने ही एक राष्ट्र को दूसरे का शोषण करने में समर्थ बनाया है। मशीनों के कारण ही मानव का शारीरिक तथा नैतिक पतन हुआ है। औद्योगिकरण के परिणामस्वरूप धन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है और बहुसंख्यक वर्ग को अपना जीवन अत्यधिक निर्धनता में व्यतीत करना पड़ता है इसलिए गाँधी ने मशीनों के साम्राज्य को समाप्त करने का दृढ़मत रखा। उनका कहना था कि मशीनें भी कायम रहे लेकिन वे पूर्णतया मानवीय श्रम का स्थान न लें।

5.3.2.3 कुटीर उद्योगों का समर्थन

गाँधी ने औद्योगीकरण के स्थान पर कुटीर उद्योगों का समर्थन किया क्योंकि इसके द्वारा ही भारत के करोड़ों ग्रामीण बेरोजगार, भूखे लोगों को शारीरिक श्रम द्वारा आजीविका का साधन मिल सकता था और उत्पादन जनता के हाथ में आने से अर्थ-व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण होता था जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गांव को एक आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करना था। भारतीय ग्रामों में कुटीर उद्योग के रूप में वे खादी को जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे क्योंकि खादी को वे देश की जनता की आर्थिक स्वतंत्रता तथा समानता की शुरुआत मानते थे। इस प्रकार समाज को सभी प्रकार के आर्थिक शोषण से मुक्त कर सभी सदस्यों को मूलभूत आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए उन्होंने कुटीर-उद्योगों को मुख्य आधार बनाया।

5.3.2.4 आर्थिक समानता

सामाजिक न्याय की स्थापना में आर्थिक पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्र समान अधिकारों की स्वीकृति के बावजूद यदि व्यक्ति भूखा हो तो वह न तो उपर्युक्त अधिकारों के प्रयोग में सक्षम हो सकता है और ना ही अपने अंतिम लक्ष्य 'ईश्वर की प्राप्ति' की ओर अग्रसर हो सकता है अपितु उसकी संपूर्ण एकाग्रचितता तथा प्रयास 'रोटी' की व्यवस्था करने की ओर ही संचालित होंगे। भूखा व्यक्ति पाप नहीं जानता अतः उससे नैतिकता या सदाचार की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यदि व्यक्ति के पास अपार आर्थिक संसाधन हो तो वह भौतिक वैभव में डूबकर अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य को भूल जाता है अतः गाँधी एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के हिमायती थे जिसमें व्यक्ति अर्थोपार्जन को केवल अपना कर्तव्य समझकर व्यवसाय करे तथा अपना संपूर्ण ध्यान और ऊर्जा आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए लगा सके। गाँधी ने स्वयं 'रचनात्मक कार्यक्रम' में आर्थिक समानता का अर्थ समझाते हुये लिखा है कि— "आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ है, पूँजी च मजदूरी की बीच के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर जिन मुट्टी भर धनवानों और करोड़ों लोग अधभूखे और नंगे रहते हैं उनकी संपत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्टी भर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के मध्य अत्यधिक अन्तर रहेगा तब तक अहिंसा पर आधारित राजव्यवस्था कायम नहीं हो सकती।

आर्थिक समानता के साम्यवादियों के सिद्धान्त की आलोचना करते हुये गाँधी का कहना था कि— "साम्यवादी तथा समाजवादी आर्थिक समानता के लिए प्रचार भर कर सकते हैं। इसके लिए लोगों में द्वेष या वैर पैदा करने और उसे बढ़ाने में उनका विश्वास है और सत्ता प्राप्ति के बाद वे लोगों से समानता के सिद्धान्ता पर अमल करवायेंगे जबकि मेरी योजना के अनुसार राज्य लोगों की इच्छा पूरी करेगा न कि लोगों को आज्ञा देगा या जबरन आज्ञा का पालन करवायेगा।.....आर्थिक समानता का अर्थ है — जगत के पास समान संपत्ति का होना यानि सबके पास इतनी संपत्ति का होना जिससे वे अपने प्राकृतिक आवश्यकतायें पूरी कर सकें।

5.3.2.5 ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

आर्थिक समानता की स्थापना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, समाज के मुट्टी भर पूँजीपतियों के अधिकार में समाज की अधिकाँश सम्पत्ति। इस सम्पत्ति को एक साम्यवादी भी समाज के हित में पूँजीपति से प्राप्त

करना चाहता है, लेकिन उसका रास्ता है— वर्ग संघर्ष, खूनी लड़ाई के परिणामस्वरूप पूँजीपति से प्राप्त करना चाहता है, लेकिन उसका रास्ता है— वर्ग संघर्ष, खूनी लड़ाई के परिणामस्वरूप पूँजीपतियों की सम्पत्ति को छीनना लेकिन गाँधी वर्ग संघर्ष के हिंसापूर्ण मार्ग द्वारा लक्ष्य को प्राप्त नहीं करना चाहते। अहिंसा के पुजारी होने के कारण वे शारीरिक बल या हिंसा का प्रयोग किये बिना आर्थिक शोषण का अंत करना चाहते थे। अतः उनका कहना था कि यदि पूँजीपति और जमींदार वर्ग गरीबों के संरक्षक के रूप में कार्य करें तो शोषण समाप्त किया जा सकता है। ट्रस्टी का अर्थ है कि पूँजीपति या जमींदार सम्पत्ति का मालिक नहीं है। मालिक वह होता है जो अपने स्वार्थों की रक्षा करता है। जब पूँजीपति या जमींदार अपने आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज के खातिर धन कमायेगा और समाज के कल्याण में उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। लेकिन यदि पूँजीपति संरक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार न करे तो? ऐसी स्थिति में मजदूरों को सत्याग्रह द्वारा हृदय परिवर्तन साधन का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार गाँधी ने पूँजीवाद को समाप्त न करके उसे जनकल्याण की भावना में परिवर्तित करने के लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दिया।

आर्थिक समानता की स्थापना के लिए गाँधी द्वारा दिया गया ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दो तथ्यों पर अवलम्बित है—

समाज में समानता के आदर्श की ओर अग्रसर होने के लिए अहिंसा के सिद्धान्त का सामाजिक स्तर तक विस्तार तथा वर्ग संघर्ष को टालना।

स्वयं गरीबों तथा अमीरों से जुड़े रहने के कारण ट्रस्टीशिप के आदर्श को व्यवहार में बदलने का गाँधी का विश्वास।

वस्तुतः न्यास का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। गाँधी ने जमनालाल बजाज के उदाहरण से यह विश्वास किया कि ट्रस्टीशिप को व्यवहार में लाया जा सकता है लेकिन बड़ी संख्या में पूँजीपतियों द्वारा गाँधी व कांग्रेस को सहयोग देने का मुख्य कारण यह नहीं था कि परोपकारिता और देशभक्ति की भावनाओं से पूँजीपति अभिभूत थे अपितु वे स्वहित से प्रेरित थे क्योंकि वे जानते थे कि गाँधी व कांग्रेस के सहयोग के परिणाम स्वरूप उन्हें विदेशी माल से प्रतिस्पर्धा नहीं करनी पड़ेगी और वर्ग संघर्ष की स्थिति टलने से उनकी स्थिति और भी मजबूत हो जायेगी।

दूसरी मुख्य कमजोरी यह है कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त मानव स्वभाव की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है क्योंकि कुछ अपवादों को छोड़कर, मानव स्वभाव अधिक से अधिक सम्पत्ति जुटाकर, प्राप्त जीवन स्तर को और ऊपर उठाने का होता है और एक बार स्थापित जीवन स्तर को घटाना व्यक्ति के लिए आसान नहीं है। यदि उसे सम्पत्ति का स्वैच्छिक उपभोग करना ही नहीं है तो वह इतनी कमायेगा क्यों?

5.3.3 न्याय और समाज

5.3.3.1 सर्वोदय

रस्कन की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से गाँधी ने जो सर्वोदय का जो विचार ग्रहण किया उकसी तीन मुख्य बातें इस प्रकार थी—

सबके हित में ही व्यक्ति का हित है।

एक वकील तथा नाई के काम का समान महत्व है क्योंकि सभी को अपने कार्य द्वारा आजीविका कमाने का समान अधिकार है।

एक मजदूर का जीवन भी सार्थक है। (जैसे—शिल्पकार)

इसलिए गाँधी का विचार था कि अहिंसा का पुजारी उपयोगितावादी अवधारणा (अधिकतम लोगों का अधिकतम हित) को स्वीकार नहीं कर सकता। वह सभी लोगों के अधिकतम हित को प्राप्त करने के प्रयास में मर जायेगा। इस प्रकार, वह औरों के जीवन के लिए स्वयं मरने को तैयार रहेगा। उपयोगितावादी अपना बलिदान कभी नहीं करेगा जबकि सम्पूर्णतावादी (सभी के हित में विश्वास करने वाला) अपने आपको कुर्बान कर देगा।

इस प्रकार, गाँधी ने व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता की रक्षा के लिए आर्थिक आधार पर अपेक्षित बल दिया है। यद्यपि नैतिकतावादी और सत्य अहिंसा में अटूट आस्था के परिणामस्वरूप प्रस्तुत समस्याओं के समाधान के लिए सुझाये गये उपाय आदर्शवादी बन पड़े हैं लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि उन्होंने अपने जीवन में और जीवनकाल में इन आदर्शों का समाजीकरण करने का भी प्रयास किया। सर्वोदय के विचार की क्रियान्वित करने

के लिए ही स्वतंत्र भारत में विनोबा भावे ने सर्वविदित भूदान आंदोलन चलाकर गाँधी के सपने को साकार करने का प्रयास किया।

गाँधी व्यक्ति का आंतरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान चाहते थे। उनका मानना था कि यदि सभी व्यक्ति सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों का पालन करते हुये, अपनी समस्त इंद्रियों पर नियंत्रण स्थापित कर इन सिद्धान्तों के अपने विचार तथा व्यवहार का अभिन्न अंग बना ले तो समाज क्रमशः धीरे-धीरे उनके द्वारा चाहे गये आदर्श की अवस्था तक पहुँच जायेगा। तार्किक दृष्टि से तो यह सही है कि यदि एक-एक करके सभी व्यक्तियों का रूपान्तरण होगा तो अंततः सम्पूर्ण समाज भी सुधर जायेगा लेकिन यह सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप से तार्किक होकर भी अव्यावहारिक है। यद्यपि यही आत्म सुधार विस्तृत रूप से संभव हो सके तो समस्त सामाजिक रोगों का निदान हो सकता है। स्वयं गाँधी ने अपने जीवन को उपदेशानुसार ढाला। उनका आश्रम व्यवस्थित परिश्रम का साकार रूप था ओर शारीरिक श्रम पर जोर देना गाँधी के महानतम् गुणों में से एक था। लेकिन आज के भौतिकवादी युग में उपलब्ध मशीनों की सुविधा का त्याग कर व्यक्ति न तो शारीरिक श्रम के लिए उत्सुक है और ना ही आत्म सुधार द्वारा समाज सुधर के लिए कृत संकल्प। इसका अर्थ यह नहीं कि समाज में समानता की स्थापना का गाँधी का सपना टूट गया है। गाँधी के द्वारा स्थापित आदर्श तथा लक्ष्य अनुचित थे अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अहिंसा की अनिवार्यता के कारण हृदय परिवर्तन का ही रास्ता बचता है और हृदय परिवर्तन एक रात में नहीं हो सकता। यह प्रक्रिया बहुत धीमी है और इस तथ्य को स्वयं गाँधी ने भी स्वीकार किया था।

5.3.3.2 अस्पृश्यता का समाधान

गाँधी ने भारतीय समाज में जन्म के आधार पर एक वर्ग के साथ अमानवीय तथा क्रूर अस्पृश्यता की प्रथा के कारणों को समझने व समाप्त करने का प्रयास किया। गाँधी न तो इस मत से सहमत थे कि जाति-व्यवस्था अस्पृश्यता की उत्पत्ति का मूल कारण है और ना ही अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए जाति-व्यवस्था को समाप्त करने के ही पक्षधर थे। गाँधी अस्पृश्यता के लिए जाति-व्यवस्था को उत्तरदायी न मानकर ऊँच-नीच की भावना तथा इस वर्ग द्वारा किये जाने वाले सफाई के कार्य को अस्पृश्यता के जन्म व विकास का कारण मानते हैं।

गाँधी ने अस्पृश्यता की प्रकृति को भी समझने का प्रयास किया है। उन्होंने इस समस्या को अतार्किक, अधार्मिक माना। उनका मानना था कि दलितों के अलावा भी समाज के कुछ व्यक्ति स्वच्छता का काम करते हैं, लेकिन इन्हें अछूत नहीं माना जाता अर्थात् इस समस्या का आधार तार्किक न होकर परम्परागत है। हर ब्राह्मण को ऊँचे दर्जे का और पवित्र समझा जाता है जबकि दलितों को अस्पृश्य। न तो सामान्य शिष्टाचार तथा न ही न्याय की दृष्टि से अस्पृश्यता का समर्थन करना संभव है। गाँधी ने अस्पृश्यता को विवेकरहित ही नहीं अपितु अमानवीय तथा हिन्दू-धर्म के प्रतिकूल भी बताया, क्योंकि इस व्यवस्था में समाज के एक बड़े वर्ग को समस्त मानवीय अधिकारों से न केवल वंचित रखा गया था अपितु रूढ़िवादी हिन्दुओं ने इसे हिन्दुशास्त्रों का हवाला देकर धर्मसम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया और अस्पृश्यता निवारण को धर्म भ्रष्टता या पाप के रूप में अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने यह माना कि यह अन्याय की पराकाष्ठा है कि भारतीय समाज के सर्वाधिक उपयोगी सेवक – दलितों को सफाई का काम करने के कारण अस्पृश्य तथा निम्न जाति का समझते हैं।

इस अमानवीय प्रथा के पालन के लिए हिन्दुओं की आलोचना में उनकी पीड़ा छुपी हुयी थी, लेकिन उन्होंने इसके लिए हिन्दुओं पर कटु व्यंग्य करते हुये कहा है कि हम स्वराज्य की स्थापना के लिए अधीर हैं लेकिन अपने सहधर्मियों के पांचवे हिस्से के साथ बदतर व्यवहार करते हैं। उन्होंने गीता का उदाहरण देते हुए अस्पृश्यता को हिन्दु धर्म के प्रतिकूल सिद्ध किया ताकि रूढ़िवादी और अपने मानसिक जंजाल में से निकल कर गाँधी के प्रयासों को सफल बनाने में सहयोग दें। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा-गीता में भगवान कृष्ण द्वारा बताये गये समानता के सिद्धान्त में, मैं विश्वास करता हूँ। गीता हमें यह शिक्षा देती है कि चारों जातियों (वर्णों) के साथ समानता के आधार पर व्यवहार किया जाना चाहिए।

दलितों के प्रति गाँधी की केवल शाब्दिक सहानुभूति नहीं थी। उन्होंने एक ओर अस्पृश्यता का विरोध किया, वही दूसरी ओर इसे समाप्त करने के उपाय भी सुझाये। चूँकि गाँधी साध्य-साधन की पवित्रता तथा सत्य-अहिंसा में अटूट आस्था रखते थे अतः स्वाभाविक रूप से अस्पृश्यता समाप्ति के साधन भी उपर्युक्त सिद्धान्तों की सीमा में ही निर्देशित किये गये। इस हेतु उन्होंने दोहरे सुधार की पेशकश की— एक ओर दलितों की स्थिति में सुधार और दूसरी ओर सवर्ण हिन्दुओं का हृदय-परिवर्तन। उनका मानना था कि दलितों की सामाजिक, शैक्षणिक आर्थिक स्थिति में सुधार किये जाये तो वे स्वयं जागृत होंगे, स्वच्छ रहेंगे तथा अपनी दीनता के लिए स्वयं को दोषी नहीं मानेंगे।

5.3.3.3 गाँधी एवं शिक्षा

शिक्षा मानव निर्माण की कला तथा विज्ञान है अतः शिक्षा का उद्देश्य संपूर्ण मानव का निर्माण तथा व्यक्तित्व का समग्र विकास करना है। शिक्षा व्यक्ति की उन क्षमताओं को उजागर तथा प्रेरित करती है जो व्यक्ति के अन्दर छिपी हुई या अन्तर्निहित है, शिक्षा क्षमताओं का निर्माण नहीं करती। इस प्रकार सरल शब्दों में, शिक्षा वह है जो व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास द्वारा सर्वांगीण विकास करती हो।

गाँधी शिक्षा को मानव निर्माण की कला मानते थे तथा जो व्यक्ति में अन्तर्निहित 'सर्वोत्तम' है, उसे बाहर निकालना वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तथा अन्त में, व्यक्ति के विकास द्वारा समाज का विकास या परिवर्तन। व्यक्ति की आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा शारीरिक क्षमताओं के समन्वित तथा संतुलित विकास द्वारा ही सर्वांगीण विकास संभव है। ऐसा नहीं है कि किसी एक तत्व को दूसरे से अधिक प्राथमिकता देकर शिक्षा का उद्देश्य प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि शारीरिक अंगों, जैसे— हाथ, पैर, आँखें, कान, नाक आदि के उचित व्यायाम तथा प्रशिक्षण द्वारा ही उसकी मानसिक शक्तियों का श्रेष्ठ व तीव्र विकास हो सकता है। लेकिन शारीरिक तथा बौद्धिक विकास के साथ-साथ यदि समान रूप से आत्म-जागृति न हो तो उपर्युक्त दोनों (बुद्धि-शरीर) का विकास बहुत ही निर्बल तथा असंतुलित होगा। आध्यात्मिक शिक्षा का अर्थ है, हृदय की शिक्षा। अतः शारीरिक व आध्यात्मिक विकास के साथ ही बच्चे के मस्तिष्क का उचित तथा सर्वांगीण विकास हो सकता है। ये तीनों ही अविभाज्य रूप से पूर्णता का निर्माण करते हैं। इसलिए, इस सिद्धान्त के अनुसार, यह मानना भारी भूल होगी कि शारीरिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास को, एक दूसरे से पृथक करके या एक-दूसरे से स्वतंत्र रखकर प्राप्त किया जा सकता है।

गाँधी के अनुसार—“शिक्षा का लक्ष्य है व्यक्ति के चरित्र का निर्माण। उसमें साहस, शक्ति, गुणों का इस प्रकार विकास करना कि वह महान् उद्देश्यों के लिए काम करते हुये अपने-आप का भुला दे। साक्षरता या अकादमिक शिक्षा इस उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है। यही कारण है कि भारत में साक्षरता की शोचनीय स्थिति के बावजूद मुझे ऐसा महसूस नहीं होता कि भारत स्वाशासन के लिए अयोग्य है। साक्षरता शिक्षा का उद्देश्य नहीं है, यहाँ तक कि शिक्षा का आरंभ भी नहीं है। यह व्यक्ति के नैतिक स्तर को एक इंच भी ऊपर नहीं उठा सकती। चरित्र-निर्माण साक्षरता से पूर्णतया अलग या स्वतंत्र है।

5.3.3.3.1 विद्यमान शिक्षा प्रणाली के दोष

विद्यमान विदेशी शिक्षा गाँधी द्वारा मान्य शिक्षा के उद्देश्यों के अनुकूल नहीं थी। तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था में गाँधी को निम्नलिखित दोष दिखाई दिये—

विद्यार्थियों के लिए निर्धारित पाठ्य-पुस्तकों के पाठ्यक्रम का उनके आसपास के वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं है अपितु यह उनके लिए पूरी तरह अजनबी चीजों से सम्बद्ध है। इन पाठ्य-पुस्तकों से विद्यार्थी यह नहीं सीख सकता कि गृहस्थ जीवन में क्या उचित है और क्या अनुचित? उसे अपनी भूमि पर गर्व करने की शिक्षा नहीं दी जाती है जितनी ऊँची शिक्षा वह प्राप्त करता जाता है, उतना ही अपने घर से दूर होता जाता है और अपनी शिक्षा के अंतिम चरण में वह अपने ही घर तथा वातावरण से अजनबी हो जाता है। उसे अपने गृह जीवन में सरसता नहीं महसूस होती। गाँव के दृश्य उसके लिए बंद किताब के समान हैं। उसके सामने उसकी अपनी सभ्यता को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि वह नितान्त दुर्बल, बर्बर, अंधविश्वासों से परिपूर्ण तथा समस्त व्यावहारिक लक्ष्यों की दृष्टि से व्यर्थ है। यह शिक्षा उसे अपनी पारम्परिक संस्कृति से विमुख करने का काम करती है और यदि बहुसंख्यक युवाओं का अराष्ट्रीकरण नहीं किया जाता तो इसका कारण है—प्राचीन संस्कृति का युवाओं में गहराई से जड़े जमाना, जो कि विपरीत शिक्षा के बावजूद कायम है।

विद्यमान शिक्षा हृदय तथा हाथ के उपयोग की संस्कृति की उपेक्षा करके केवल मस्तिष्क से सम्बन्धित है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, जहाँ 80 प्रतिशत जनता किसान तथा 10 प्रतिशत उद्योगों पर निर्भर है अतः ऐसी स्थिति में शिक्षा को केवल साहित्यिक बनाकर विद्यार्थी जीवन के बाद लड़क-लड़कियों को शारीरिक काम के लिए अयोग्य और असमर्थ बनाना एक अपराध है। यह सत्य है कि हमारा अधिकतम समय रोजी-रोटी कमाने में लग जाता है अतः बचपन से हमें अपने बच्चों को ऐसे श्रम की प्रतिष्ठा की शिक्षा देनी चाहिए, न कि उन्हें श्रम विरोधी शिक्षा दी जाय।

विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने के कारण बच्चों की नसों पर पड़ने वाले अनावश्यक दबाव के कारण मानसिक थकान होती है। यही नहीं, इससे वे मौलिक चिन्तन तथा कार्य के लिए असमर्थ होकर केवल रट्टू तथा नकलची बनते हैं और आम जनता तथा परिवार के लिए उनकी शिक्षा उपयोगी नहीं होती। विदेशी माध्यम ने व्यवहार में हमारे बच्चों को अपनी ही भूमि में विदेशी बना दिया है और हमारे देशी भाषाओं के विकास को अवरुद्ध कर दिया।

इस प्रकार विदेशी शासन द्वारा स्थापित और संचालित शिक्षा व्यवस्था से वे संतुष्ट नहीं थे और उसे चरित्र-निर्माण के प्रतिकूल मानते थे। यद्यपि भारतीय समाज सुधारकों ने अंग्रेजी शिक्षा के दोषों की आलोचना की थी लेकिन 1905 से आरंभ हुये स्वदेशी और बायकोट आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई।

गाँधी ने विद्यमान शिक्षा व्यवस्था पर एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का विचार रखा, जो शिक्षा उनकी परिभाषा के अनुसार, व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास को पूर्ण करती हो। गाँधी के शिक्षा सुधार सम्बन्धी विचार सर्वाधिक मौलिक थे। वर्ष 1936 में, गाँधी ने 'नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा' कि नाम से शिक्षा सम्बन्धी जो विचार रखे इन्हें ही शिक्षा की वर्धा योजना भी कहा जाता है।

5.3.3.2 गाँधी की शिक्षा व्यवस्था

तत्कालीन भारतीय समाज की आवश्यकताओं तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर गाँधी ने जो शिक्षा व्यवस्था की प्रणाली प्रस्तुत की, उसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

केवल मस्तिष्क के विकास पर आधारित शिक्षा को गाँधी अधूरी शिक्षा मानते थे इसलिए उन्होंने न केवल शारीरिक श्रम पर बल दिया अपितु इसे शिक्षार्जन का माध्यम बनाने का आह्वान किया। वे साक्षरता को शिक्षा का एकमात्र साधन न मानकर विभिन्न साधनों में से एक मानते थे इसलिए किसी भी हस्त उद्योग के प्रशिक्षण से वे बालक की शिक्षा का आरंभ करना चाहते थे तथा इस प्रशिक्षण के साथ ही वे उसे सम्बद्ध हस्त उद्योग द्वारा उत्पादन में समर्थ बनाना चाहते थे। इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था में ही उन्हें मानसिक तथा आत्मिक विकास संभव दिखाई दिया। हर उद्योग की यांत्रिक तथा वैज्ञानिक तीरके से जानकारी दी जाय ताकि बच्चे को उसकी कार्यप्रविधि का ज्ञान हो सके। यह प्रणाली, कार्यकर्ताओं को कताई सिखाते समय काम में ले ली जाने के कारण अनुभव पर आधारित है। इस प्रणाली द्वारा इतिहास, भूगोल तथा गणित की शिक्षा भी बालक को स्वाभाविक रूप से दी जा सकती है। वाचन तथा लेखन द्वारा अधिक से अधिक दस बार दोहरा कर भी जो नहीं सिखाया जा सकता, वह हस्त-उद्योग द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से बच्चा वैसे ही सीख जाता है। अक्षर-चिन्हों की पहचान तो बाद में, तब आसानी से सिखाई जा सकती है जबकि वह गेहूँ तथा भूसे में अन्तर समझने लगे और जब वह अपना स्वाद का ज्ञान विकसित कर लें।

यद्यपि यह एक क्रांतिकारी प्रस्ताव है लेकिन यह प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित भारी मेहनत में कमी करके विद्यार्थी को एक ही वर्ष में इतना अर्जन करने के योग्य बनाता है जिसे प्रचलित प्रणाली में काफी समय लगता है। हस्त-उद्योग का अर्थ है—'सर्वांगीण मितव्ययता' निश्चित रूप से अपना हस्त उद्योग सीखते समय गणित भी सीख रहे होते हैं। हमने अब तक अपना सम्पूर्ण ध्यान बच्चों के मस्तिष्क में, उनके प्रोत्साहन तथा विकास का ख्याल किये बिना, विभिन्न प्रकार की सूचनाओं को भरा है अतः अब हमें एक गौण कार्यकलाप के रूप में नहीं अपितु बौद्धिक शिक्षण के मुख्य साधन के रूप में हस्त शिल्प को अपनाने पर सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना चाहिए विशेष धंधे की शिक्षा के माध्यम से बच्चों का मस्तिष्क, शरीर, हस्तलेख, कलात्मक बोध आदि स्वतः ही विकसित होंगे। सम्पूर्ण शिक्षा हस्त शिल्प शिल्प या उद्योग द्वारा दी जानी चाहिए।

गाँधी की शिक्षा सम्बन्धी प्रस्तुत व्यवस्था की प्रमुख विशेषता यह थी कि उन्होंने शिक्षा व्यय को गरीब

देश के लिए आसान बनाने के लिए यह विचार रखा कि शिक्षकों के वेतन का भुगतान उनके शिष्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य से किया जा सकता है। करोड़ों बच्चों को शिक्षित करने के लिए इसके अलावा कोई अन्य रास्ता नहीं है। इसके अलावा, प्राथमिक शिक्षा में जो बातें शामिल होंगी, वे हैं—स्वास्थ्य, उपचार विज्ञान, आरोग्य शास्त्र पोषहार, अपना काम स्वयं करना तथा घर में माता-पिता के काम में हाथ बँटाना व अनिवार्य शारीरिक प्रशिक्षण।

संपूर्ण देश के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा में गाँधी का दृढ़ विश्वास था और उनका मानना था कि बच्चों को उपयोगी उद्योग का प्रशिक्षण देकर ही हम उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं और इसको उसके शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के साधन के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं। शिक्षा के इस आर्थिक पक्ष का अर्थ यह नहीं कि यह व्यवस्था अपवित्र है। सच्ची अर्थव्यवस्था कभी उच्च नैतिक स्तर के विरुद्ध नहीं होती।

शहरी बच्चों को किस प्रकार के उद्योग सिखाये जायें इस संदर्भ में कोई कठोर नियम गाँधी ने नहीं बनाया लेकिन उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि वे ग्रामीण भारत को पुनर्जीवित करना चाहते हैं। गाँव शहर का एक हिस्सा मात्र रह गये हैं और शहर के शोषण के लिए ही जीवित हैं, यह स्थिति अप्राकृतिक है। यह स्थिति तभी समाप्त हो सकती है जबकि शहर अपने दायित्व को महसूस करे और गाँवों से अपनी शक्ति तथा पोषणाहार प्राप्त करने के बदले में उचित देय का भुगतान करे। यदि शहरी बालक सामाजिक पुनर्गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाना चाहते हैं तो जिन व्यवसायों के माध्यम से वे शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण आवश्यकताओं से सम्बन्धित होने चाहिये।

इसके अलावा, उच्च शिक्षा का भी उन्होंने विरोध नहीं किया लेकिन उनका कहना था कि राज्य को उच्च शिक्षा का खर्च तभी देना चाहिये जबकि इसका राज्य के लिए उपयोग हो। उन्होंने धर्म निरपेक्ष शिक्षा का समर्थन किया है लेकिन शिक्षा में नैतिकता की शिक्षा को अनिवार्य माना।

इस प्रकार गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचार भी सामाजिक समानता व न्यायप्रियता से ओतप्रोत हैं, लेकिन यहाँ शोषित वर्ग अछूत या स्त्रियों के रूप में न होकर ग्रामीण तथा नगरीय समाज में समानता का लक्ष्य है। शिक्षा द्वारा वे आर्थिक रूप से नगरीय जनता द्वारा किये जाने वाले ग्रामीणों के शोषण को समाप्त करना चाहते थे। अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा लागू करके वे समाज के निम्न से निम्न व अति गरीब व्यक्ति को भी शिक्षा सुलभ करवाना चाहते थे। गाँधी परम्परागत शिक्षा को पूर्णतया अस्वीकार करते हुये एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे जो कि भारतीय समाज की बेरोजगारी, गरीबी, आर्थिक शोषण, किताबी ज्ञान, भारतीय संस्कृति के प्रति उपेक्षा भाव, जैसी समस्याओं को समूल रूप से नष्ट कर सके। यह बात दीगर है कि गाँधी द्वारा निर्देशित शिक्षा को लागू करना व्यावहारिक रूप में कठिन है। लेकिन गाँधी ने इसी शिक्षा को समानता व न्याय पर आधारित समाज के पुनर्गठन का आधार मानते हुये कहा है—

कताई तथा धुनाई जैसे ग्रामीण उद्योगों को प्राथमिक शिक्षा का माध्यम बनाने में, मेरी योजना मौन सामाजिक क्रांति द्वारा दूरगामी परिणामों को प्राप्त करने की कल्पना पर आधारित है। यह ग्राम और शहर के मध्य सौहार्द तथा नैतिकता पर आधारित सम्बन्धों का संचालन करेगी तथा इस प्रकार वर्तमान विभिन्न वर्गों में विद्यमान सामाजिक असुरक्षा और जहरीले सम्बन्धों को समाप्त करने की ओर अग्रसर होगी। यह हमारे ग्रामों के बढ़त पतन को रोककर एक ऐसी न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की नींव रखेगी जिसमें सुविधा सम्पन्न तथा सुविधाहीन जैसा कोई अप्राकृतिक विभाजन नहीं होगा और प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए मजदूरी तथा स्वतंत्रता का अधिकार मिलेगा। यह सब बिना किसी आतंक या खूनी वर्ग संघर्ष के होगा और भारत जैसे बड़े महाद्वीप के मशीनीकरण के लिए विशाल पूंजी का व्यय भी नहीं करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि शिक्षा व्यवस्था द्वारा गाँधी ने समाज में गरीब लोगों को शोषण व दरिद्रता से मुक्त कर समानता की स्थापना की ओर सामाजिक व्यवस्था को उन्मुख किया है। यद्यपि गाँधी ने ऐसी शिक्षा में मशीनों का विरोध किया है जो आधुनिक समाज में आलोचना का विषय है, यद्यपि गाँधी ने ऐसी शिक्षा में मशीनों का विरोध किया है जो आधुनिक समाज में आलोचना का विषय है, लेकिन फिर भी गाँधी द्वारा दिमागी श्रम के साथ-साथ शारीरिक श्रम की आवश्यकता तथा प्रतिष्ठा को प्रतपादित किया गया है क्योंकि इसके अभाव में ही हमारे समाज में कई शिल्पकारों को हीन दृष्टि से देखा जाता है।

सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए सामाजिक समानता की स्थापना आवश्यकता है। गाँधी इसके प्रबल

समर्थक थे, लेकिन केवल वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना या अस्पृश्यता निवारण से ही सामाजिक न्याय की स्थिति का प्राप्त होना कठिन वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना या अस्पृश्यता निवारण से ही सामाजिक न्याय की स्थिति का प्राप्त होना कठिन था, अतः गाँधी ने इसके साथ ही समाज की राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक व्यवस्था में परिवर्तन कर सम्पूर्ण समाज की एक ऐसी परिवर्तित व्यवस्था का विचार रखा जिसमें सभी व्यक्तियों का अधिकतम हित हो सके। गाँधी के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अवस्था तथा शिक्षा व महिलओं की स्थिति में निम्नलिखित सुधार व परिवर्तन द्वारा ही ऐसे समाज की स्थापना की जा सकती है, जिसमें सभी लोगों को न्याय मिल सकें।

5.3.3.4 गाँधी एवं स्त्रियाँ

भारतीय समाज के लगभग आधे सदस्यों से धर्म तथा शास्त्रों के नाम पर उसी प्रकार नियोग्य घोषित किया गया जैसे कि अछूतों को। और यह वर्ग है—स्त्रियों का। समाज में शूद्रों के समान ही स्त्रियों को भी शिक्षा तथा किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता से वंचित करके सम्पूर्ण मानवीय अधिकारों से वंचित कर रखा था, वह पुरुष के हाथ का खिलौना थी जिसे वह जब, जैसे चाहे अपनी आवश्यकता और इच्छानुसार उपभोग की वस्तु के रूप में काम में लेता था। समाज में मनु का यह निर्देश सुस्थापित होकर एक सामान्य नियम बन गया था कि “स्त्री को बाल्यावस्था में पिता के, युवावस्था में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहना चाहिए। वे दिन लद चुके थे जब वैदिककाल में गार्गी, घोषा, अपाला जैसी विदुषियों का अपनी प्रतिभा के प्रकाशन का पुरुषों के समान ही अधिकार था। मध्यकाल तक आते-आते स्त्रियों की स्थिति इतनी दयनीय हो गई कि वह घर की चार दीवारी में कैद, ऐसी कैदी थी जिसका काम बच्चों का पालन-पोषण तथा पति की सेवा करना था।

ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद आरम्भ हुये समाज सुधार कार्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा स्त्रियों की स्थिति के सुधार का ही रहा। राजाराम मोहन राय से लेकर मोहन दास कर्मचन्द गाँधी तक—सभी समाज सुधारकों ने यह विचार रखा कि स्त्रियों की स्थिति में सुधार करके ही हम अपने समाज का विकास कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। एक आध्यात्मिक व्यक्ति तथा महान् मानवतावादी होने के कारण हर इंसान के दुखदर्दों से गाँधी को हमदर्दी थी। यही कारण है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की दुर्दशा को देखकर वे व्यग्र हो उठे। एक पुरुष होते हुये भी उन्होंने स्त्री की अन्तरवेदना को महसूस किया तथा उन सभी पक्षों पर प्रकाश डाला जो स्त्रियों को समाज में सम्मानजनक स्थिति तथा समानता के अधिकार को प्राप्त करने में सहायक थे। सर्वप्रथम, गाँधी का यह मानना था कि मौलिक रूप से स्त्री तथा पुरुष समान हैं और सारतः दोनों की समस्या भी एक ही है। दोनों में आत्मा एक समान ही है, दोनों समान जीवनयापन करते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा एक के सक्रिय सहयोग के अभाव में दूसरा जी नहीं सकता। गाँधी के अनुसार, स्त्रियों की स्थिति में गिरावट तब आयी, जब युगों पहले पुरुष ने किन्हीं कारणों से स्त्रियों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया जिसके परिणाम स्वरूप स्त्रियों में धीरे-धीरे हीनभावना का विकास होता गया। उसने पुरुष के इस स्वार्थपूर्ण दावे पर यकीन कर लिया कि वह पुरुष से निम्न है, उसके बराबर नहीं, लेकिन इन्हीं पुरुषों में से जो सिद्ध पुरुष थे उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के साथ पूर्ण समानता के दर्जे का मान्यता दी। गाँधी की मान्यता के अनुसार केवल कुप्रथा के आधार पर ही सर्वाधिक मूर्ख तथा अयोग्य व्यक्ति भी स्त्रियों के ऊपर अपना वर्चस्व कायम रखते हैं जिसके वे कतई पात्र नहीं होते।

गाँधी इस बात के लिए कतई तैयार नहीं थे कि स्त्री पुरुषों द्वारा थोपे गये मिथ्या अहंकार व अपमान के बोझ को केवल इसलिए ढोते रहे कि ये परम्परा से इसी प्रकार, सदियों से चले आ रहे हैं। पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर अकारण लगाये गये अपार अमानवीय प्रतिबन्धों की गाँधी को केवल जानकारी ही नहीं थी अपितु इसे देखकर उनके हृदय में पीड़ा व आक्रोश भी था इसलिए उन्होंने यहाँ तक कहा था—“यदि मैं स्त्री होता तो पुरुषों के ऐसे किसी भी दावे के विरुद्ध विद्रोह कर देता कि स्त्री पुरुष के लिए एक खिलौना हैं समाज का, परिवार का एक अति महत्वपूर्ण अंग होने के लिए, उसे अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा और सम्मान दिलाने के लिए, उसे पुरुषों के समकक्ष खड़ा करने के लिए स्त्री इनकी उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। स्त्री को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए, स्त्री में किसी प्रकार के नये गुण, योग्यता या सामर्थ्य पैदा करने की आवश्यकता नहीं थी। आवश्यकता केवल इस बात की थी कि उसकी सामर्थ्य पर पर्दा डालने वाली परम्पराओं तथा उसकी प्रतिभा को कुंठित करने वाले प्रतिबन्धों को निडर होकर अस्वीकार कर दिया जाय। इसी उद्देश्य से, गाँधी का कहना

था कि हमें अपने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त नैतिक आचार संहिता का उल्लंघन नहीं करना चाहिए लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि परम्परा से चला आ रहा है, वह सब अभ्रान्त या अटल सिद्धान्त है। यक कौन कह सकता है कि प्राचीन काल में वस्तुतः क्या सच था? क्या 108 उपनिषद् समान रूप से पवित्र थे? हमें जहाँ तक संभव हो सके, हर बात का तर्क की कसौटी पर परीक्षण करना चाहिए और जो बात इस आधार पर खरी न उतरे, वह चाहे कितनी ही पुरानी क्यों ना हो, अस्वीकार कर देनी चाहिए।

गाँधी के अनुसार, स्त्री तथा पुरुष में मौलिक समानता होने के बावजूद शारीरिक रूप से भिन्नताएँ हैं और दोनों के शारीरिक आकरों में इस भिन्नता के आधार पर ही कार्य विभाजन किया गया है। अधिकतम महिलाओं को मातृत्व उत्तरदायित्व का पालन करना होता है और इस कार्य के लिए जिस प्रकार के गुण स्त्री में होने चाहिए वैसे पुरुषों के लिए आवश्यक नहीं। स्त्री धीर-गंभीर तथा सहनशील होती है जबकि पुरुष साहसी तथा उद्योगी होता है। स्त्री गृहस्थी की मालकिन होती है पुरुष रोजी-रोटी कमाने वाला या परिवार का पोषक होता है, स्त्री रोटी को रखने व वितरण करने का काम करती है। मानव जाति के शिशु को जन्म देने की कला का एकमात्र तथा विशेष परमाधिकार उसी का है और उसकी देखभाल के बिना मानवजाति निश्चित रूप से विनष्ट हो जाती। उनका यह मानना था कि स्त्री-पुरुष सामाजिक स्थिति, सम्मान तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से तो समान है लेकिन इसका अर्थ लैंगिक समानता से नहीं है। महिला के शिकार करने या भाला बछीं फेंकने, चलाने पर कोई कानूनी रोक न होने पर भी वह स्वाभाविक रूप से ऐसा नहीं करती। प्रकृति ने ही इन दोनों को एक दूसरे का पूरक बनाया है और उनकी शारीरिक बनावट के अनुसार ही उनके कार्यों को परिभाषित किया है। लेकिन कार्य चाहे गृहस्थी का हो या साहस का, दोनों को समान प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। घर को व्यवस्थित रखना भी उतने ही साहस का काम है जितना कि बाहरी आक्रमण से उसकी रक्षा करना। इस प्रकार गाँधी ने तार्किक ढंग से स्पष्ट किया कि स्त्रियों को केवल इसलिए हीन ना समझा जाय कि वे दिनभर घर में रहकर काम करती हैं और पुरुष बाहर रहकर साहस का काम करता है। सम्पूर्ण सामर्थ्य के आधार पर भी यदि स्त्री पुरुष की तुलना की जाय तो गाँधी ने स्त्री को पुरुष के समकक्ष ही पाया। उन्होंने इस तुलनात्मक समानता को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

“यदि शक्ति का अर्थ पाश्विक शक्ति से है तो पुरुष से, निश्चित रूप में नारी कम पाश्विक है लेकिन यदि शक्ति का अर्थ नैतिक शक्ति से है तो नारी पुरुष से अपरिमित मात्रा में श्रेष्ठ है। शारीरिक बनावट की भिन्नता के बावजूद गाँधी यह मानते थे कि वस्तुतः शारीरिक बल में कभी नारी उतनी निर्बल नहीं है जितना समाज ने उसे बना रखा है। उनके अनुसार स्त्रियों की यह मानसिकता बना दी गई है कि वह पुरुष का मुकाबला नहीं कर सकती। यदि महिलायें अपने दिमाग से यह बात निकाल दें कि वे कमजोर हैं कि कोई व्यवसाय किसी लिंग विशेष के लिए ही आरक्षित है। भोजन बनाना मुख्य रूप से स्त्रियों का काम है लेकिन जो सैनिक अपना खाना ना बना सके वह सर्वथा अयोग्य सैनिक होगा। जहाँ घर में खाना महिलायें ही बनाती हैं वहाँ, बड़े पैमाने पर व्यवस्थित रूप से खाना बनाने का काम पुरे विश्व में पुरुषों द्वारा किया जाता है। युद्ध में भाग लेना मुख्य रूप से पुरुषों का पेशा है, अरब में इस्लाम के आरंभिक संघर्षों में महिलाओं ने अपने पति के साथ नायिका के समान युद्धों में भाग लिया है। सिलाई का काम महिलाओं का माना जाता है लेकिन दुनिया में कुशल दर्जी पुरुष ही हैं। गाँधी की यह मान्यता थी कि स्त्रियाँ घर का काम ही करें लेकिन उनका कहना था कि जहाँ परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर हो, वहाँ स्त्रियों को मजदूर वर्ग की औरतों के समान घर खर्च में हाथ बंटाना चाहिए। घर में कमाने वाला एक तथा खाने वाले बहुत लोग हों तो उस पर अनुचित बोझ पड़े बिना नहीं रह सकता।

गाँधी के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि शारीरिक भिन्नता के आधार पर स्त्री को घर की देखभाल व पुरुष को आजीविका के काम का दायित्व सौंपते हैं लेकिन वे इस कार्य विभाजन को अंतिम रेखा नहीं मानते। वे तो सामर्थ्य तथा परिस्थिति के अनुसार दोनों को अपना काम धंधा करने की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। कार्य के इस क्षेत्र में जहाँ स्त्रियों को नितान्त निर्बल माना जाता है वहाँ गाँधी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वस्तुतः स्त्री ऐसे गुणों की स्वामिनी है जो उसे पुरुष से भी श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं अतः स्त्री को अपनी ही भावना का परित्याग करके यह समझना चाहिए कि उसमें शक्ति, संयम, सहनशीलता का अपार भंडार है। गाँधी के अनुसार—

“इस दिशा में स्त्रियों को अपने पति को भी ‘ना’ कहने की कला सिखाना ही उन्हें वास्तविक शिक्षा देना

है। उसे यह शिक्षा दी जाये कि वह अपने पति के हाथ का खिलौना नहीं है। जिस प्रकार उसके कर्तव्य है, वैसे ही उसके अधिकार भी।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट का एक मुख्य कारण विवाह से सम्बन्धित अनेक बुराइयाँ हैं जो धीरे-धीरे पनपी थीं। विवाह एक स्वाभाविक तथा सामाजिक प्रथा है जिसे हिन्दुओं ने एक धार्मिक कर्म का रूप दे रखा है। लेकिन धर्म के नाम पर किये जाने वाले विवाहों में सकारात्मक तथा नकारात्मक रूप में इतनी अमानवीय परम्पराओं को शामिल कर लिया गया था कि जिसके परिणाम स्वरूप स्त्री को वासना पूर्ति के साधन के रूप में माना जाता था। विवाह कब, किससे, क्यों किया जाना है, इसके निर्धारण का एकमात्र अधिकार माता-पिता को था। गाँधी ने विवाह से सम्बद्ध विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम, वे विवाह को आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मानते थे। उनके अनुसार— विवाह का आदर्श लक्ष्य शारीरिक एकता के माध्यम से आध्यात्मिक एकता है। “विवाह के माध्यम से जो मानवीय प्रेम मूर्त रूप ग्रहण करता है वह दैवीय या सार्वभौगिक प्रेम की आधार शिला है। अतः विवाह का सर्वप्रथम और मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक विकास होना चाहिए।

अपना जीवन साथी चुनने के लिए गाँधी न केवल स्त्री की स्वीकृति या सहमति को आवश्यक मानते थे अपितु बिना सहमति के किये गये विवाह को “विवाह” के रूप में भी मानने को सहमत न थे। इसीलिए सवप्रथम बाल विवाह के संदर्भ में उनके विचारों को जानना उचित होगा। बाल-विवाह के संदर्भ में उनके विचारों को जानना उचित होगा। बाल-विवाह को वे एक अपराध मानते थे। जब कुछ ब्राह्मण लड़कों ने इस संदर्भ में गाँधी के समक्ष यह समस्या रखी कि यदि वे ज्यादा उम्र में विवाह करना भी चाहें तो फिर लड़कियाँ नहीं मिलती।

इस पर गाँधी का जवाब था कि ऐसी स्थिति में वे 16 वर्ष की किसी ब्राह्मण विधवा से विवाह करें और यदि विधवा न मिले तो किसी भी जाति की लड़की से विवाह कर लें लेकिन बाल-विवाह ना करें। बाल विवाह से उत्पन्न एक गंभीर समस्या थी, विधवाओं की, क्योंकि बहुत छोटी उम्र में विवाह के कारण लड़के की मृत्यु पर लड़की को आजीवन ब्रह्मचारी के रूप में ही रहना पड़ता था। उसे पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं था। गाँधी इन बाल-विधवाओं की पीड़ा से बहुत व्यथित थे और उनका मानना था कि यदि ऐसी कोई लड़की विधवा होती है तो उसके माता-पिता का कर्तव्य है कि वे उसका पुनर्विवाह करें। जहाँ तक अन्य विधवाओं का प्रश्न है, यदि वे पवित्र जीवन नहीं व्यतीत कर सकतीं तो उन्हें भी विधुरों की तरह ही विवाह करने का समान अधिकार है। यदि हम हिन्दू धर्म को बचाना चाहते हैं अपने आपको पवित्र रखना चाहते हैं तो हमें बलात् विधवा-प्रथा के जहर को समाप्त करना होगा। यह सुधार उन लोगों को आरम्भ करना चाहिए जो कि बाल-विधवाओं के माता-पिता हैं और उनका विवाह करना चाहिए—पुनर्विवाह नहीं क्योंकि वस्तुतः उनका विवाह तो कभी हुआ ही नहीं था। यदि विवाह एक धार्मिक कर्तव्य तथा नये जीवन की शुरुआत है तो लड़कियों को पूरी तरह वयस्क होने पर जीवन साथी के चयन में भागीदारी बनाया जाना चाहिए तथा अपने कर्म के फल के बारे में परिचित होना चाहिए। बच्चों को विवाहावस्था में पहुँचा कर तथा मानवता के प्रति अपराध है। गाँधी ने विधवा विवाह को पाप नहीं माना और कहा कि यदि विधवा विवाह पाप भी है तो वैसा ही है जैसे किसी विधुर-विवाह का पाप।

गाँधी ने पर्दा प्रथा का विरोध किया तथा कहा कि गौरवशाली सीता तथा द्रौपदी के युग में कोई पर्दाप्रथा नहीं थी, गार्गी पर्दे के पीछे से अपना व्याख्यान नहीं दे सकती थी। वर्तमान में भी पर्दा प्रथा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित नहीं है। दक्षिण भारत, गुजरात तथा पंजाब में इस प्रथा से लोग अपरिचित हैं। ऐसा नहीं है कि दुनिया में जहाँ कहीं है वहाँ नैतिकता में कमी आयी हो। पवित्रता या सदाचार शीशे के मकान में विकसित नहीं होता, ना ही पर्दा की चाहरदीवारी के माध्यम से इसकी रक्षा की जा सकती है। सदाचार अन्तरात्मा से विकसित होना चाहिए तथा उसमें किसी भी प्रकार के आकर्षण या लालच से मुकाबला करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। और स्त्रियों की पवित्रता के लिए ही यह सब दूषित व्यग्रता क्यों है? क्या औरतों ने पुरुषों की पवित्रता के विषय में कभी कुछ कहा है? हम उनके मुँह से ऐसा कुछ नहीं सुनते। पवित्रता किसी के ऊपर, बाहर से थोपी नहीं जा सकती। यह आंतरिक उन्नति से सम्बद्ध होने के कारण स्वयं के प्रयासों से ही विकसित हो सकता है।

स्पष्ट है कि गाँधी ने न केवल स्त्रियों को दबाने वाली प्रथाओं का विरोध किया अपितु उन्हें पुरुष के समान स्थिति न दिये जाने के कारण भी पूछे। वे यह नहीं चाहते थे कि पुरुष औसतन कम सदाचारी और पवित्र है इसलिए औरतों को भी अपने सदाचार का त्याग कर पुरुष के समकक्ष खड़े होना चाहिए बल्कि उन्होंने

सीधे पुरुषों से यह प्रश्न किया कि जो स्वयं पवित्र ना हो उसे स्त्रियों की पवित्रता पर उँगली उठाने या तहकीकात करने का क्या अधिकार है?

देशवासी के रूप में किये जाने वाले स्त्रि के प्रति अमानवीय व्यवहार का भी गाँधी ने विरोध किया तथा इसे मानवता व ईश्वर के प्रति अपराध माना। जब उन्हें देवदासी का वास्तविक अर्थ समझ में आया तो नाबालिग लड़कियों को इस अनैतिक उद्देश्य के लिए समर्पित करने की प्रथा के विरुद्ध उनकी सम्पूर्ण आत्मा विद्रोह कर उठी और उन्होंने कहा कि इन्हें हम देवदासी कह कर धर्म के नाम पर ईश्वर की तौहीन करते हैं तथा एक ओर अपनी वासना पूर्ति के लिए इन बहनों का प्रयोग करते हैं दूसरी ओर, उसी सॉस में हम ईश्वर का नाम (देवदासी) लेकर दोहरा अपराध करते हैं। यदि हिन्दुधर्म को जीवित रहना है तो व्यवभिचार को स्थायित्व देने वाली अस्पृश्यता तथा देवदासी प्रथा को समाप्त करना होगा। इसके लिए सुधारकों को धैर्यपूर्वक तथा अनवरत रूप से तरफा काम करने होंगे—

देवदासियों का वासनापूर्ति के रूप में उपयोग करने वालों के मध्य सुधार कार्य देवदासी समुदाय के मध्य काम क्योंकि यदि यह वर्ग व्यवभिचार का पात्र बनना अस्वीकार कर देगा तो प्रथा स्वतः एक बारगी समाप्त हो जायेगी। लेकिन भूखा व्यक्ति पाप नहीं जानता अतः देवदासियों के लिए आजीविका का कोई अन्य साधन भी खोजना होगा।

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत अथवा अस्पृश्यता निवारण के लिए गाँधी ने अन्तर्जातीय विवाह को अस्वीकार कर दिया लेकिन स्त्रियों की स्थिति में सुधार हेतु उन्होंने दो परिस्थितियों में स्वयं ही अन्तर्जातीय विवाह का प्रस्ताव किया है।

बाल विवाह की समाप्ति के लिए तथा दहेज प्रथा की समाप्ति के लिए। उनका मानना था कि दहेज प्रथा जाति व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई है अतः इस व्यवस्था को समाप्त करने के लिए युवतियों तथा उनके माता-पिता को जातिगत बन्धन तोड़ने होंगे। यदि योग्य वर न मिले तो लड़कियों को कुँवारी रहने का साहस करना होगा।

विवाह की आयु बढ़ानी होगी तथा उपर्युक्त कदम उठाने के लिए ऐसे व्यक्तित्व को शिक्षित करना जो इस हेतु देश के युवकों के मानस को उद्वेलित कर सकें।

स्त्री शिक्षा को गाँधी ने समर्थन किया लेकिन वे लड़कियों को व्यावसायिक शिक्षा देने के पक्षधर नहीं थे। उनका मानना था कि स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाय कि वह घर तथा बच्चों का पालन पोषण सुसंस्कृत ढंग से कर सके। लेकिन वे तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था को जीवन तथा व्यवहारिकता से असम्बद्ध मानते थे। युवक-युवतियों के महाविद्यालयों की शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद को मुख्य तथा करीब से प्रभावित करने वाली कुरीतियों का विरोध करने के इच्छुक और योग्य न होने से वे असन्तुष्ट थे। उनका कहना था कि यदि शिक्षित लड़कियाँ आत्महत्या करती है तो ऐसी शिक्षा का क्या महत्त्व है?

गाँधी के महिलाओं की स्थिति में सुधार सम्बन्धी विचारों के अध्ययन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग यह है कि गाँधी ने स्त्री-स्वभाव और मनोवृत्ति को अपने सत्य और अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्तों के सर्वाधिक अनुकूल पाया। उनके अनुसार, स्त्री अहिंसा का मूर्तरूप है। अहिंसा का अर्थ है— अपार स्नेह और जिसका पुनः अर्थ है— दुख सहन करने की अपार क्षमता। पुरुष की जननी, स्त्री के अतिरिक्त यह क्षमता और किसमें हो सकती है? वह नौ महिने तक बच्चों को अपनी कोख में रखकर और उसके बाद इससे सम्बद्ध पीड़ा उठाने में आनन्द प्राप्त करती है, ऐसी प्रसव पीड़ा की वेदना को कौन पराजित कर सकता है—इस स्नेह को सम्पूर्ण मानवता के रूपान्तरित करके उसे (नारी) यह भूल जाने दो कि वह कभी पुरुष की वासना का साधन रही थी या हो सकती है।

सत्य, अहिंसा की प्रवृत्ति व प्रकृति के कारण ही गाँधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के लिए स्त्रियों को आह्वान किया जिसके परिणाम स्वरूप स्त्रियों ने घर की चाहरदीवारी के सदियों पुराने बन्धन तोड़ कर सत्याग्रह व सविनय अवज्ञा के कार्यक्रमों में भाग लिया और स्वतंत्रता आन्दोलन को समस्त भारतीयों का आन्दोलन बना दिया।

5.4 सारांश

इस प्रकार जीवन के सभी पक्षों की अटूट सम्बद्धता की धारणा में विश्वास के आधार पर गाँधी चिन्तन

में “सामाजिक न्याय” की अवधारणा, व्यक्ति तथा समाज के समस्त पक्षों – सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक आदि में परिशोधन की अपेक्षा पर आधारित है। सामाजिक समानता की स्थापना में बाधक ऐसी सभी मान्यताओं, परम्पराओं, प्रथाओं और विश्वासों की उन्होंने तार्किक आलोचना की जो व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य संचालित सम्बन्धों में असमानता और शोषण का पोषण करती हो। समाज सुधार द्वारा “सामाजिक न्याय” के लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र प्रभावी साधन व्यक्ति के हृदय परिवर्तन द्वारा सामाजिक समानता पर आधारित आचरण को स्वतः आत्मसात् और अंगीकार करने की सीमा तक परिशोधन व्यक्ति की आत्मस्वीकृति पर निर्भर है। यही कारण है कि समाज-परिवर्तन के लिए उन्होंने राज्य की कानूनी शक्ति को निष्प्रभावी कह कर अस्वीकार कर दिया है। किन्तु, वर्ग विहीन समाज की स्थापना की सीमा तक व्यक्ति के परिष्कार की आदर्शोन्मुख विचारधारा अव्यावहारिक है। सम्पूर्ण विचारधारा की आधारशिला के रूप में “अहिंसा” के सिद्धान्त को आत्मसात् करने का ही परिणाम था कि समाज परिवर्तन के लिए गाँधी द्वारा स्वीकृत एकमात्र विकल्प हृदय परिवर्तन रह गया। जीवन के अंतिम लक्ष्य की आध्यात्मिकता से सम्बद्धता के कारण गाँधी चिन्तन में नैतिकता, पवित्रता, सादगी आदि जीवन मूल्यों को प्रदत्त प्राथमिकता ने विस्तृत औद्योगीकरण तथा मशीनीकरण को भी अस्वीकार कर दिया। यद्यपि वर्तमान उपभोक्तावादी प्रवृत्ति और संस्कृति में निरन्तर परिवर्द्धन व्यक्ति और आत्मसुधार के औचित्य हेतु कृत संकल्प होना सहज नहीं, किन्तु उपर्युक्त समस्या गाँधी के सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के औचित्य को संदिग्ध नहीं बनाती, अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गाँधी द्वारा “अहिंसा” को अनिवार्य साधन के रूप में अंगीकार करने के कारण हृदय-परिवर्तन का ही मार्ग और विकल्प शेष रहता है।

5.5 अभ्यास प्रश्न

1. गाँधीजी के न्याय संबंधी विचारों को समझाइये।
2. गाँधीजी के सामाजिक न्याय संगंधी विचारों को स्पष्ट कीजिए।
3. राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में न्याय की स्थापना गाँधीजी के अनुसार कैसे हो सकती है।

5.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोपीनाथ धवन : दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
2. अय्यर, राघवन, द मोरल एण्ड पोलिटीकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1973
3. सिंह, रामजी, गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1986
4. पटेल एम. एस., दी एजुकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958
5. वर्मा, वी. पी., फिलोसॉफिकल एण्ड सोशलॉजिकल फाउण्डेशन्स ऑफ गाँधीज्म, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1981
6. वर्मा, वी. पी., द पॉलिटिकल फिलॉसॉफी ऑफ गाँधी एण्ड सर्वोदय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1986
7. शंकधीर, एम.एम., अण्डरस्टैंडिंग गाँधी टुडे, दीप एण्ड दीप पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1996

सत्याग्रह : प्रतिरोध का सिद्धान्त एवं तकनीक

इकाई की रूपरेखा

- 6.0 उद्देश्य
- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 परिभाषा
- 6.3 सत्याग्रह अवधारणा और दर्शन का उदय
- 6.4 सत्याग्रह के सिद्धान्त
- 6.5 सत्याग्रह की विशेषतायें
- 6.6 सत्याग्रह का उद्देश्य एवं परिसीमा
- 6.7 सत्याग्रही द्वारा अपनाये जाने वाले वृत्त एवं नियम
- 6.8 सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध
- 6.9 सत्याग्रह और दुराग्रह
- 6.10 सारांश
- 6.11 अभ्यास प्रश्न
- 6.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप निम्नलिखित विषयों पर विचार जान सकेंगे :-

- सत्याग्रह का अर्थ।
- सत्याग्रह का उदय।
- सत्याग्रह दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त।
- सत्याग्रह और अन्य प्रतिरोध की अवधारणाओं और पद्धतियों जैसे निष्क्रिय प्रतिरोध और दुराग्रह में अन्तर।

6.1 प्रस्तावना

गाँधीजी अहिंसक शान्तिपूर्ण प्रतिरोध के महान राजनीतिक विचारक थे। राजनीतिक विचारको की भाँति महात्मा गाँधी ने भी उनके ऐसे विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जो परम्परागत रूप में राजनीतिक क्षेत्र के माने जाते हैं। उनके चिन्तन की यह खास बात थी कि उन्होंने इन विषयों की क्रान्तिकारी व्याख्या की और विश्व को राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं से सम्बन्धित विभिन्न विषयों के संबन्ध में अनूठा दर्शन दिया। इस दर्शन में उन्होंने आदर्श संरचनाओं और प्रक्रियाओं से संबन्धित राजनीतिक लक्ष्यों को प्रतिपादित किया और उनकी प्राप्ति के साधन भी बताये। गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित अनेक राजनीतिक अवधारणाओं में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है सत्याग्रह।

सत्याग्रह सम्बन्धी उनका दर्शन उनकी सक्रीय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक गतिअवधियों के साथ उद्भव होता रहा। सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रिका में और तत्पश्चात् भारत में एक अवधारणा और तकनीक के रूप में सत्याग्रह गाँधीजी के विचारों और क्रियाओं से पोषित और पल्लवित होता रहा। गाँधीजी ने उनके राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक मुद्दों को लेकर विभिन्न सत्याग्रहों का नेतृत्व किया। जो सफलता उन्हें मिली वह इस बात का संकेत है कि सत्याग्रह के माध्यम से समाज में विद्यमान अनेक समस्याओं का प्रभावी निस्तारण किया जा सकता है यदि उसे अपनाने वाला व्यक्ति सत्याग्रह की मूल बातों को ध्यान रखे और सच्चे सत्याग्रही के जो गुण गाँधीजी ने बताये हैं उनका वह अनुकरण करे।

6.2 परिभाषा

सत्याग्रह संस्कृत भाषा के दो शब्द 'सत्' और 'आग्रह' को जोड़ कर बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'सत्य के लिए आग्रह करना', 'सत्य पर अड़े रहना' और 'सत्य का अनुसरण करना'। उपर्युक्त अर्थ से एक और अर्थ निगमनात्मक रूप से निकाला जा सकता है और वह है 'असत्य का विरोध' करना। चूँकि समाज में फैले अनेक अन्याय का आधार असत्य पर टिका हुआ है इसलिए सत्याग्रह 'अन्याय का विरोध' भी करना है। 'सत्' का मतलब है 'जो कुछ भी वास्तविकता में है'। गाँधीजी की 'सत्' की धारणा यह थी कि इस जगत में सत्य के अतिरिक्त और कुछ वास्तविकता में अस्तित्व नहीं रखता, सत्य के अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है। 'सत्य' सम्बन्धी गाँधीजी के विचारों से इसके अनेक अन्य अर्थ भी निकलते हैं। जैसे शुद्धता, वास्तविकता, ज्ञान, उचित, स्वयं विद्यमान सार, वैध, अमोघ, इमानदारी, जैसा होना चाहिए, इत्यादि। 'सत्' को सम्पूर्ण सृष्टि को संचालित करने वाली परम शक्ति के रूप में भी स्वीकारा गया है और गाँधीजी परम शक्ति को ईश्वर के रूप में भी मानते हैं। 'सत्' उनके लिए सर्वोच्च और सर्वसमाहित करने वाला सिद्धान्त भी था जो निगमनात्मक तर्क के आधार पर अन्य सभी मानवीय मूल्यों और श्रेष्ठताओं से प्राथमिक भी है। गाँधीजी का तर्क था कि क्योंकि सृष्टि परम सत् को प्रतिबिंबित करता है इसलिए इहलौकिक व्यवस्थाओं और मनुष्यों को भी अपना सम्पूर्ण अस्तित्व और क्रियाओं को इसी के अनुसरण में ढालना चाहिए।

'आग्रह' का अर्थ है 'प्रबल इच्छा रखना'। 'किसी को पकड़े रखना', 'स्थिर रहना', 'अडिग अनुसरण करना', 'लगाव दृढ़तापूर्वक, रखना' और 'बल दना' आग्रह के अन्य अर्थ हैं। निगमनात्मक निष्कर्ष से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के लिए वह मूल्य अथवा वस्तु जिसके लिए वह आग्रह कर रहा है परम महत्व रखता है और उसे प्राप्त करने के लिए वह हर त्याग और प्रयास करने के लिए तैयार है।

इस तरह जब 'सत्' और 'आग्रह' की संधी से सत्याग्रह बनता है और ऐसे में इसका अर्थ निकलता है 'सत्य का आग्रह करना'। सत्याग्रह इस तरह किसी विषय, वस्तु अथवा मूल्य को सत्य का प्रतिबिंब मानते हुए उसकी प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चयी होकर हर प्रकार का त्याग करने और श्रेष्ठ यथोचित प्रयास करने का सिद्धान्त भी है और पद्धति भी। गाँधीजी का कहना था कि जब कोई व्यक्ति सत्य के लिए निरन्तर आग्रह करे और इस अग्रह पर वह अडिग रहकर हर प्रकार का त्याग करने के लिए तत्पर रहे तो ऐसी स्थिति में एक प्रबल नैतिक शक्ति का विकास होता है जो संलग्न सभी व्यक्तियों का उत्थान करती है। यह सत्याग्रह का अभ्यास करने वालों का और उन विरोधियों का भी अत्थान करती है जिनके विरोध में सत्याग्रह किया गया है। इस तरह सम्पूर्ण पक्षों का उत्थान और कल्याण की भावना सत्याग्रह के मूल में निहित है। सत्याग्रह में जिस तरह 'सत्य' को व्यापक अर्थ में समझा गया है उसी तरह 'अग्रह' कोई विशेष व्यक्ति या समूह के हित तक न सीमित रहकर सम्पूर्ण समाज और परोपकारी दृष्टिकोण से अभिभूत है।

चूँकि 'सत्य' का निगमनात्मक निष्कर्ष असत्य का विरोध भी है, इसलिए सत्याग्रह निगमनात्मक रूप से एक नकारात्मक रूप भी लिए हुए है और वह है हर असत्य के रूप में प्रतिबिंबित व्यवस्था और प्रक्रिया का विरोध करना। परन्तु यह नकारात्मक भाव से कई गुणा ज्यादा महत्व गाँधीजी के लिए उन सकारात्मक प्रयासों का है जो व्यवस्थाओं प्रक्रियाओं और मनुष्यों को असत्य से सत्य की ओर ले जाने के लिए तत्पर हैं। इसलिए सत्याग्रह में अनेक मूल्य जैसे अहिंसा, प्रेम, परोपकार, आत्मपीडा, आत्मसंयम, इत्यादि हैं जो सकारात्मक अवस्थाओं को प्रस्फुटित करते हैं और उन्हें पोषित और पल्लवित करते हुए श्रेष्ठता की ओर ले जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह से गाँधीजी का अभिप्राय सत्य एवं न्याय के रास्ते पर चलना तथा असत्य व अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना है। यह संघर्ष नैतिक और अहिंसात्मक संघर्ष है जिसमें शुद्ध अथवा नैतिक साधन का प्रयोग किया जाएगा और मन, वचन और कर्म से हिंसा को त्याग कर अहिंसा को एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाएगा। सत्याग्रही कर्ता और कार्य में भेद करते हुए यह पाप अथवा अन्याय को समाप्त करना चाहता है पापी अथवा अन्यायी को नहीं।

6.3 सत्याग्रह अवधारणा और दर्शन का उदय

जब गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका के लिये रवाना हुये थे, उन्हें नयी जगह पर मिलने वाली बाधाओं व अपमान का कोई अंदेशा नहीं था। उस समय दक्षिण अफ्रीका में सामान्य स्थितियाँ अश्वेत व्यक्ति

के लिए प्रतिकूल थीं। अश्वेत व्यक्ति पर श्वेत व्यक्ति का प्रभुत्व सामान्य बात समझी जाती थी। अल्पसंख्यक होने के बावजूद, श्वेत लोगों के दिमाग में प्रजातीय श्रेष्ठता की भावना भरी थी। उनकी बेरोकटोक राजनीतिक शक्ति ने उनकी इस भावना को और बढ़ा दिया। उनके व्यवहार में घमंड व अश्वेतों के प्रति नफरत झलकती थी। अश्वेतों के प्रति नफरत की भावना तब और बढ़ गई जब श्वेतों ने सोचा कि संसाधनों से परिपूर्ण दक्षिण अफ्रीका उपमहाद्वीप में अश्वेत अपनी संख्या के बल पर श्वेतों को उनकी लाभदायक स्थिति में हानि पहुंचा सकते हैं। अपने आप को इस देश से बाहर निकाले जाने की संभावनाओं को ध्वस्त करने के लिये श्वेतों ने अश्वेतों को अपना आज्ञापालक व आश्रित बनाने की योजना बनाई। इसी साधन से वे इस संसाधनों से परिपूर्ण उपमहाद्वीप में अपने शासन को जारी रख सकते थे। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये तथा वहां के विधिक अधिकारियों के सहयोग से अनेक ऐसे कानून लागू कर दिये जिससे अश्वेतों पर मुश्किलों का पहाड़ टूट पड़ा। अधिवास तथा नागरिक जीवन, कानून व प्रशासन, शिक्षा, अर्थव्यवस्था, व्यापार, स्वास्थ्य, जीवन, आजादी व सम्पत्ति इन सभी मामलों में प्रजातीय पहचान के आधार पर लोगों को अलग-थलग करने की नीति का पालन किया जाने लगा। अश्वेतों को अल्पसंख्यक श्वेतों के पूर्णतः अधीन करने के उद्देश्य से उन्हें किसी भी कानून का उल्लंघन किये जाने पर कड़ा से कड़ा दण्ड दिया जाने लगा।

यद्यपि ये कानून मूल अफ्रीकी अश्वेतों के लिये बनाये गये थे तथापि बाद में इनका उपयोग दक्षिण अफ्रीका में रह रहे अन्य अश्वेतों पर भी किया जाने लगा। इन अश्वेतों में भारतीय मूल के अनुबंधित व स्वतन्त्र मजदूर, कुछ व्यापारी व उनके सहायक शामिल थे। उद्योग स्थलों व खनन क्षेत्रों में काम करने वाले ये अनुबंधित मजदूर अर्ध-गुलामी का जीवन जी रहे थे। दुर्व्यवहार के कारण अपना मालिक बदलना इनके लिये बहुत मुश्किल था। अपने अनुबन्ध के निर्धारित वर्षों के बाद अनुबन्ध का नवीनीकरण न कराने पर तो इनकी मुश्किलें और बढ़ जाती थी। कुछ भारतीयों ने जब व्यापार व वाणिज्य में मामूली सफलता हासिल की तो यूरोपीय व्यापारी उनसे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने पुरजोर माँग उठाई कि अपने अनुबन्ध का नवीनीकरण न कराने वाले भारतीयों को वापिस उनके देश भेज दिया जावे। मताधिकार छीनने के प्रयास भी किये गये। लाइसेंस नीति लागू होने से भारतीयों तथा अन्य गैर-यूरोपिय व्यापारियों के लिये व्यापार करना मुश्किल तथा महँगा हो गया। इसी प्रकार यूरोपीय भाषा परीक्षा उत्तीर्ण करने की अनिवार्यता लागू करके दक्षिण अफ्रीका आने की इच्छा रखने वाले अनेक व्यापारियों के रास्ते को प्रबलता से रोक दिया गया।

कानूनी बाधाओं के अतिरिक्त भारतीयों को अनेक सामाजिक अशक्तताओं का सामना भी करना पड़ा। उनके बारे में अपमानजनक टिप्पणियां की जाने लगी। यहां तक कि उन्हें फुटपाथ पर चलने व रात नौ बजे बाद घर से बाहर रहने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। रेलगाड़ियों में उन्हें अलग डिब्बों में यात्रा करनी पड़ती थी तथा ट्रान्सवाल जैसे राज्यों में उनके लिये प्रथम व द्वितीय दर्जे की रेल्वे टिकिट ही जारी नहीं की जाती थी। श्वेत यात्री द्वारा विरोध किये जाने पर उन्हें बेहद अपमानजनक रूप से बाहर फेंका जा सकता था। यात्री डिब्बों में तो कभी-कभी उन्हें पावदान पर खड़े होकर यात्रा करने पर मजबूर किया जाता था। यूरोपीय होटलों में उनके लिये ठहरने व भोजन की सुविधा उपलब्ध नहीं थी। आरेन्ज फ्री स्टेट के श्वेत उपनिवेशिकों ने भारतीयों को किसी भी प्रकार का व्यापार करने से रोकते हुए उन्हें अपने राज्य से बाहर कर दिया। ट्रान्सवाल जैसे अन्य राज्यों में उनके लिये रहने व व्यापार करने के लिये अलग स्थान (गेटो) निर्धारित कर दिये गये जहां न्यूनतम नागरिक सुविधाये उपलब्ध थी।

फिर भी विदेशी धरती पर साधनहीन अल्पसंख्यकों के रूप में रहते हुये जीवनयापन की बाध्यताओं के कारण भारतीयों ने इस अपमान को सहन किया तथा इन सभी बाधाओं पर उदासीन रहने का भाव विकसित किया। अपमान सहते हुए भी उन्होंने केवल अपनी दैनिक आय पर ही ध्यान दिया।

इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका जाने से पूर्व गाँधीजी को अश्वेत व्यक्ति के जीवन से जुड़े प्रजातीय कलंक के बारे में जानकारी नहीं थी। अपने आगमन के कुछ ही दिनों के अन्दर उन्हें अनेक अपमानजनक स्थितियों का सामना करना पड़ा। इन अपमानजनक स्थितियों के अनुभवों से उनका दृढ़निश्चय बढ़ा कि उन्हें हटाना है। यह काम उन्हें स्वयं के लिये नहीं अपितु पूरे भारतीय समुदाय के हित में करना था जो इन अपमानों का शिकार था। अच्छी वकालत चल रही थी, स्वयं के भौतिक उन्नयन के प्रयास चल रहे थे किन्तु गाँधी इनसे उपर उठ कर जन सक्रियता के क्षेत्र में आ गये जहां उन्होंने सामान्य व्यक्तित्व व भारतीयों के सम्मान की रक्षा कार्य के

लिये कार्य किया। बाद में उन्होंने परहितार्थ कार्य किये जिनमें कई वर्गों के लोग उनके साथ जुड़े। उनका मानना था कि जनसक्रियता के साथ-साथ होगा। भारतीयों को स्वयं भी पूर्णतः दोषमुक्त बनना होगा – आत्मा व शारीर इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका जाने से पूर्व गाँधीजी को अश्वेत व्यक्ति के जीवन से जुड़े प्रजातीय कलंक के बारे में जानकारी नहीं थी। अपने आगमन के कुछ ही दिनों के अन्दर उन्हें अनेक अपमानजनक स्थितियों का सामना करना पड़ा। इन अपमानजनक स्थितियों के अनुभवों से उनका दृढ़निश्चय बढ़ा कि उन्हें हटाना है। यह काम उन्हें स्वयं के लिये नहीं अपितु पूरे भारतीय समुदाय के हित में करना था जो इन अपमानों का शिकार था। अच्छी वकालत चल रही थी, स्वयं के भौतिक उन्नयन के प्रयास चल रहे थे किन्तु गाँधी इनसे उपर उठ कर जन सक्रियता के क्षेत्र में आ गये जहां उन्होंने सामान्य व्यक्तित्व व भारतीयों के सम्मान की रक्षा कार्य के लिये कार्य किया। बाद में उन्होंने परहितार्थ कार्य किये जिनमें कई वर्गों के लोग उनके साथ जुड़े। उनका मानना था कि जनसक्रियता के साथ-साथ होगा। भारतीयों को स्वयं भी पूर्णतः दोषमुक्त बनना होगा – आत्मा व शारीर की चिन्ताओं से ऊपर उठकर उन्हें सामाजिक हित व आध्यात्मिकता के बारे में सोचना होगा। जैसे गाँधी आध्यात्मिक उद्विकास की दिशा में आगे बढ़े और प्रजातीवाद के विरुद्ध संघर्ष में शामिल होते गये, उनके राजनीतिक दर्शन का क्षेत्र भी परिपक्व होता गया। अन्होंने प्रजातीय पूर्वाग्रह की नैतिक आधार पर निंदा की ओर जनकार्यकर्ता के रूप में दक्षिण अफ्रीका की स्थानीय सरकारों के विषय में खुल कर अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने उनकी भेदवावपूर्ण व अन्यायपूर्ण नीतियों की आलोचना की और उन्होंने इस बुराई के विरुद्ध भारतीय समुदाय को इकट्ठा करने का प्रयास किया। उन्होंने परिवेदनार्थ व्यक्त करने व उनके निराकरण मांगने के लिये उपलब्ध साधनों का भरपूर प्रयोग किया। चूंकि स्थानीय सरकारें अडियल थी, गाँधी के नेतृत्व में भारतीय समुदाय व स्थानीय सरकारों के बीच आमना सामना अपरिहार्य था। इस झगड़े का परिणाम सत्याग्रह के जन्म के रूप में हुआ। सत्याग्रह का दर्शन व सक्रियता महात्मा गाँधी का इस संसार को एक महत्वपूर्ण योगदान है।

दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी ने प्रारम्भ में वहाँ अपनाये जा रहे रंगभेद नीतियों के विरुद्ध अपने नैतिक, विधि सम्मत और अहिंसक संघर्ष को कोई समुचित नाम नहीं दे पाये। आयरलैंड की महिलाओं के सिनफिन आंदोलन का प्रचलित शब्द “निष्क्रीय प्रतिरोध” के समीप अपने आन्दोलन होने के कारण, गाँधीजी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष को “निष्क्रीय प्रतिरोध” नाम दिया। परन्तु शीघ्र ही उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि “निष्क्रीय प्रतिरोध” उनके आन्दोलन की मूल भावनाओं और मूल्यों से मेल नहीं रखता तो गाँधीजी ने वैकल्पिक नाम ढूँढना शुरू किया। निष्क्रीयता उनके आन्दोलन का भाव कभी नहीं रहा इसलिए गाँधीजी ने शीघ्र अपने संघर्ष को “सक्रिय प्रतिरोध” कहा और इस प्रकार का सम्मोदन 1906 तक चलता रहा। उचित नाम की संतुष्टि उन्हें बाद में मिली। इंग्लिडियन ओपीनियन में उन्होंने अपने पाठको से अपने संघर्ष हेतु उपयुक्त नाम सुझाने के लिए प्रतियोगिता की घोषणा की और पुरुस्कार देने की बात रखी। अनेक सुझाव आए। उनके एक सहयोगी श्री मगनलाल गाँधी ने ‘सदाग्रह’ नाम सुझाया। ‘सदाग्रह’ से मगनलाल का अभिप्राय था किसी नेक काम के लिए आग्रह करना तथा अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना। गाँधीजी को मगनलाल का सुझाव अच्छा तो लगा और उन्होंने मगनलाल को घोषित पुरुस्कार भी दिया, लेकिन सदाग्रह गाँधीजी के मन की बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाया। गाँधीजी ने और मन्थन कर अखिर में ‘सत्याग्रह’ का नाम स्वयं विकसित किया। इस प्रकार सत्याग्रह की शुरुआत तो दक्षिण अफ्रीका में 1893 में हो गयी थी परन्तु इस आन्दोलन और उसमें निहित दर्शन को नाम ‘सत्याग्रह’ 1907 में प्राप्त हुआ।

6.4 सत्याग्रह के सिद्धान्त

गाँधीजी का मानना था कि अन्याय और असत्य का विरोध किया जाना चाहिए। यह विरोध सक्रीय होना चाहिए और अहिंसक और शुद्ध साधनों के माध्यम से किया जाना चाहिए। उनका मानना था कि हिंसा से किसी भी समस्या का प्रभावी समाधान सम्भव नहीं है। हिंसा का रास्ता अतः निशप्रभावी और अनुपयोगी है। हिंसा का प्रतिउत्तर भी हिंसा से न देकर अहिंसा से दिया जाना चाहिए क्योंकि अहिंसा ही दीर्घगामी अच्छे परिणाम दिलाने में सफल हो

सकती है। सत्याग्रह पर अपने विचार व्यक्त करते हुए तथा अनेक सत्याग्रह को क्रियान्वित करने के दौरान गाँधीजी ने सत्याग्रह के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों की ओर इंगित किया है जो इस प्रकार हैं:-

6.4.1 सत्य पर हमेशा अडिग रहना चाहिए

गाँधीजी के लिए 'सत्य का साथ' सत्याग्रही का ढाल भी है और सर्वशक्तिशाली अस्त्र भी। सत्याग्रही का 'सत्य का साथ' के कारण अन्धों व्यक्तियों का उस पर विश्वास और आस्था बढ़ाता है। इसलिए अपने कार्यों में सत्याग्रही अन्धों का समर्थन जुटाने में मदद करता है। गाँधीजी का मानना था कि सत्य का साथ देना उस परम शक्ति अथवा ईश्वर का साथ देना भी है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सुनियोजित तरीके से नियन्त्रित करती है। सत्य ही विरोधियों के हृदय परिवर्तन कर उसे असत्य और अन्याय से दूर करने में कारगर सिद्ध होता है। सत्य ही उद्देश्यों को औचित्यता प्रदान करता है और सत्य ही अन्तरात्मा की आवाज को प्रतिबिंबित करता है।

6.4.2 अहिंसा जीवन का सिद्धान्त बने

गाँधीजी के लिए परम सत्य की और अग्रसर होने के लिए अहिंसा का मार्ग जरूरी है। ईश्वर परम सत्य है जो सम्पूर्ण सृष्टि में निहित है। इस परम सत्य का आदर करना हिंसा को त्याग कर अहिंसक बनना है। गाँधीजी ने इस बात पर बल दिया कि अहिंसा व्यक्ति के जीवन में मात्र औपचारिकता या कायरता या व्यवहारिकता का परिचय नहीं होना चाहिए। अपितु उसे अहिंसा को दृढ़ विश्वास के साथ जीवन का सिद्धान्त मानकर अपनाना चाहिए। संकिर्ण अर्थों में अहिंसा का मतलब है मन, वचन एवं कर्म से किसी को हानि नहीं पहुँचाना। परन्तु गाँधीजी की अहिंसा की धारणा यहाँ तक सीमित नहीं है। अपितु वह इस बात पर बल देता है कि अहिंसा का अर्थ विरोधियों से प्रेम करना भी है ताकि उसे यह अभ्यास हो कि जो प्रयास किया जा रहा है वह उसके कल्याण के लिए भी किया जा रहा है।

6.4.3 कर्म और कर्म करने वाले व्यक्ति में भेद करना

गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि उसे अपनाते वाला व्यक्ति विरोधी व्यक्ति, जो अन्याय कर रहा हो या असत्य का साथ दे रहा हो उसके कर्म से गृणा करे उस व्यक्ति से नहीं। अन्यायपूर्ण और असत्यपूर्ण कार्यों का अन्त होना चाहिए, ऐसा करने वाले व्यक्ति का नहीं। सत्याग्रह इस तरह इसाहित में प्रचलित सिद्धान्त 'पाप से घृणा करो पापी से नहीं' पर आधारित है।

6.4.4 साध्य और साधन की पवित्रता

सत्याग्रह पवित्र उद्देश्य, जो सत्य के साथ संगत हो उस पर महत्व देती ही है। साथ में इस बात पर भी बल दिया गया है कि जो साधन प्रयोग में लाए जा रहे हैं वह भी पवित्र हों। गाँधीजी मानते थे कि साध्य और साधन में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। साधन निर्माण अधीन साध्य है। जैसा साधन प्रयोग किया जाएगा वैसा ही साध्य निर्मित भी होगा। इसलिए सत्याग्रह के संचालन में अहिंसक और नैतिक साधनों का प्रयोग गाँधीजी ने अपरिहार्य माना है।

6.4.5 आत्मपीडा सहना, पर पीडा नहीं देना

व्यापक अर्थ में अहिंसा को स्वीकारने के कारण गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह में यह जरूरी हो जाता है कि विरोधी के साथ किसी प्रकार की हिंसा (मनसा,वाचा,कर्मणः) नहीं किया जाए। यदि विरोधी हिंसा करे तो भी उसे मुस्कराते हुए सहे और खुद पीडा सहते हुए उसे अपना स्नेह प्रदर्शित करना और उसके कल्याण के लिए काम करना। यही व्यवहार उसे आश्चर्य कर सकता है कि सत्याग्रही उसे किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाना नहीं चाहता। विरोधी का विश्वास जीतना और उसका सहयोग प्राप्त करने के लिए इस सिद्धान्त की आत्मसात करना जरूरी माना गया है। गाँधीजी के अनुसार प्रेम अथवा स्नेह आधारित शक्ति दण्ड का भय दिखा कर प्राप्त किए जाने वाले शक्ति की तुलना में हजार गुणा ज्यादा प्रभावी और स्थायी है।

6.4.6 विरोधियों को भी अपने पक्ष में करने का प्रयास

सत्याग्रह विरोधियों को पराजित करने और स्वयं के विजयी होने की भावना से प्रथक है। यह दोनों का एक साथ बेहतर स्थिति की और उद्भव होने की कामना करता है। विरोधी को अपने पक्ष में करना इसलिए जरूरी माना गया है। विरोधी को अपने पक्ष में करने के लिए गाँधीजी ने अनेक साधनों के प्रयोग का समर्थन किया, जैसे अनुनय विनय, प्रार्थना, तर्क से समझाना, इमान्दार रहना, सत्य का हमेशा साथ देना, हिंसा न करना, आत्मपीडा, त्याग की भावना रखना, सहिष्णु होना इत्यादि।

6.4.7 विरोधियों को असत्य और बुराई से दूर करने के लिए धैर्य और सहानुभूति रखना

यद्यपि गाँधीजी ने सत्याग्रह को बहुत ही सशक्त और कारगर साधन माना, उन्होंने इस बात पर बल

दिया कि विरोधियों में परिवर्तन लाने के लिए न केवल उसके प्रति सहानुभूति का भाव सदैव रखना जरूरी है अपितु धैर्य भी रखना जरूरी है। आक्रोश, अग्रता, क्रोध आदि सब को गाँधीजी ने हिंसा के स्वरूप माने और सत्य के विपरीत। अतः सत्याग्रह में इनके लिए कोई स्थान नहीं है।

6.4.8 आत्मिक विकास का स्वयं प्रयास करना

साधन की पवित्रता के साथ-साथ गाँधीजी ने आत्मिक विकास पर भी बल दिया। उनका मानना था कि जितना शुद्ध और पवित्र सत्याग्रही होगा उसके द्वारा प्रयोग किए गए साधनों का प्रभाव भी उतना है व्यापक होगा। इसी संदर्भ में गाँधीजी ने सत्याग्रही को एकादश महावृत अपनाने पर बल दिया। इन वृत्तों के अतिरिक्त प्रार्थना, उपवास और प्रायश्चित्त के द्वारा भी गाँधीजी ने सत्याग्रही को आत्मिक विकास करने की सीख दी। ऐसा विकास गाँधीजी के अनुसार कोई भी व्यक्ति कर सकता है, भले वह बूढ़ा, नारी, गरीब, निःशक्तजन, इत्यादि क्यों न हो। इसलिए गाँधीजी आम आदमी को भी सत्याग्रह करने के लिए सक्षम मानते हैं।

गाँधी ने कुछ मौलिक एवं आधारभूत सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की जो सत्याग्रह अभियान के दौरान देखे जा सकते थे। गाँधी द्वारा सत्याग्रह अभियान को संचालित करने वाले मान्यता प्राप्त मौलिक नियमों में शामिल थे –

- (1) जिन उद्देश्यों को प्राप्त करना है, वे और शिकायतें स्पष्ट और ठोस होनी चाहिए,
- (2) हर समय आत्म-निर्भर होना चाहिए,
- (3) सत्याग्रहियों में हमेशा शुरूआत करने की भावना होनी चाहिए,
- (4) अभियान के उद्देश्यों, रणनीति एवं युक्तियों का प्रचार-प्रसार करना,
- (5) माँगों की सत्य के साथ संगतता हो,
- (6) कर अदायगी न करना, पाठशालाओं एवं सार्वजनिक संस्थाओं का बहिष्कार, सामाजिक बहिष्कार एवं स्वैच्छिक निर्वासन के रूप में असहयोग हो,
- (7) सविनय अवज्ञा या चुनिंदा कानूनों का शांतिपूर्वक तरीके से अवज्ञा हो, तथा
- (8) सरकार के कार्यों को हड़प लेना और सार्वजनिक कार्यों के संचालन हेतु समानान्तर सरकार की स्थापना करना।

सत्याग्रह के सिद्धान्तों की उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह की तीन आधारभूत मान्यतायें हैं :-

- (1) हिंसा को अहिंसा से ही समाप्त किया जा सकता है
- (2) साधन की पवित्रता ही साध्य की पवित्रता को बनाये रखता है
- (3) कर्ता और कार्य में भेद किया जा सकता है और ऐसा किया जाना चाहिए।

6.5 सत्याग्रह की विशेषतायें

सत्याग्रह सीमित अर्थों में किसी गलत नीति, कानून, व्यवस्था अथवा व्यवहार विशेष के विरुद्ध संघर्ष है जिसका उद्देश्य गलत को ठीक करना है। व्यापक अर्थ में यह एक सोच है जिसमें नैतिक मूल्यों का अधिकाधिक संग्रहण करते हुए परम सत्य या ईश्वर की प्राप्ति करना जीवन का उद्देश्य है। साथ में हर उस असत्य या अन्याय का विरोध करना भी है जो स्वयं सत्याग्रही और उसके समाज के सर्वांगीन विकास में बाधा है। सत्याग्रह के द्वारा अनेक अहिंसात्मक प्रयास से अन्याय या गलत कार्य करने वाले व्यक्ति को गलत या अन्याय के रास्ते से प्रथक करने का प्रयास किया जाता है। अन्त में सत्याग्रही ऐसे लोगों को भी अपने पक्ष में करने और साथ मिलकर एक बेहतर जीवन अवस्था की ओर बढ़ने का यह उद्देश्य रखता है। विभिन्न विद्वानों ने सत्याग्रह के अनेक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। जेम्स लूथर एडम्स के अनुसार सत्याग्रह की निम्नलिखित विशेषतायें हैं:-

- (1) यह अहिंसा पर आधारित है।
- (2) इसमें गोपनीयता का अभाव है।
- (3) यह किसी गलत नीति या कानून की उलंघना की बात करता है। ऐसे प्रयास न्याय व आपसी सहयोग की

भावना से भी प्रेरित है।

(4) यह मानवीय कानून से ऊपर दैवीय अथवा नैतिक कानून की पालना के लिए है।

(5) यह अन्तिम विकल्प के रूप में प्रयोग किया जाता है।

(6) यह अन्याय पर आधारित कानून में संशोधन अथवा उसकी समाप्ति के लिए किया जाता है।

(7) इसको अपनाने वाला व्यक्ति अपने कृत्य के लिए कानून द्वारा प्रस्तावित दण्ड को सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार है।

6.6 सत्याग्रह का उद्देश्य एवं परिसीमा

गाँधीजी द्वारा सत्याग्रह का दर्शन प्रस्तुत करते वक्त तथा उनके द्वारा सम्पन्न विभिन्न राजनीतिक व सामाजिक आन्दोलन से ज्ञात होता है कि सत्याग्रह अनेक प्रकार के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए जा सकते हैं और ये उद्देश्य अहिंसक साधनों के माध्यम से प्राप्त किये जा सकते हैं। दक्षिण अफ्रिका में गाँधीजी ने इसका प्रयोग वहाँ प्रचलित रंग-भेद नीति और उसके परिणाम स्वरूप विद्यमान आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों और अन्याय को समाप्त करने के लिए किया। भारत में उन्होंने यहाँ प्रचलित विभिन्न आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं और बुराइयों को दूर करने के लिए प्रयोग तो किया ही, इसके साथ-साथ व्यापक उद्देश्य जैसे सुशासन और स्वराज के मूल में निहित सिद्धान्तों अथवा मूल्यों की प्रतिरक्षा करने के लिए भी सत्याग्रह का प्रयोग किया। गाँधीजी के विभिन्न सत्याग्रह की व्यापक क्रियान्विति क्षेत्र इस ओर इंगित करता है कि यह सार्वजनिक मुद्दे, व्यक्तिगत अथवा आत्मशुद्धि, सामाजिक परिवर्तन, सर्वोदय, इत्यादि लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इस तरह यह कहीं भी और किसी भी प्रकार के अन्याय या असत्य के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सकता है। जहाँ नकारात्मक रूप से यह अन्याय को रोकने का प्रयास करता है वहीं सकारात्मक रूप से यह समाज, समुदाय और व्यक्ति में उन सकारात्मक अवस्थाओं को सृजित और पोषित करने का प्रयास करता है जिससे उनका नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण हो सके।

गाँधीजी ने सत्याग्रह के विशेष और सामान्य प्रकार के उद्देश्यों को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार कुछ विशेष अवस्थाओं में जैसे 'सविनय अवज्ञा' के संदर्भ में, सत्याग्रह कभी-कभी ही प्रयोग किया जाना चाहिए और यह प्रयोग भी प्रारम्भ में एक व्यक्ति या कुछ विशेष प्रशिक्षित व्याक्तियों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

विशेष समस्या के दौरान प्रयुक्त सत्याग्रह द्वारा केवल उतने का ही माँग करना चाहिए जितना कि सत्य से वह मेल रखता हों। इसलिए सत्याग्रह द्वारा प्रस्तुत माँग एक समय में न्यूनतम भी है और अधिकतम। जब यह माँग को स्वीकार किया जाए तो गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। विशेष माँग को लेकर प्रारम्भ किए गए सत्याग्रह के दौरान उससे सम्बन्ध न रखने वाले किसी अन्य माँग को शामिल करने के खिलाफ गाँधीजी ने अपने विचार व्यक्त किए।

सत्याग्रह की सफलता के लिए जिस अन्याय के खिलाफ यह किया जा रहा है उसके दुःशप्रभाव से पीड़ित समूह के सभी व्यक्तियों को अन्याय पूर्ण अवस्था के बारे में जागृत करने और उनकी चेतना का विकास करना भी सत्याग्रह का उद्देश्य होता है। जागृति सत्याग्रह की सफलता को सकारात्मक रूप से निर्धारित करती है। सत्याग्रह के दौरान जन समुदाय की सोच भी सत्याग्रह के पक्ष में करने के लिए प्रयास किया जाता है। विभिन्न अहिंसक साधनों के प्रयोग से जन-जागृति करके विशाल समुदाय को अपने पक्ष में करने का श्रम विरोधियों पर नैतिक दबाव डालने और उस अपने विचार और कार्य बदलने के लिए प्रभावित करता है।

सत्याग्रह की परिसीमा की यदि बात किया जाए तो कहा जा सकता है गाँधीजी का सत्याग्रह सम्पूर्ण और सर्वव्यापी है। कोई भी नैतिक और दृढ निश्चयी, और अहिंसा में आस्था रखने वाला व्यक्ति, भले वह पुरुष हो या नारी, अमीर हो या गरीब, सवर्ण का हो या निःशक्त जन, इसका प्रयोग अन्याय के विरुद्ध कर सकता है। यह व्यक्ति, संस्था और राज्य या सरकार के विरुद्ध किया जा सकता है और यह एक या अल्पमत में व्यक्ति दूसरे या बहुमत में व्यक्तियों के अन्याय के विरुद्ध कर सकता है। सत्याग्रह अपने सगे सम्बन्धी और प्रियतम व्यक्तियों के विरुद्ध भी किया जा सकता है और समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियों के खिलाफ भी किया जा सकता है। यह सरकार या राज्य के विशेष कानून अथवा अन्याय पूर्ण नीति के विरुद्ध किया जा सकता है। या

सम्पूर्ण राज्य या सरकार के विरुद्ध किया जा सकता है। गाँधीजी ने इस बात पर बल दिया कि सत्याग्रह का प्रयोग केवल उन मामलों में किया जा सकता है जो निजी न होकर सामुदायिक या सार्वजनिक

या सामूहिक हित के हों।

ऐसा गाँधीजी ने इसलिए कहा क्योंकि उनके अनुसार सत्याग्रह में स्वार्थ का कोई स्थान नहीं है। अंत में गाँधीजी के मतानुसार यह भी कहा जा सकता है कि सत्याग्रह का प्रयोग केवल उन हालत में किया जा सकता है जब कोई ऐसा कार्य करने के लिए कहे जो अनैतिक और अन्यायपूर्ण हो जिसे विवेक और अन्तारात्मा की आवाज अनुसार अनुचित और अन्यायपूर्ण माना जा सकता है।

6.7 सत्याग्रही द्वारा अपनाये जाने वाले वृत्त एवं नियम

गाँधीजी ने सत्याग्रह संबन्धी अपने विचारों को व्यक्त करते वक्त और कार्यों के दौरान सत्याग्रही के बारे में बहुत कुछ कहा है। इसमें आदर्श सत्याग्रही द्वारा अपनाये जाने वाले वृत्तों के बारे में भी विचार सम्मिलित है। वृत्त का सीधा-सादा अर्थ है आत्म-नियन्त्रण या 'स्वयं द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना'। अनेक धर्म जैसे हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि प्रायः सभी धर्मों में ऐसे यम-नियम बताये गये हैं जिन्हें धार्मिक जीवन व्यापन का अभिन्न अंग माना गया है। हिन्दू-धर्म में अनेक व्रतों का उल्लेख है और प्राचीनकाल से ही हिन्दू-धर्म के अनुयायी, विशेष कर स्त्रीयों और कुछ अंशों में पुरुषों द्वारा भी इसका आचरण किया जाता है। जैन, बौद्ध और इस्लाम धर्म में भी व्रतों का प्रावधान है। गाँधीजी के लिए सत्याग्रही का अनुशासित होना अत्यन्त जरूरी है। गाँधीजी ने आदर्श सत्याग्रही के लिए निम्नलिखित वृत्तों का उल्लेख किया है :-

6.7.1 सत्य के प्रति दृढ़ संकल्पित रहना।

गाँधीजी ने अपने व्रतों में सत्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। गाँधी का यह दृढ़ मत था कि सत्य का पालन किसी भी परिस्थिति में वांछनीय है। ऐसा इसलिए जरूरी है क्योंकि सत्य के अलावा बाकी सब कुछ असत्य या मिथ्या है। ऐसा मानते हुए गाँधीजी ने उत्कृष्ट मानव जीवन के लिए सत्य के अलावा बाकी सब कुछ को अनुपयोगी या बाधा उत्पन्न करने वाला माना है। गाँधीजी के अनुसार परम सत्य स्वयं को अनेक सापेक्ष सत्य के रूप में प्रतिबिंबित करती है सत्याग्रही को इन सापेक्ष सत्य के आधार पर परम सत्य या ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। गाँधीजी द्वारा जीवन की आध्यात्मिक प्राथमिकताओं का स्वीकार किए जाने के कारण उन्होंने सत्य की सर्वोच्च अवस्था को ईश्वर माना और मानव जीवन का लक्ष्य इस सर्वोच्च सत्य या ईश्वर की प्राप्ति माना।

6.7.2 अहिंसा को जीवन सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करना।

गाँधीजी के अनुसार सत्य और अहिंसा एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। गाँधीजी के अनुसार परम सत्य या ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि में निहित है। वह मनुष्य में भी अन्तरात्मा के रूप में विद्यमान है। गाँधीजी के अनुसार सत्य या ईश्वर को स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए यह अपरिहार्य बन जाता है कि वह हर उस तत्व का स्वीकार करे जिसमें सत्य या ईश्वर निहित है। यह केवल अहिंसा से ही संभव है क्योंकि हिंसा विघटनकारी और विनाशकारी शक्ति है। इसलिए गाँधीजी अहिंसा को जीवन सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते थे। उनकी अहिंसा वीरों की अहिंसा थी, कायरों अथवा अवसरवादियों की नहीं। परन्तु उनका यह भी मानना था कि यदि कायरता और हिंसा के बीच चयन करने की विवक्षता हो तो वे हिंसा को अपना पसन्द करेंगे। उनके अनुसार कायर व्यक्ति कभी भी सच्चा सत्याग्रही नहीं बन सकता है।

अहिंसा को गाँधीजी ने व्यापक अर्थ में व्याख्या की और स्वयं स्वीकार भी किया। उन्होंने अहिंसा को मन, वचन और कर्म से चोट पहुँचाने तक सीमित नहीं थी अपितु अपने विरोधियों के प्रति अपार स्नेह प्रदर्शित करते हुए उसके हर सितम को सहकर उसका हृदय परिवर्तन करना है।

6.7.3. अस्तेय

अस्तेय संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है 'चोरी नहीं करना' अर्थात् जो कुछ भी दूसरे व्यक्ति का है उसे हड़पने या अधिग्रहण का प्रयास न करना। अस्तेय में निहित 'चोरी न करने' का भाव न केवल वस्तु हड़पने का कार्य तक सीमित है अपितु इसमें इस प्रकार का सोच रखना भी सम्मिलित है। किसी दूसरे का हक छीनना या ऐसा सोचना भी अस्तेय सिद्धान्त के विरुद्ध माना जाता है। गाँधीजी भी सत्य और अहिंसा के प्रति व्यक्ति को मन, वचन और कर्म से प्रतिबद्ध होने की बात करते हैं। चोरी करना दूसरों को कष्ट पहुँचाना है और यह सत्य और अहिंसा के खिलाफ है। अस्तेय व्रत की व्यापक व्याख्या करते हुए गाँधीजी ने इसमें आमतौर पर समझा

जाने वाला बाह्य अथवा शारीरिक चोरियों को ही नहीं बल्कि दूसरे की कीमत पर होने वाले सभी प्रकार के शोषण को सम्मिलित करते हैं। उन्होंने तो यह तक माना कि अनावश्यक रूप से कोई वस्तु लेना या रखना भी चोरी है और इसलिए अनावश्यक कोई भी वस्तु नहीं रखनी चाहिए।

6.7.4 अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेय अवधारणा से घनिष्ट रूप से संबंधित है। इसमें ऐसे परित्याग का भाव है जो स्वयं की जरूरतों से ज्यादा रखने की सोच और प्रयास को अस्वीकार करता है। अपरिग्रह उतना ही रखने की अनुमति देता है जितना कि आवश्यक या महत्वपूर्ण है। गाँधीजी ने कहा कि इस व्रत का आदर्श दैनिक उपयोग की वस्तुओं का अनुचित संग्रह रोकना है। व्यक्ति को उतना ही संग्रह करना चाहिए। अपरिग्रह विचार गाँधीजी की ईश्वर में दृढ़ आस्था की परिणीति भी कहा जा सकता है। उनके अनुसार परमात्मा कभी परिग्रह नहीं करता बल्कि उसमें विश्वास रखने वाले व्यक्ति की हर विकट परिस्थितियों में भी मदद करता है। उनके मतानुसार परिग्रह हिंसा ह और पूर्ण अहिंसा सर्वस्व, यहाँ तक शरीर का भी त्याग करने (मरने) के लिए तैयार रहने की बात करता है। पूर्ण अपरिग्रह भले ही अदर्श के रूप में व्यक्ति के जीवित रहते प्राप्त करना असंभव हो, परन्तु गाँधीजी के अनुसार हमें उसके लिए साधना में सचेष्ट रहना चाहिए। गाँधीजी ने नैतिकता विहीन, भौतिक सुखों का अधिकाधिक वृद्धि का प्रयास, स्व-केन्द्रित चिन्ता और अन्यों की उपेक्षा अथवा शोषण आधारित मानवीय गतिविधियों की कटु आलोचना की। वे चाहते थे कि प्रत्येक नागरिक अपरिग्रह का भाव धारण कर अनावश्यक प्रतिस्पर्धा और पृकृति का अंधधुन धोहन से बचे। वे सादा जीवन और उच्च विचार, परोपकार और सर्वोदय की कामना करते थे।

6.7.5. ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ इन्द्रिय-निग्रह है। प्रचलित अर्थ में लोग इसे जननेन्द्रिय संयम के अर्थ में समझते हैं। गाँधीजी ने कहा कि ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है ब्रह्म की या ईश्वर या सत्य की साधना में संलग्न रहना, अर्थात् तत्संबंधी आचार करना। गाँधीजी केवल जननेन्द्रिय संयम की बात नहीं करते बल्कि सभी शारीरिक और मानसिक संयम को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार केवल ऐसा संयम ही मनुष्य को भौतिक संसार की चकाचौंध में फँसकर जीवन के नेक और आध्यात्मिक लक्ष्यों से दूर करता है।

6.7.6. अवसाद

गाँधीजी की ब्रह्मचर्य सम्बन्धी सोच केवल जननेन्द्रिय संयम तक सीमित नहीं है, यह सभी शारीरिक और मानसिक संयम को भी आवश्यक मानता है। उनके अनुसार मनुष्य की इन्द्रियाँ एक दूसरे से घनिष्ट रूप से संबन्धित हैं। आहार का भी विचारों पर प्रभाव पड़ता है और इसलिए स्वादेन्द्रिय पर नियन्त्रण जरूरी है। स्वादेन्द्रिय पर नियन्त्रण ही अवसाद का व्रत है। उनका कहना था कि भोजन केवल शरीर को जीवित रखने के उद्देश्य से ही ग्रहण किया जाना चाहिए इसलिए उसे औषधि समझकर ग्रहण किया जाना चाहिए। गाँधी जी शरीर को ईश्वर अर्थात् सत्य की खोज का साधन मानते थे। इसलिये उन्होंने इस बात पर बल दिया कि आत्मा के विकास के लिये सादा भोजन आवश्यक है।

6.7.7. निडरता

अभय से गाँधीजी का तात्पर्य सभी प्रकार के भय से मुक्ति है – मौत, धन-दौलत लुटने, अप्रतिष्ठा, शस्त्र-प्रहार, दण्ड, इत्यादि। गाँधीजी का मानना था कि सत्य की खोज और अहिंसा की पालना के लिए व्यक्ति को निडर होना जरूर है। गाँधीजी के अनुसार निडर व्यक्ति ही नैतिकता का पालन कर सकता है। सदाचरण और सदगुण के लिए अभय अपरिहार्य है। गाँधीजी शारीरिक और मानसिक बहादुरी की तुलना में नैतिक बहादुरी को प्रथमिकता देते थे। इसीलिए वे कहते थे कि साधारण मनुष्य, शारीरिक रूप से कमजोर व्यक्ति, बूड़े, नारी, इत्यादि भी सच्चे सत्याग्रही बन सकते हैं यदि वे निडरता से नैतिकता का पालन करें। निडरता, बिना प्रतिकार किए, विरोधियों का कष्ट सहने और उनके प्रति स्नेह प्रदर्शित कर हृदय परिवर्तन कर उन्हें भी सत्य या सच्चाई के रास्ते पर लाने के लिए अत्यन्त आवश्यक मना। निडरतापूर्वक अहिंसा को अपना जीवन धर्म मानना ही अहिंसा के सच्चे पूजारी की पहचान है। गाँधीजी मात्रा की बजाय गुणवत्ता को महत्वपूर्ण मानते थे और सत्याग्रह को असीमित उपलब्धियों के साधन के रूप में देखते थे। इसलिए उन्होंने कहा कि "संख्याओं की शक्ति कायर की खुशी है। साहसी व्यक्ति आत्मगौरव के साथ अकेले ही लड़ते हैं।"

6.7.8 अस्पृश्यता उन्मूलन

गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत आदर्श सामाजिक व्यवस्था को एक ऐसी समुदायिक जीवन आधारित व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है जिसमें सत्य, अहिंसा, परोपकार, आत्मनिर्भरता, परस्पर सम्मान की भावना, इत्यादि जैसे मूल्य व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन का अभिन्न अंग है। यह व्यवस्था न्याय, समता, स्वतंत्रता और परस्पर सहयोग पर आधारित है। यह शोषणमुक्त समाज है जिसमें धार्मिक सहिष्णुता और सौहार्द सर्वत्र विद्यमान है। गाँधीजी ने भारत में वर्षों से विद्यमान वर्ण व्यवस्था को स्वीकारा परन्तु उसमें कालान्तर में आए विकृतियों को दूर करने पर भी बल दिया। गाँधीजी के अनुसार वर्ण व्यवस्था मूल रूप में समाज के सदस्यों की क्षमताओं एवं योग्यता के अनुसार उनके कर्तव्यों के विभाजन की वैज्ञानिक व्यवस्था है। गाँधीजी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ लेकर जन्म लेता है और उसके कार्य सम्बन्धी योग्यता एवं क्षमता की कुछ निश्चित सीमायें होती हैं। इस स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार गाँधीजी ने आनुवांशिक तत्त्व को वर्ण-व्यवस्था का एक निर्धारक आधार माना। महात्मा गाँधी वर्ण-व्यवस्था में कालान्तर में आए विकृतियों जैसे अस्पृश्यता को सामाजिक कलंक तथा न्याय की स्थापना में बाधक मानते थे। गाँधीजी के अनुसार अस्पृश्यता भारतीय समाज के लिए एक कलंक है। उन्होंने इसे अनैतिक मानकर पाप की संज्ञा दी और कहा कि यह मानवता के विरुद्ध क्रूरतम अपराध है।

गाँधीजी अस्पृश्यता निवारण को अहिंसा की मान्यता का ही एक रूप है। गाँधीजी के अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान है और निष्कर्षात्मक रूप से वह सभी मनुष्यों में भी विद्यमान है। इसलिए मानव-मानव के बीच भेद करना उचित नहीं है और किसी व्यक्ति को अछूत मानना ईश्वर की सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान होने के सिद्धान्त को नकारना है। गाँधीजी और आगे बढ़ते हुए कहते हैं कि किसी व्यक्ति को अछूत मानना पाप है। गाँधीजी अस्पृश्यता के लिए जाति-व्यवस्था को उत्तरदायी न मानकर ऊँच-नीच की भावना तथा इस वर्ग द्वारा किये जाने वाले सफाई के कार्य को अस्पृश्यता के जन्म व विकास का कारण मानते हैं। गाँधीजी के अनुसार न तो सामान्य शिष्टाचार और न ही न्याय की दृष्टि से अस्पृश्यता का समर्थन करना संभव है। गाँधी ने अस्पृश्यता को विवेकरहित ही नहीं अपितु अमानवीय तथा हिन्दू-धर्म के प्रतिकूल भी बताया, क्योंकि इस व्यवस्था में समाज के एक बड़े वर्ग को समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रखा है। उन्होंने गीता का उदाहरण देते हुए अस्पृश्यता को हिन्दु धर्म के प्रतिकूल सिद्ध किया। छुआछूत को दूर करने के सम्बन्ध में गाँधीजी ने कहा कि यह प्रतिज्ञा केवल अछूतों से मित्रता करके ही पूरी नहीं किया जा सकता वरन् प्रत्येक जीव से उसी प्रकार प्रेम करना चाहिए जिस प्रकार हम स्वयं से करते हैं। छुआछूत समाप्त करने का अर्थ है समस्त संसार से प्रेम एवं उसकी सेवा करना। गाँधीजी अस्पृश्यता निवारण को स्वराज्य के समान ही महत्वपूर्ण मुद्दा मानते थे। उनका मानना था कि बलपूर्वक और केवल कानून के द्वारा प्रभावी रूप से अस्पृश्यता को समाप्त करना असंभव है। वे उन्हें विश्वास दिलाना चाहते थे सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलकर ही इस उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। नाराज होकर बल पूर्वक हृदय परिवर्तन नहीं करवाया जा सकता, प्रेम से ही ऐसा किया जा सकता है। गाँधी अस्पृश्यता निवारण को, सर्वर्ण हिन्दुओं के लिए प्रायश्चित्त का काम भी मानते थे जिन्होंने सदियों से अपने सहधर्मियों के प्रति अमानवीय व्यवहार किया था। गाँधीजी ने अस्पृश्यता पर सभी दिशाओं से आक्रमण करने वाले रचनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता पर भी बल दिया। इस काम के लिए गाँधीजी ने हजारों स्त्री-पुरुषों, लड़के-लड़कियों की समग्र ऊर्जा, जो कि श्रेष्ठ धार्मिक प्रेरणा से प्रेरित हो, की आवश्यकता बतायी। गाँधीजी ने ऐसे निःशक्तजन सेवकों को उनके लिए अनेक कार्य करने और अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करने को कहा जैसे – स्वास्थ्य तथा स्वच्छता की शिक्षा व विकास, अस्वच्छ व्यवसायों में उन्नत विधियों का प्रयोग, मादक द्रव्यों के सेवन का परित्याग करने की सीख, विद्यालयों की व्यवस्था, स्वयं कार्यकर्ताओं के मध्य छुआछूत का परित्याग, इत्यादि।

6.7.9 शारीरिक श्रम

गाँधीजी केवल कुछ लोगों की आर्थिक समृद्धि और लाभ का अन्धानुकरण करने के स्थान पर श्रम का महत्व, योग्यता अनुसार समाज के लिए योगदान देना और आवश्यकता अनुसार समाज से प्राप्त करने के सिद्धान्त का समर्थन करते थे। गाँधीजी 'श्रम की रोटी' सिद्धान्त का समर्थन करते थे। उन्होंने सभी को कुछ न कुछ रूप में शारीरिक श्रम करने का उपदेश दिया है। उनके मतानुसार प्रत्येक श्रम का समाज में समान महत्व है, इस आधार पर न ही उँच-नीच की धारणा का कोई औचित्य है और न ही किसी तरह के अन्तरनिहित द्वन्द और

संघर्ष का। अतः वे पूँजीपतियों और श्रमिकों के संघर्षों को भी अपरिहार्य नहीं मानते थे। दोनों वर्गों में सोहार्दपूर्ण सम्बन्ध चाहते थे। उनका मानना था कि व्यक्ति जो भी अपनी परिश्रम से प्राप्त करता है वह समाज से ही प्राप्त करता और इसलिए उसे समाज को किसी न किसी प्रकार से वापस लौटाने का प्रयास भी करना चाहिए। गाँधीजी के लिए शारीरिक श्रम आत्मनिर्भरता और शेषण—मुक्त समाज की प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन है। उनके अनुसार यह शरीर को स्वस्थ, चुस्त तथा रोग—मुक्त रखने का भी उपयुक्त साधन है।

6.7.10 सभी धर्मों का समान आदर

गाँधीजी साम्प्रदायिक एकता को भी बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने 'सर्वधर्म समभाव' के विचार एवं नीति का समर्थन किया और साम्प्रदायिक एकता व सद्भाव को अपने सार्वजनिक जीवन का सर्वाधिक प्रमुख लक्ष्य घोषित किया। धर्म उनके लिए वह सब कुछ प्रदान करने वाली आस्था है जो व्यक्ति के आत्मिक उत्थान के लिए आवश्यक है। सभी धर्म को समान रूप में सच्चाई अथवा एक ही शाश्वत सत्य की आस्था पर आधारित मानते हुए उन्होंने भारत के विभिन्न सम्प्रदायों— हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि के बीच साम्प्रदायिक एकता एवं सद्भाव की स्थापना के लिए अथक प्रयत्न किया। उन्होंने विशेषकर हिन्दू—मुस्लिम एकता पर बहुत जोर दिया। भारत में होने वाले हिन्दू—मुस्लिम दंगों को उन्होंने बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण माना। किसी धर्म के राष्ट्रीयता का आधार बनाने का प्रयास और इस आधार पर भारत का विभाजन करने के प्रयास का अन्त तक उन्होंने कडा विरोध किया।

गाँधीजी का मानना था कि हिन्दू — मुस्लिम समुदाय की औपचारिक तथा प्रत्यक्ष विविधताओं के बावजूद देश में शान्ति का निर्माण केवल उसी स्थिति में सम्भव है जब विविधताओं में एकता को सशक्त बनाकर राष्ट्रीय प्रयोजन को सर्वोपरि महत्ता प्रदान की जाए। गाँधीजी अपेक्षा करते थे कि प्रत्येक समुदाय के लोग अपने सीमित तथा संकीर्ण हित को त्याग कर राष्ट्रीय हित के बारे में सोचें एवं कार्य करें। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता को सौहार्दपूर्ण वातावरण के लिए बहुत आवश्यक माना। उन्होंने स्वीकारा कि उनके लिए सभी धर्म उतने ही प्रिय हैं जितना कि हिन्दू धर्म है तथा वे अन्य मतों को उतना ही आदरणीय मानते हैं जितना कि वे अपने मत को आदर करते हैं।

गाँधीजी साम्प्रदायिक एकता के लिए निरन्तर कार्य करते रहे और इस महान यज्ञ में उनको अपने प्राणों की आहुति भी दनी पड़ी। गाँधी जी स्वतंत्र भारत को एक सर्वधर्म समभाव राज्य के रूप में देखने की आकांक्षा रखते थे। उनकी कामना थी कि आजाद भारत में सभी सम्प्रदाय के अनुयायी को समान राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक अधिकार के साथ अपने धर्म एवं संस्कृति की रक्षा का अधिकार भी प्राप्त हो।

6.7.11 स्वदेशी

गाँधीजी का स्वदेशी से अभिप्राय आर्थिक स्वावलंबन और देशप्रेम था। स्वदेशी का सकारात्मक अर्थ अपने देश में निर्मित वस्तु के प्रयोग को प्राथमिकता देना और नकारात्मक रूप में इसका अर्थ है दूर स्थित इलाके या विदेश में उत्पादित वस्तुओं का बहिष्कार। स्वदेशी का सकारात्मक अर्थ अपने देश की सभ्यता और संस्कृति के प्रति अनन्य प्रेम भी है। अतः यह स्वाभिमान का भी पंतीक है। अनावश्यक मशीनीकरण और औद्योगीकरण के आधार पर किए जाने वाले बड़े पैमाने पर उत्पादन का गाँधीजी विरोध करते थे। बड़े पैमाने पर उत्पादन और तकनीकी नवाचार के द्वारा आर्थिक समृद्धता का अन्धानुकरण, उनके अनुसार समाज में आर्थिक आक्रमण, शोषण और हिंसा को बढ़ावा देता है। इसलिए विकल्प के तौर पर गाँधीजी विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था और आम जनता की आवश्यकता पर आधारित उत्पादन का समर्थन करते थे।

आम जनता की आवश्यकता पर आधारित उत्पादन के लिए गाँधीजी व्यापक स्तर पर कुटिर उद्योग का विस्तार करना चाहते थे। कुटिर उद्योग को गाँधीजी ने विशाल जनसंख्या, ग्रामीण जीवन की प्राधान्यता, गरीबी, इत्यादि जैसे विशेष भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल भी माना। इन्हे गाँधीजी ने आम व्यक्ति के स्वावलम्बन और सशक्तिकरण के उद्देश्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना।

कुटिर उद्योग को बढ़ावा देने के लिए गाँधीजी ने स्वदेशी सिद्धान्त को अपनाने पर बल दिया। वे चाहते थे कि स्वदेशी अपनाते हुए लोग अपने आस—पास के क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग करें। राष्ट्र के स्तर पर

इसे अपनाएने का आशय यह था कि भारतीय विदेशों में उत्पादित वस्तुओं को त्याग कर अपने देश में उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग करें। राष्ट्रीय एकता, समृद्धि और स्वावलम्बन के लिए गाँधीजी ने इसे जरूरी बताया।

गाँधीजी ने सत्याग्रही के द्वारा अपनाये जाने वाले व्रतों के अलावा उसके द्वारा अपनाये जाने वाले नियमों के बारे में अनेक अवसरों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। एक अवसर पर गाँधीजी ने सत्याग्रही के लिए निम्न सात नियमों की पालना जरूरी बताया :-

1. ईश्वर में दृढ़ आस्था
2. सत्य एवं अहिंसा में विश्वास और मानवीय प्रकृति को मूल रूप से अच्छा मानना। इस अच्छे स्वरूप को जगृत करना सत्याग्रह का उद्देश्य है और यह कार्य सत्याग्रही द्वारा आत्मपीढा सहकर विरोधी में हृदय परिवर्तन करना।
3. ब्रह्मचर्य का पालन, सत्य की रक्षा के लिए प्राण न्योच्छावर करने के लिए तैयार और अपनी सम्पत्ति को भी इस कार्य के लिए त्यागने के लिए तैयार करना।
4. वह स्वभाविक रूप से खादी अपनाये एवं चर्का काटे।
5. मध्यपान निषेध को स्वीकारे
6. आत्मानुशासन सम्बन्धी नियम जो जारी किए गए हैं उनकी अनुपालना
7. कारावास के दौरान सभी नियमों की अनुपालन करे बशर्ते कि ये नियम उसके स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचाता हो।

गाँधीजी ने सत्याग्रह के दौरान निम्नलिखित नियमों की अनुपालना भी अनिवार्य माना :-

1. क्रोध न करें
2. विरोधी के क्रोध को सहें
3. किसी भी वार या सजा का पलटकर वैसा ही वार अथवा सजा न दे। परन्तु क्रोध में दिए हुए किसी भी आज्ञा की पालना सजा के डर के मारे न करें।
4. जब बन्धी बनाने के लिए अधिकारीगण आयें या सम्पत्ति को कुर्क करने आयें तो स्वैच्छा से समर्पण करें।
5. यदि न्यायस्थिति के रूप में किसी सम्पत्ति का संरक्षक हो तो कुर्क से उसकी रक्षा जान देकर भी करें।
6. विरोधी का अपमान न करें।
7. विरोधी को न ही श्राप देना और न ही या अपशब्द कहें।
8. विरोधी का अथवा विरोधी के नेता के झंडे का नही सलामी देना न ही अनादर करें।
9. यदि कोई विरोधी को अपमान करने या उसे मारने का प्रयास करे तो अहिंसात्मक तरीके से विरोधी का बचाव करें और इसके लिए प्राण न्योच्छावर करने के लिए भी तैयार रहें।
10. कैदी के रूप में शिष्टाचार का ध्यान रखें और जेल के नियमोंकायदो की अनुपालना करें।
11. कैदी के रूप में किसी प्रकार का विशेष सुविधाओं का आग्रह न करें।
12. जेल में सुविधाओं के लिए उपवास न करें यदि इनका अभाव व्यक्ति की गरिमा को ठेस नहीं पहुँचाता हो।
13. सविनय अवज्ञा आन्दोलन के नेतृत्व द्वारा दिए गए आज्ञाओं की सहर्ष अनुपालना करें।
14. आन्दोलन में कुछ आज्ञाओं को स्वीकार करना और कुछ का नकारना ऐसे आचरण से प्रथक रहें। यदि जो कार्य प्रस्तावित है वह अनुचित और अनैतिक हो तो पूर्ण रूप से ऐसे कार्य या आन्दोलन से प्रथक हो जाएं।
15. सहभागिता का कोई शर्त नहीं रखें जैसे सहभागिता करने पर कोई पीछे छोटे परिवार की रक्षा और आवश्यकता पूरा करे।
16. साम्प्रदायिक झगडों का कारण न बने।
17. साम्प्रदायिक झगडों में किसी भी पक्ष लेने से बचे पर जो पक्ष अधिकाधिक सही लगे की मदद करना। साम्प्रदायिक दंगों में अपना जान देकर सभी पक्षों के लोगों की रक्षा करना
18. ऐसे अवसरों से बचे जो साम्प्रदायिक झगडो को जन्म दें।
19. ऐसे यात्राओं में भाग न लें जो किसी समुदाय की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाये।

सत्याग्रह में संलग्न व्यक्ति की दृढ़ता, आत्मबल एवं बुद्धिबल में वृद्धि के लिए गाँधीजी ने प्रतिज्ञा पर बल दिया है। उनका मानना था कि प्रतिज्ञा लेने वाले व्यक्ति में उद्देशित कार्य करने का मनोबल और आत्मबल आ जाता है। उसकी इच्छा शक्ति बढ़ जाती है और वह लक्ष्य प्राप्ति के लिए हर प्राकर की कुर्बानी देने के लिए तैयार हो जाता है। गाँधीजी के अनुसार प्रतिज्ञा के प्रभाव से लक्ष्य प्राप्त करना आसान हो जाता है। गाँधीजी ने सत्याग्रह प्रारम्भ करने से पूर्व निम्नलिखित तीन प्रण लेने की बात कही है:-

- (1) अन्याय के सामने नहीं झुकने की प्रतिज्ञा।
- (2) विरोधी और उसकी सम्पत्ति के प्रति हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा और
- (3) सत्याग्रह के हर परिणाम को सहर्ष स्वीकार करने की प्रतिज्ञा

सत्याग्रह का संचालन करने वाले या नेतृत्व प्रदान करने वाले व्यक्ति के लिए भी गाँधीजी ने कुछ योग्यतायें निर्धारित की हैं। जैसे:-

1. या तो वह स्वयं भुक्तभोगी हो अथवा भुक्तभोगियों का आमंत्रित तथा अधिकृत प्रतिनिधि हो।
2. मन, वचन एवं कर्म से वह अहिंसा में आस्था रखता हो।
3. वह सुख-दुख, हार-जीत जैसी परिस्थितियों में विचलित होने वाला न हो।
4. वह सामान्यतः नियमों और कानूनों का पालन करने वाला नागरिक हो।
5. वह जागरूक और अनुशासित हो और सत्याग्रह के सिद्धान्तों तथा रणनीतियों में प्रशिक्षित हो।
6. उसमें असीम दया, प्रेम भाव, परमार्थ सेवा का भाव और सहनशक्ति हो। वह सद्गुणी और सभ्य हो तथा इन्द्रिय नियन्त्रण या संयम बरतने वाला हो।
7. वह सभी नैतिक साधन, विवेक, आत्मपीडन और आत्म-बलिदान का यथोचित प्रयोग करते हुए समस्याओं को ऐसा निदान ढूँढने वाला हो जिससे सभी पक्ष सन्तुष्ट होते हों।
8. वह स्वयं तथा प्रतिपक्षी के गुण-दोष का सही आंकलन करने वाला हो तथा स्वयं में पाये गये दोष को तत्काल दूर करने का प्रयास करने वाला हो।
9. अपने प्रतिपक्षी की कमजोरी अथवा मजबूरी का फायदा उठाने वाला नहीं हो और
10. वह ऐसा कोई कदम न उठाये जो सत्याग्रह के मौलिक सिद्धान्तों के विपरीत हो।

गाँधीजी के अनुसार व्यक्ति को सत्याग्रह का सहारा तब लेना चाहिए जब उसकी समस्याओं के समाधान के लिए संविधान और कानून द्वारा प्रदत्त सभी साधन समस्या का समाधान करने में असफल हो जाए। उन्होंने सत्याग्रह संघर्ष की शुरुआत से पहले 'देखो और इन्तजार करो', 'सार्वजनिक अन्वेषण द्वारा तथ्यों का मूल्यांकन करना', 'समझौता', 'वार्ता', 'मध्यस्थता' 'अनुनय-विनय' आदि संवैधानिक युक्तियों का सहारा लेने की वकालत की। गाँधीजी ने इस बात पर बल दिया कि सत्याग्रह में सभी सहभागियों को नेतृत्व द्वारा निर्देशित नियमों के प्रति अनुशासन बनाये रखना चाहिए। सत्याग्रही प्रतिरोधियों द्वारा निर्मित अनैतिक नियम एवं कानून से परे जाकर अपनी अन्तरात्मा की आवाज के आधार पर सभ्य एवं अहिंसक तरीके से प्रतिरोध करने की आवश्यकता और महत्त्व पर बल देता है। गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा को अहिंसा की सक्रिय अभिव्यक्ति के रूप में तथा अवज्ञा करने वालों के लिए अनिवार्य अनुशासन के रूप में मान्यता प्रदान की है। अनैतिक राज्य कानून और नियमों की अवहेलना से पूर्व, गाँधीजी यह आवश्यक मानते थे कि सत्याग्रही की यह पहचान होनी चाहिए कि वह कानून और संविधान को मानने वाला अनुशासित नागरिक है। सत्याग्रह में आवश्यकता अनुसार राज्य कानून की अवहेलना के दौरान भी 'सभ्य व्यवहार' को 'कानून की अवहेलना' से ज्यादा महत्वपूर्ण माना गया है। इस 'सभ्य व्यवहार' में चुनिन्दा कानून के अलावा अन्य सभी कानून और नियमों की पालना करना तथा कानून की अवहेलना करने पर निर्धारित दण्ड विनम्रता पूर्वक स्वीकार करना सम्मिलित है। उन्होंने कहा कि बिना विनयता और अनुशासन से किया हुआ अवज्ञा विभेद, हिंसा और विनाश की ओर ले जाता है।

सविनय अवज्ञा का चाहे जो भी प्रकार हो, गाँधीजी बहुत स्पष्ट थे कि प्रत्येक अवज्ञा का कार्य सविनय होना जरूरी है। इसमें सभी कार्य पारदर्शी और खुली हों और सत्य एवं अहिंसा की ओर ले जाने वाली हों। उन्होंने माना कि कानून की अवज्ञा को कभी अव्यवस्था फैलाने के लिए प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। यदि कुछ ऐसा होता है तो यह आपराधिक अवज्ञा है जो कि निन्दनीय है। इसलिए गाँधीजी मानते थे कि यदि कभी हिंसा अचानक फूट पड़े और अव्यवस्था फैलने लगे तो सत्याग्रही को इसे रोकने का प्रयास करना चाहिए, भले ही ऐसा

प्रयास उसके जीवन के लिए ही खतरा क्यों न हो। सत्याग्रह के पवित्र उद्देश्यों को समझाते हुए गाँधीजी ने कहा कि यह हिंसा को अहिंसा के द्वारा निशकिय एवं समाप्त करने, घृणा को प्यार द्वारा और झगड़े को समझौता के द्वारा हटाने के लिए प्रयासरत है। यद्यपि सविनय अवज्ञा जैसे सत्याग्रह को गाँधीजी ने नागरिक का जन्म सिद्ध अधिकार माना, उन्होंने इस बात पर बल दिया कि कर्तव्य प्रत्येक अधिकार की पूर्व कल्पना है। उनके लिए अधिकारों का अपने आप में अस्तित्व रखने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

6.8 सत्याग्रह और दुराग्रह

सामान्य प्रचलन में प्रायः यह देखने को मिलता है कि अनेक व्यक्ति या समूह सतही अहिंसा अपनाते हुए अपने विरोध को सत्याग्रह बताते हैं। परन्तु वास्तविकता कुछ और होने के कारण यह सत्याग्रह के मूल सिद्धान्तों अथवा मूल्यों के विरुद्ध हैं। सत्याग्रह की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। ईर्ष्या, द्वेष, रंजिश, अवसरवादिता, प्रतिशोध, इत्यादि के भाव इनमें विद्यमान होने के कारण केवल सतही स्तर पर ऐसे विरोध सत्याग्रह के समान प्रतीत होते हैं। सत्य, न्याय, सदाचार, प्रतिपक्षी इत्यादि के सम्बन्ध में विद्यमान सोच के आधार पर इनमें और सत्याग्रह में अन्तर किया जा सकता है और इन्हे, दुराग्रह की श्रेणी में रखा जा सकता है। सत्याग्रह और दुराग्रह में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं:-

1. दुराग्रही सत्य, न्याय व सदाचार पर अपना एकाधिकार साबित करने का प्रयास करता है। वह सोचता है कि सत्य को केवल वह ही जानता है और इसलिए केवल वह ही सही है। वह गलत हो ही नहीं सकता। दुराग्रही के अनुसार उसका प्रतिपक्षी सत्य नहीं जानता अतः वह सही नहीं हो सकता या वह गलत है।

सत्याग्रही मानवीय प्रकृति की सीमाओं और अहिंसा के व्यापक अर्थ को स्वीकार करते हुए इस सम्भावना से इनकार नहीं करता कि वह गलत हो सकता है और उसका विरोधी सही हो सकता है। सत्य, न्याय और सदाचार पर अपना एकाधिकार नहीं मानता और इसलिए सत्याग्रह से पूर्व और सत्याग्रह के दौरान तथ्यों को नियमित रूप से जानने और विश्लेषण करने की आवश्यकता को महसूस करता है। प्राप्त जानकारी के आधार पर वह अपना कथन, माँग और प्रयासों में उचित परिवर्तन करने के लिए भी तैयार रहता है।

2. दुराग्रह में विरोधी या प्रतिपक्षी को अपना पक्ष रखने का अवसर ही नहीं दिया जाता और पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर उसे पहले ही गलत या अनुचित मान लिया जाता है।

सत्याग्रह में प्रतिपक्षी को अपनी बात रखने और स्वयं की बात उसे समझाने का प्रयास किया जाता है। प्रतिपक्षी को मुक्त सोच से सुनने और यथासंभव सत्य के अनुरूप होने पर उसे तत्काल स्वीकार करने की चेष्टा सत्याग्रही द्वारा किया जाता है।

3. पूर्वाग्रह से ग्रसित होने के कारण दुराग्रह में प्रतिपक्ष को विवेक या तर्क के आधार पर समझने का प्रयास नहीं किया जाता। पूर्वाग्रह, द्वेष, प्रतिशोध इत्यादि भाव से प्रभावित होकर दुराग्रही अपने प्रतिपक्षी को शत्रु मानता है और उसे परास्त करने की होड़ में संलग्न रहता है। आत्मपीडान सहने और हृदय परिवर्तन करने के भाव दुराग्रह में विद्यमान नहीं हैं।

सत्याग्रह में विवेक और तर्क को महत्वपूर्ण माना जाता है। तर्क के आधार पर प्रतिपक्षी को समझने और समझाने का प्रयास किया जाता है। तर्क जहाँ विरोधी में उचित और वाँछित परिवर्तन लाने में असफल हो जाए, तब आत्मपीडा या विरोधी द्वारा दिए गए सितम का बिना प्रतिकार किए सहने और उसके प्रति असीम स्नेह प्रदर्शित कर उसका हृदय परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता है। विद्यमान संघर्ष के मुद्दों को मिलकर एवं सभी पक्षों को स्वीकृत हो ऐसे समाधान ढूँढने का प्रयास किया जाता है। संघर्ष समाधान में अन्ततः किसी एक का विजय होने और दूसरे का परास्त होने का भाव न होकर सभी पक्षों का एक बेहतर अवस्था की ओर अग्रसर होने की बात निहित है।

4. दुराग्रह में प्रतिपक्षी और उसके कार्य में कोई भेद नहीं किया जाता। संघर्षों को खत्म करने के लिए शत्रु तुल्य प्रतिपक्षी का ही अंत करने, उसे हराने, सताने और नीचा दिखाने जैसे अनेक प्रयासों का समर्थन किया जाता है।

सत्याग्रह में प्रतिपक्षी के व्यक्तिशय अस्तित्व और उसके कार्यों में भेद किया जाता है। इसाई धर्म द्वारा बताया गया नैतिक सिद्धान्त "बुराई से नफरत करो, बुरे से नहीं" को अंगीकृत कर प्रतिपक्षी के अनैतिक कार्य

और उसके प्रभाव को खत्म करने का प्रयास किया जाता है और प्रतिपक्षी को व्यक्तिशय किसी प्रकार सताने, लज्जित करने, परास्त करने या दण्डित करने का प्रयास मन, वचन और कर्म से नहीं किया जाता। सत्याग्रही और प्रतिपक्षी दोनों मिलकर सक्रिय प्रयासों से बुराई और अन्याय को समाप्त करने का प्रयास करते हैं।

6.9 सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध

जैस-जैसे गाँधीजी आध्यात्मिक उद्विकास की दिशा में आगे बढ़े और प्रजातीवाद के विरुद्ध संघर्ष में शामिल होते गये, उनके राजनीतिक दर्शन का क्षेत्र भी परिपक्व होता गया। अन्होंने प्रजातिय पूर्वाग्रह की नैतिक आधार पर निंदा की ओर जनकार्यकर्ता के रूप में दक्षिण अफ्रीका की स्थानीय सरकारों के विषय में खुल कर अपने विचार प्रकट करने लगे। उन्होंने उनकी भेदवावपूर्ण व अन्यायपूर्ण नीतियों की आलोचना की और उन्होंने इस बुराई के विरुद्ध भारतीय समुदाय को इकट्ठा करने का प्रयास किया। दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी ने सरकार की रंगभेद नीतियों के विरुद्ध अपने नैतिक, विधि सम्मत और अहिंसक संघर्ष को "निष्क्रीय प्रतिरोध" नाम दिया। परन्तु शीघ्र ही उन्हे जब यह ज्ञात हुआ कि "निष्क्रिय प्रतिरोध" उनके आन्दोलन की मूल भावनाओं और मूल्यों से मेल नहीं रखता तो गाँधीजी ने वैकल्पिक नाम ढूँढना शुरू किया। निष्क्रिय प्रतिरोध प्रायः दुर्बल और निःशस्त्र व्यक्तियों का साधन माना जाता है। इसमें हिंसा का परित्याग जीवन-सिद्धान्त के रूप में नहीं अपनाया जाता अपितु परिस्थितिवश कमजोर होने का आभास होने के कारण अपनाया जाता है। यह परिस्थितिवश कमजोर पडने के कारण हैं प्रतिरोध करने में निष्क्रियता का भाव लिए हुए है। इसलिए यह सतही तौर पर अहिंसक एवं अपने प्रतिपक्ष द्वारा दिए गए दण्ड को सहने की बात करता है। प्रतिपक्ष के प्रति स्नेह या उसके प्रति मंगल कामना के भाव इसमें नहीं है। इन सब प्रवृत्तियों से प्रथक सत्याग्रह अत्यन्त सक्रिय प्रतिरोध है जो असत्य और अन्याय को समाप्त करने के लिए अहिंसक साधनों में सिद्धान्तः विश्वास करता है। इसमें अवसरवादिता या कायरता का कोई स्थान नहीं है और विरोधी को स्नेह-भाव सहित साथ लेकर सत्य की और अग्रसर होने का भाव निहित है। सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में विद्यमान मूलभूत अन्तर निम्नलिखित है :-

1. निष्क्रिय प्रतिरोध में आत्मशक्ति का कोई महत्व नहीं है। यह परिस्थिति अनुसार व्यवहारिक कामचलाऊ प्रतिरोध करने का साधन है। सत्याग्रह नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध विरोध का सिद्धान्त, है जिसमें शारीरिक शक्ति नहीं आत्मशक्ति को श्रेष्ठ माना है।
2. निष्क्रिय प्रतिरोध निर्बल और कायरों का शस्त्र है। प्रतिपक्षी की तुलना में स्वयं को कमजोर होने का आभास निष्क्रिय प्रतिरोध अपनाने वाले व्यक्ति को भयभीत करता है। ऐसे भय के कारण वह निष्क्रिय होकर प्रतिपक्षी का विरोध नहीं करता। सत्याग्रह आत्मिक रूप से बलवान और साहसी लोगों का साधन है। अहिंसा के प्रति उनकी ऐसी प्रतिबद्धता है कि वे प्राण न्योछावर कर देंगे पर प्रतिपक्षी पर वार नहीं करेंगे। ऐसी आत्मपीड़ा सहने की शक्ति कायर नहीं विकसित कर सकते, यह तो वीर और बलवान ही विकसित कर सकते हैं।
3. निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रतिपक्षी के प्रति स्नेह और मंगल कामना का भाव नहीं है अपितु उसे परेशान कर हार मानने के लिए विवश करने का भाव निहित है। सत्याग्रह में प्रतिपक्षी के प्रति आदर, स्नेह और मंगल कामना का भाव निहित है। धैर्यपूर्वक उसके कष्ट सह कर प्रतिपक्षी का हृदय परिवर्तन करके उसे असत्य और अन्याय के रास्ते से अलग करना सत्याग्रही का मूल उद्देश्य है।
4. निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रेम की गुंजाइश नहीं है जब कि असत्याग्रह में अपार प्रेम, सहानुभूति, परोपकार आदि भाव निहित है। निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रतिपक्ष के लिए घृणा और दुर्भावना प्रधान है जब कि सत्याग्रह में घृणा और दुर्भावना का कोई स्थान नहीं है।
5. निष्क्रिय प्रतिरोध में हिंसा को परिस्थिति वश त्याग दिया जाता है या इससे दूर रखा जाता है। उचित अवसर प्राप्त होने पर यह हिंसा का निषेध नहीं करता। सत्याग्रह सिद्धान्तः हिंसा का पूर्णतः परित्याग करने की बात करता है। यानि पूर्णतः अनुकूल परिस्थिति में भी यह हिंसा का निषेध करता है।
6. निष्क्रिय प्रतिरोध में व्यक्ति की आन्तरिक शुद्धता और साधन और साध्य दोनों की पवित्रता पर बल नहीं दिया जाता। परन्तु सत्याग्रह में सत्याग्रही के नैतिक और अध्यात्मिक विकास और साधन और साध्य दोनों की शुद्धता पर बल दिया जाता है।
7. सत्याग्रह की तरह निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग अपने घनिष्ठ सम्बन्धियों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु सत्याग्रह का प्रयोग सार्वभौम रूप से किया जा सकता है।

8. निष्क्रिय प्रतिरोध की अपेक्षा सत्याग्रह अन्याय और अत्याचार का अधिक निश्चित विरोध है।

6.10 सत्याग्रह के रूप / प्रकार

गाँधी ने उसके सत्याग्रह अभियान के दौरान बहुत से सिद्धान्तों को काम में लिया तथा व्याख्यायित किया। उन्होंने सत्याग्रह की तुलना एक पेड़ से की और सत्याग्रह के साधनों की तुलना उसकी विविध शाखाओं से की। यह सभी पद्धतियाँ एक समान हैं। साध्य और साधनों की एकता व शुद्धता के रूप में, अहिंसा से लगाव तथा देश-काल के समान उनके महत्व की दृष्टि में। हालांकि ये विविध रूप दो एकदम विपरीत सकारात्मक और सकारात्मक रूपों के बीच स्थित हैं, सकारात्मक रूप ज्यादा व्यापक हैं। शैक्षणिक दृष्टि से राघवन एन. अय्यर ने इनको चार मुख्य रूपों में विभाजित किया है –

6.10.1 शोधक एवं पश्चातापी युक्तियाँ

जहाँ तक शोधक एवं पश्चातापी युक्तियों का संबंध था यह कहा जा सकता है कि यह शक्ति प्रदत्त अभिकर्मक थे जो सत्याग्रही को न्यूनतम संभव समय में संघर्ष की स्थितियों से सबसे प्रभावी रूप से निपटने में सक्षम बनाता है और उसके शरीर जीवन एवं सम्पत्ति के नुकसान के रूप में सबसे कम संभव पीड़ा सहन करता है। गाँधी ने कई शोधक एवं पश्चातापी युक्तियों की वकालत की जिनमें – प्रतिज्ञाएँ, प्रार्थनाएँ एवं उपवास आदि शामिल थे।

एक व्यक्ति को जो करना चाहिए उसको किसी भी कीमत पर करने का वचन देना ही प्रतिज्ञा कहलाती है। गाँधी ने इसे सत्याग्रह अभियान में सशक्त उत्प्रेरक तत्व के रूप में माना तथा स्व-अनुभूतिकरण व चरित्र निर्माण के लिए अपरिहार्य क्षमता के रूप में देखा। उनका विश्वास था कि इसके द्वारा इसके अभिग्रहणकर्ता न केवल आत्म-शुद्धीकरण व पूर्णता की ओर बढ़े बल्कि इस विकास क्रम के परिणाम के रूप में सत्याग्रह कार्यवाही ओर भी तीव्र, शक्तिशाली प्रभावी अभियान बन गयी। इस अनुशासन का प्रत्येक सत्याग्रही स्वयंसेवक में दिखाई देना जरूरी माना गया। गाँधी ने प्रतिज्ञाओं का एक ऐसा खाका तैयार किया जिसमें मन, वचन और कर्म से सत्य और अहिंसा की अनुपालना करना, सामुदायिक मित्रता को बढ़ावा देना, खादी स्वीकारना, अस्पृश्यता निवारण, देश और धर्म की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार की पीड़ा को सबने का साहस स्वीकारना, संगठन के नेताओं के आदेशों की अनुपालना करना आदि शामिल हैं। जिन पर समय-समय पर विभिन्न प्रकार से जोर दिया गया। यह कोई महत्त्व नहीं रखता था कि कौनसी प्रतिज्ञाएँ की गई थी। गाँधी जी ने प्रत्येक प्रतिज्ञा को अपने कार्य में सत्याग्रह की सदभावना के भाग के रूप में देखा। जिसके समाधान में वह लगा रहा था जोकि सत्याग्रह अभियान के में चुने गये कार्यों के लिए कठोर परिश्रम करने हेतु साहसी और अहिंसक रूप से कार्य करने को तैयार हुआ। गाँधी संतुष्ट थे कि प्रतिज्ञाएँ सत्याग्रही की इच्छा शक्ति को सशक्त बनाती हैं और उसको उन कार्यों को करने के लिए तैयार करती हैं जिनको शुरू करने की उसकी इच्छा थी। इन प्रतिज्ञाओं के आधार पर गाँधी ने देखा कि सत्याग्रह अन्याय का प्रतिरोध है, विरोधी के जीवन, व्यक्तियों व सम्पत्ति को हिंसा से बचाता है और प्रसन्नतापूर्वक स्वयं उस कार्य के परिणामों की पीड़ा भोगता है। गाँधी ने एक अनुशासन संहिता तैयार की सत्याग्रही एक व्यक्ति के रूप में, एक कैदी के रूप में, इकाई के अंग के रूप में तथा सामुदायिक मैत्री को बढ़ावा देने के रूप में उसकी विभिन्न योग्यताओं को मानने के प्रति वचनबद्ध था।

हालांकि गाँधी के आस्तिक झुकाव ने उसे यह तर्क देने हेतु जोर डाला कि – कोई भी सर्वोत्तम मानवीय प्रयास का लाभ नहीं उठा सकता यदि उसके पीछे ईश्वर का आशीर्वाद नहीं हुआ तो। उनका विश्वास था कि एक व्यक्ति में उसने शारीरिक अस्तित्व के कारण कई कमजोरियाँ होती हैं और परिणामतः वह कभी कभी अपने को अपने जीवन में की गई प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के प्रयत्न में कठिनाई यह महसूस करता है। ऐसी कमजोरियों से अपनी आत्मा के मुक्त होने और अपने जीवन में की गई प्रतिज्ञाओं को पूरा करने में सक्षम होने के क्रम में गाँधी ने माना कि एक व्यक्ति का भगवान का आशीर्वाद जरूरी है। उनका विश्वास था कि यह सर्वशक्तिमान ईश्वर की विनम्र प्रार्थना करके ही किया जा सकता था। ईश्वर में जीवित आस्था ही सत्याग्रही को सत्याग्रह के संघर्ष में सम्मिलित कठिनाईयों का कम करती है। गाँधी प्रार्थना की शरण लेने को ज्यादा अच्छे से अच्छा आचरण करना मानते थे। यह प्रार्थना जो आत्मा की लालसा दिखलाती थी, गाँधी ने जोर दिया कि

वह मात्र मशीनी आविष्कार मात्र नहीं होनी चाहिए, जो नाटकीय प्रभाव के लिए स्वीकार की गई, बजाय जहां तक हो वहां तक भौतिक गतिविधियों का पूर्णरूपेण बहिष्कार होना चाहिए जो कि एक ही सत्ता के स्वामित्व में रखी हो और व्यक्ति को सभी शारीरिक कार्यों से पूर्णतः विलग कर लिया, जिससे वह अपने को सर्वोच्च स्तर की ओर उठ पाता है। उनका विश्वास था कि केवल ऐसी प्रार्थना ही व्यक्ति को इस चकाचौंध के स्तर से ऊपर उठाती है और सर्वोच्च सत्ता की चेतना ग्रहण की और दृष्टि की स्पष्टता उत्पन्न होगी। गाँधी ने यह भी देखा था कि यह विरोधी के हृदय में परिवर्तन लाने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है और इसे पर बड़ी उपलब्धियों की हासिल करने की क्षमता के साथ विद्यमान सत्ता के रूप में भी विचार किया।

प्रार्थना के समान ही गाँधी ने उपवास (Fasting) को भी व्यक्तियों के तनाव को कम करने के साधन के रूप में पहचान दी। वे तो उपवास को प्रार्थना को सबसे सच्चे स्वरूप तक मान्यता प्रदान की। जब से उन्होंने उपवास को सत्याग्रही के सभागार का बसे शक्तिशाली साधन माना तब से वे इसके प्रयोग के दौरान ज्यादा सावचेत रहने और देखभाल रहने की सलाह दी। गाँधी ने समान रूप से सच्चे उपवास की विशेषताओं की रूप रेखा खींची। उन्होंने कहा कि "हालांकि केवल शरीर के लिए उपवास उसके पिछे विद्यमान इच्छा के अलावा कुछ नहीं है। आंतरिक उपवास की शुद्ध स्वीकारोक्ति सत्य को अभिव्यक्त करने की अदम्य लालसा ओर कुछ नहीं केवल सत्य है। इसलिए सत्य के कारण के लिए उपवास के सौभाग्य को केवल वे ही खोते हैं जो इसके लिए ही कार्य करते हैं और जो अपने विरोधी से भी प्रेम करता है जो पार्श्विक आवेगों से मुक्त है और जो भौतिक स्वामित्वों, भावनाओं को पी जाते हैं। उन्होंने जोर दिया कि यह कोई यांत्रिक प्रयास या मात्र दिखावा नहीं बल्कि आत्मा की गहराई से उठने वाली तरंग होनी चाहिए। सभी उपवास समपरिणामी होने चाहिए, गाँधी सहमत थे कि व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार यह यह करे और पर्याप्त प्रशिक्षण से गुजरने के उपरांत अंतिम उपाय के रूप में इसका सहारा लेना चाहिए। उपवास की एक दूसरी अनिवार्य शर्त के रूप में गाँधी ने माना कि जो व्यक्ति उपवास के लिए अपने को तैयार करता है, उसके द्वारा ही उपवास किया जाना चाहिए और वह लोगों से जुड़ा होना चाहिए, वे लोग उसके विरुद्ध हो जिनके लिए उपवास किया जा रहा है और अंत में यह लोगों के उद्देश्यों से सीधा जुड़ा होना चाहिए। इस तथ्य की पहचान की कि वास्तविक उपवास सबसे ज्यादा संभव चरित्रवान व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए, गाँधी की उपवास की वकालत सामान्यतया भोजन और तृष्णा की सीमाओं की पहचान से परे जाने की थी।

गाँधी ने सत्याग्रही के आध्यात्मिक अनुपासन के रूप में मौन की भी पहचान की। उन्होंने माना कि यह सत्याग्रही को सत्य की खोज एवं आध्यात्मिक विकास में न केवल अमूल्य सहायता देगा बल्कि ईश्वर के साथ सम्पर्क में भी बहुत सहायक है। उन्होंने यह भी माना कि सत्ता के रूप में यह व्यक्ति की ऐसी प्राकृतिक कमजोरियों, जैसे सत्य को सोच समझकर या बिना सोचे समझे बढ़ाचढ़ा कर पेश करने की, दबाने की या संशोधित करने की अद्योवृत्ति आदि, पर विजय की इच्छा रखने वालों के लिए जरूरी है।

6.10.2 अहिंसक असहयोग

गाँधी ने अहिंसक असहयोग को सत्याग्रह का एक गहन रूप माना। जो कि पूर्व निर्धारित रूप में राज्य जो कि असहयोगी की दृष्टि में भ्रष्ट हो चुका था, के साथ सहयोग के हाथ खींच लेने के राजनीतिक परिणाम रखता था। गाँधी इसकी प्रक्रियात्मक क्षमता के इस आधार से संतुष्ट थे कि – कोई भी जो स्थायी रूप से अशुभ कार्य करना चाहते थे वे तब तक सफल नहीं हो सकते हैं जब तक कि जिसके विरुद्ध यह कार्य निर्देशित थे वे उसका इच्छा पूर्वक सहमति या निष्क्रिय स्वीकारोक्ति नहीं दे देते हैं। इस प्रकार जब उत्तरवर्ती-पूर्ववर्ती को सहयोग करने से इनकार कर देता है, तो पूर्ववर्ती अपने निरंतर बुराई करने के कार्यों में विफलता पाता है और यह बुराई अपने आप अपने उदभव बिन्दु पर प्रभावी रोक लगा लेती है।

असहयोग की मूल प्रकृति पर जोर देते हुए गाँधी ने कहा कि "असहयोग मेरे द्वारा प्रयुक्त अर्थ में अहिंसक रूप में प्रयुक्त होना जरूरी है और इसलिए न तो यह दण्डात्मक और न ही प्रतिशोधक न ही दुर्भावना, द्वेष या घृणा पर आधारित है।" सत्याग्रह एक सक्रिय सहयोग के रूप में देखा गया है बजाय विरोधी द्वारा पहले अपनी बुरी मनोवृत्तियों को त्याग करने के। गाँधी का इस बात में पक्का विश्वास था कि कोई भी आदमी मुक्ति से परे हो गाँधी ने वकालत की कि असहयोगी निरंतर रूप से अन्यायकर्ता की राक्षसी अभिकल्पनाओं का

विरोध करें, इसी दौरान चुपचाप विरोधी के आक्रामक कार्यों के कारण पीड़ा सहता रहे और प्रेम, स्व-पीड़ा एवं तार्किक विश्वास द्वारा उसे बुराईयों से परे हटाने का कार्य करता रहे। वे बहुत स्पष्ट थे कि असहयोगी को अपने विरोधी के प्रति मित्रवत व्यवहार करने व अच्छे इरादों के बारे में समझाने की बहुत अधिक आवश्यकता है। परिणामतः गाँधी ने वकालत की कि असहयोगी को जहाँ कहीं भी संभव हो मानवीय सेवा करते हुए जगह बनाने की कोशिश करनी चाहिए। इस संदर्भ में गाँधी ने माना कि असहयोग हुल्लडबाजी द्वारा किसी को डराने की बजाय उसके हृदय को स्पर्श करने तथा विवेक की अनुरोध प्रक्रिया है।

गाँधी ने सद्भावना (Sincerity) को असहयोगी के लिए अपरिहार्य बताया। गाँधी ने असहयोग को एक सद्भावना का परीक्षण के रूप में मान्यता देते हुए कहा कि असहयोग कोई शेखी मारने, धौंस जमाने की प्रचण्डता का आंदोलन नहीं है। यह हमारी सद्भावना या ईमानदारी की परीक्षा है। यह मजबुत और मौन – त्याग चाहता है। यह राष्ट्रीय कार्य के लिए हमारी ईमानदारी और क्षमता को चुनौती देती है। यह एक आंदोलन है जिसका लक्ष्य – विचारों को कार्यों में रूपांतरित करना है। गाँधी ने यह भी कहा कि असहयोगी को विनम्र और स्वतः प्रतिबंधित होना चाहिए और उसे असहयोग के सिद्धांत की मान्यता प्राप्त परिधि में ही कार्य करना चाहिए। असहयोग की उल्लेखित सीमाओं से परे के कार्य इसे अपराधी बनाएंगे। यह गाँधी का पक्का विश्वास था कि जब असहयोग ऐसी मान्यता प्राप्त हदों में रहेगा तब उत्प्रेरणा के रूप में सेवा करते हुए वह व्यवस्था के बाहर एक सत्-व्यवस्था को विकसित करते हुए सेवा करेगा अहिंसक असहयोग के विविध साधन हैं, जिनका गाँधी ने मान्यता प्रदान की जैसे – हड़ताल, बहिष्कार, स्ट्राइक और हिजरत आदि।

हड़ताल में सामान्यतः व्यवसाय उत्तरदायित्व को रोकना सम्मिलित है। यह इसके अभिग्रहणकर्ताओं की सरकार या शासकों के कुछ अवांछित कानूनों या स्वेच्छाचारी आदेशों को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है।

बहिष्कार को गाँधी ने व्यक्ति या समुह द्वारा स्वीकृत एक साधन के रूप में बताया जो बुराई या अन्याय के स्थायीकरण के विरुद्ध एक सशक्त इच्छा एवं घोषणा है। ऐसी मजबुत इच्छा और घोषणा द्वारा यह न्याय की स्थापना करना चाहता है।

असहयोग का एक दुसरा भी साधन है स्ट्राइक जिसकी गाँधी जी ने वकालत की थी। इसके अभिग्रहणकर्ता की ओर से इसके अनुप्रयुक्त रूप में यह सहभागिता की समाप्ति का प्रतिनिधित्व करता है। और अशुभकर्ता की शैतानी अनुकल्पनाओं की ओर से यह उसको उसके कार्यों की मूर्खता का ज्ञान कराता है।

हिजरत असहयोग के पूर्वोक्त कथित रूपों से कुछ अलग था। गाँधी ने हिजरत को अंतिम साधन के रूप में स्वीकारने पर बल दिया यह उनके लिए था जो निरकुंश शासकों के उत्पीड़न और अन्याय के विरुद्ध अपने आपकी रक्षा करने में असक्षम पाते थे। इसके स्वीकारकर्ता अनैतिक कार्यों में सहभागिता की अनिच्छा जताते हैं, तथा शासकों और उनकी जमीन को गलत कार्यों से बचाने हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। हालांकि वे मानते थे कि सत्याग्रह के शुद्धता रूप में हिजरत की आवश्यकता नहीं होती थी। वे सत्याग्रही के स्वर के उस स्तर को प्राथमिकता देते थे जो बुराई से लड़ाई की प्रक्रिया में लगी सम्पूर्ण नैतिक शक्ति है। इस कारण संभवतया वे हिजरत को शुद्ध सत्याग्रह में वास्तविक या उचित स्थान नहीं रखने को मान्यता प्रदान की।

6.10.3 सविनय अवज्ञा

सत्याग्रह का अन्य रूप सविनय अवज्ञा था। सत्याग्रह की एक शाखा के रूप में सविनय अवज्ञा संवैधानिक कानून के अल्लघन तथा अनैतिक कानून का संकेत करता है और प्रतिरोधकों के कानून से परे जाकर सभ्य एवं अहिंसक तरीके से प्रतिरोध के महत्त्व को बताता है। गाँधी ने इसे अहिंसा की सक्रिय अभिव्यक्ति के रूप में तथा अवज्ञा करने वालों के लिए अनिवार्य अनुशासन के रूप में मान्यता प्रदान की। उनके लिए यह एक तार्किक निष्कर्ष भी था। यह असहयोग का सबसे खतरनाक रूप था। उन्होंने इसे एक पूर्ण, प्रभावी एवं खून रहित सशस्त्र विद्रोह का विकल्प बताया। उन्होंने इसे उन्माध को सृजनात्मक ऊर्जा में बदलने की सर्वोच्च पद्धति के रूप में मान्यता दी। गाँधी द्वारा सविनय अवज्ञा पर इस रूप में विचार किया गया कि यह कानून द्वारा प्रतिबंधों के बिना भय के स्वैच्छिक रूप से अवज्ञा करने की आदत की पूर्व मान्यता है तथा इसकी अंतिम अभ्यास

के रूप में वकालत की तथा वह भी आरंभिक स्तर पर कुछ चुनींदा लोगों द्वारा। गाँधी द्वारा ऐसी वकालत का आधार यह विश्वास था कि सविनय-अवज्ञा के कार्य की मूल शर्त यह है कि प्रथम दृष्टया यह व्यक्तिगत स्तर या कुछ चुनिंदा व्यक्तियों तक आसानी से लगातार खोजी जा सकती है न कि यह आमजन तक विस्तृत रूप में खोजी जा सकती है। इसके अतिरिक्त गाँधी ने मान्यता दी कि अवज्ञा की कोई भी संभावना हिंसा या खुनी क्रांति को भड़का सकती है। जिसे आसानी से नियंत्रित किया जा सकता था जब अवज्ञा एकत्रित या कुछ चुनिंदा लोगों तक सीमित रहे। आमजन सविनय अवज्ञा आंदोलन में अन्तर्निहित खतरों के कारण गाँधीजी आमजन असहयोग आंदोलन को वरीयता दी। असहयोग के कम खतरनाक तरीकों में प्रशिक्षण के द्वारा गाँधी को विश्वास हो गया था कि सविनय अवज्ञा के उद्यम के लिए जनता को अच्छी तरह तैयार किया जा सकता था।

सविनय अवज्ञा का चाहे जो भी प्रकार हो। गाँधी बहुत स्पष्ट थे प्रत्येक अवज्ञा का कार्य संविनय होना जरूरी है। जिसमें स्थितियाँ खुली हों और अहिंसा की ओर ले जाए। उन्होंने कहा कि हमें, इसे पूर्ण और ज्यादा महत्व दिया जाना चाहिए, 'सविनय' के क्रिया विशेषण को बजाय अवज्ञा को। अवज्ञा बिना सविनयता, अनुशासन, विभेद, अहिंसा के निश्चित रूप से विनाश हैं। उन्होंने मान्यता दी कि सविनय अवज्ञा को कभी भी अव्यवस्था का अनुसरण नहीं करना चाहिए। यदि कुछ भी ऐसा होता है तो यह अपराधिक अवज्ञा में रूपांतरित हो जाती है जो कि निंदनीय है। मान लो कभी हिंसा अचानक फूट पड़े तो सविनय अवज्ञा के पक्के समर्थक इस हिंसा को रोकने के वास्तविक प्रयास करने चाहिए यदि चाहे उसका जीवन खतरे में ही क्यों न हो। इस प्रकार सविनय अवज्ञा के पवित्र उद्देश्यों को संक्षिप्त विवरण देते हुए गाँधी ने कहा कि "सविनय अवज्ञा की योजना में हिंसा को निष्प्रभावी एवं तात्त्विक रूप से पूर्णरूपेण अहिंसा द्वारा, घृणा को प्यार द्वारा और झगड़ों को समझौते द्वारा हटाने की कल्पना की गई है। संविनय अवज्ञा के ऐसे पवित्र उद्देश्यों को, गाँधी ने प्रत्येक नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान की। हालांकि गाँधी ने यह माना कि व्यक्ति की दी हुई कमजोरी और देश-काल की अपेक्षा, विशेषज्ञ कार्य या कानून के संदर्भ में सविनय अवज्ञा का सहारा लेने की बुद्धिमता एक बहस का मुद्दा बन गया था तथा यह देरी व सावधानी की व्यावहारिक सलाह के लिए खुला है। उन्होंने माना कि अधिकारों पर अपने आप में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

कर्तव्य प्रत्येक अधिकार की पूर्व कल्पना है। गाँधी का भी इस मत में विष्वास था। इस मान्यता को सविनय अवज्ञा के क्षेत्र में विस्तारित करते हुए गाँधी बहुत स्पष्ट थे- सविनय अवज्ञा के कार्य में लगाने से पहले व्यक्ति में राज्य के कानूनों के प्रति सहिष्णुता की भावना को पोषित करना जरूरी था। उन्होंने यह भी पहचान की कि - सविनय प्रतिरोधक को उग्र नेतृत्व का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए क्योंकि प्रतिरोधक केवल विनम्र एवं अहानिकारक पीड़ा द्वारा ही बुराईकर्ता, जो कि किसी प्रतिरोध की अनुपस्थिति में गलत कार्य करने का निदाल हो गया, को प्रभावी रूप से अशुभ कार्यों से दूर कर सकता था। उन्होंने निरंतर जोर देते हुए कहा कि यदि सविनय अवज्ञा वास्तव में सविनय है तो यह निश्चित रूप से विरोधी में भी प्रकट होगी। वे महसूस करते हैं कि प्रतिरोध का इरादा उसको नुकसान पहुँचाना नहीं है। उन्होंने जोर दिया कि अवज्ञाकर्ता को इच्छा से कानूनों के उल्लंघन पर उपलब्ध प्रतिबंधों को स्वीकार और पुष्टि के उन सभी मामलों को छोड़कर जहां दण्ड ने व्यक्ति की गरिमा का और नैतिक आचार संहिता का उल्लंघन हुआ। गाँधी ने इसे संवैधानिक विरोध का सबसे शुद्धतम रूप माना, शुद्धता, शक्ति, विकास के प्रयास के रूप में और सविनय प्रतिरोधक को परोपकारी और राज्य के मित्र के रूप में मान्यता प्रदान की।

गाँधी ने सविनय अवज्ञा के कई प्रकारों की पहचान की उनमें सबसे अधिक प्रभावी प्रकारों में शामिल है- धरना, बंद, रैलियों व बैठकों का आयोजन करना, करो की अदायगी नहीं करना, और कानून विशेष का विचार पूर्वक अवज्ञा करना।

गाँधी ने धरने की रक्षात्मक सविनय अवज्ञा के साधन के रूप में वकालत की क्योंकि यह सरकार पर सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक दबाव बनाते हैं साथ ही जनमत का निर्माण करते हैं और आत्म निर्भरता की भावना को बढ़ावा देता है।

सविनय अवज्ञा का एक दूसरा प्रकार बंद, रैलियों व बैठकों का आयोजन करना था जिसकी गाँधी ने काफी वकालत की और वास्तविक निर्माता भी थे। गाँधी ने इसके प्रयासों में सरकार के अन्यायपूर्ण प्रतिबंधात्मक

आदेशों के विरुद्ध लोगों को एक जुट कर विरोध करना और सरकार के गलत कार्यों के विरुद्ध जनमत का निर्माण कार्यों में आदि को शामिल किया।

करों की अदायगी रोकने को भी गाँधी ने सविनय अवज्ञा का एक अन्य रूप में मान्यता प्रदान की। जिसमें सरकार द्वारा स्वीकारकर्ता पर लगाये जाने वाले पुर्व निर्धारित करों की अदायगी या सरकारी फीस वसूली जानें, जिनके लिए वे सोचते हैं कि यह अन्यायपूर्ण है, के लिए मना करना शामिल है। इसका उद्देश्य अस्तित्व के महत्वपूर्ण स्रोतों का संरक्षण करना तथा सरकार को मजबूत बनाना जैसे – वित्त, और इसके माध्यम से सरकार पर प्रभाव डालना ताकि वह अन्यायपूर्ण आदेशों को खारिज कर दे।

करों की अदायगी रोकने के समान भी सविनय अवज्ञा का एक अन्य रूप राज्य के कानून विशेष की अवज्ञा करना था, जिसकी गाँधी ने वकालत की थी। इसमें उन कानूनों का चुनाव कर अवज्ञा की जाती है जो व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकता को पूरा करने में असफल रहे या जिन से व्यक्तियों की गरिमा का उल्लंघन किया। गाँधी ने वकालत की कि अवज्ञा हेतु कानून विशेष का चुनाव बड़े ध्यान से एवं विवेक के साथ होना चाहिए। केवल ऐसे कानूनों की जो नागरिकों के हितों को नुकसान पहुंचाते थे या जो न तो नैतिक थे न ही अनैतिक, अवज्ञा के लिए चुनाव किया जाना चाहिए। इसके अलावा उन्होंने जोर दिया कि ऐसे कानूनों का चुनाव हो जो लोगों की बड़ी संख्या में सहभागी बनने में भी सहायता करें।

6.10.4 रचनात्मक कार्यक्रम

सत्याग्रह की पद्धतियों के वर्गीकरण की अन्तिम श्रेणी में रचनात्मक कार्यक्रम को शामिल किया गया। इसने सम्भवतः सत्याग्रह अभियान को अधिक सकारात्मक स्वरूप प्रदान किया। गाँधी ने इसे बहादूर की अहिंसा के लिए प्रशिक्षण तथा स्वराज प्राप्ति के साधन के रूप में मान्यता प्रदान की। सत्याग्रह आन्दोलन के अनिवार्य भाग के रूप में यह सत्याग्रहियों के बीच अच्छी समझ पैदा करता है, और उन्हें आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी बनाता है जिसको गाँधी सत्याग्रह अभियान के प्रभावी रूप से जारी रखने के लिए अपरिहार्य मानते थे। एक प्रशिक्षण प्रक्रिया के रूप में यह अनुशासन सैनिकों में सत्याग्रहियों की एक लम्बी पंक्ति की भर्ती करता है, इसकी खोज किसी भी सत्याग्रह अभियान को नैतिक रूप से पतन से लेकर दंगों जैसी हिंसक गतिविधियों की ओर बढ़ने से रोकने के लिए की गई थी। इसी तरह सत्याग्रही और विरोधी के बीच अन्तर्क्रिया एक साधन के रूप में विरोधी को समझाने, कि विरोधी के प्रति सत्याग्रही की चिन्ता और इरादे अच्छे हैं, का काम करती है। यह समाज के बड़े स्तर पर सामुदायिक तनाव, अस्पृश्यता, अशिक्षा, बेरोजगारी आदि सामाजिक बुराइयों के समापन के लिए कार्य किया है। इसलिए इसमें विद्यमान व्यवस्था के पुनर्निर्माण के प्रयासों का प्रतिनिधित्व किया वही सत्याग्रह अभियान विद्यमान व्यवस्था में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक अन्याय के विरुद्ध अभियान था। 1941 में जब गाँधी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम के दर्शन की व्याख्या की, यह सत्य और अहिंसक साधन पूर्ण स्वराज जीतने के साधन के रूप में, तब उन्होंने 15 बिन्दुओं पर प्रमुखता से जोर दिया जिनको उनके रचनात्मक कार्यक्रम में शामिल किया गया –

1. सामुदायिक एकता के लिए कार्य करना,
2. अस्पृश्यता निवारण,
3. शराब बन्दी,
4. खादी की स्वीकारोक्ति,
5. ग्रामीण उद्योगों का विकास,
6. गाँवों की स्वच्छता,
7. मूल शिक्षा को प्रोत्साहन,
8. प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन,
9. महिला उत्थान,
10. स्वास्थ्य और स्वच्छता को बढ़ावा,
11. हिन्दुस्तानी भाषा की स्वीकारोक्ति हेतु प्रचार-प्रसार,

12. प्रान्तीय भाषाओं को प्रोत्साहन,
13. आदिवासियों की सेवा,
14. श्रमिकों, किसानों व छात्रों को संगठित करना।

बाद में उन्होंने इसको बढ़ाते हुये इसमें कई अन्य कार्यक्रमों को शामिल किया जैसे गाय की सेवा करना या पशुओं की दशा सुधारना आदि।

6.11 सारांश

गाँधीजी ने प्रतिरोध के लिए एक नैतिक व मूल्यवान साधन प्रदान किया है। यह कहना शायद सही है कि सत्याग्रह गाँधी द्वारा प्रस्तुत अहिंसा दर्शन का क्रियात्मक पहलु है जो अपने मूल में कुछ निश्चित नैतिक या आध्यात्मिक सिद्धान्तों को स्वीकारता है। इसकी शक्ति पर गाँधी को इतना विश्वास था कि वे इसे व्यक्ति द्वारा अकेले या समूह में सामना करने वाले विविध संघर्षों का शान्तिपूर्ण तरीके से समाधान की सम्भावना या क्षमता रखने वाले साधन के यप में स्वीकारते हैं। सत्याग्रह अपने प्रयोगकर्ता के नैतिक उन्नयन के साथ-साथ विरोधी को भी प्रेरित करती है कि वह स्वैच्छिक रूप से अन्याय और बुराई को त्याग दें। इस प्रकार सत्याग्रही और विरोधी दोनों ही सत्याग्रह के स्वीकार करने तथा संघर्षों के समाधान के पश्चात् एक बेहतर अस्तित्व स्तर पर पहुँचते हैं। जन चेतना जाग्रत करने, अनुशासित कर आत्म-पीड़न के लिए साहस प्रदान करने में सत्याग्रह का महत्वपूर्ण स्थान है। गाँधीजी के चिंतन में सत्य की अवधारणा सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि उनके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि और मानव अस्तित्व का मूल सत्य है। उनके लिए सत्य की खोज ही जीवन का लक्ष्य है और व्यक्ति द्वारा अपने अनुभव पर प्राप्त सत्य पर चलना ही उसका धर्म है। गाँधीजी इस बात पर बल देते थे कि सत्य केवल अहिंसक और नैतिक साधनों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। उपर्युक्त सोच के आधार पर स्थिर रह कर अन्याय और अत्याचार का विरोध करना ही सत्याग्रह है। गाँधीजी के द्वारा प्रस्तुत सत्याग्रह दर्शन में परम्परागत नैतिक मूल्य केवल व्यक्ति विशेष के लिए आध्यात्मिक प्रगति का साधन न होकर सम्पूर्ण समाज की प्रगति का साधन बना। गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत सत्याग्रह संघर्ष-समाधान का अहिंसक प्रतिरोध है जो संघर्ष में लिप्त सभी पक्षों और समाज को प्रगति की ओर ले जाने की सोच रखता है। इसका प्रयोग सार्वभौम रूप से किया जा सकता है कोई भी व्यक्ति जो सत्य और नैतिक मूल्यों के प्रति सच्ची आस्था रखता हो वह इसका सफल प्रयोग कर संघर्षों का शान्तिमय और प्रभावी समाधान ढूँढ़ सकता है। उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि गाँधीजी का सत्याग्रह दर्शन उनके द्वारा राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में अमूल्य योगदान है। यह व्यक्तियों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुए एक अच्छे समाज, राष्ट्र व विश्व का निर्माण करने की असीम सम्भावना रखता है।

6.12 अभ्यास प्रश्न

1. सत्याग्रह अवधारणा को समझाइये और इसके विकास पर प्रकाश डालिये।
2. सत्याग्रह में अपनाये जाने वाले विभिन्न व्रतों के बारे में गाँधीजी के विचारों की विवेचना कीजिए।
3. निष्क्रिय प्रतिरोध और सत्याग्रह का अर्थ समझाइये और अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. सत्याग्रह के विविध रूपों के महत्व की समीक्षा कीजिए।
5. आधुनिक समय में सत्याग्रह के महत्व की चर्चा कीजिए।

6.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एम.के. गाँधी, हिन्द स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
2. एम.के. गाँधी, सत्याग्रह इन साऊथ अफ्रीका, अनु. वी.जी. देसाई, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1972
3. भट्टाचार्य, बुद्धदेव, एवोल्यूशन ऑफ द पोलिटिकल फिलासफी ऑफ गाँधी, कलकत्ता बुक हाऊस, कलकत्ता 1969
4. गोपीनाथ धवन, दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990

5. अय्यर, राघवन, द मोरल एण्ड पोलिटीकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1973
6. एन.के. बोस, 'सलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1972
7. सिंह, रामजी गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1986
8. जॉन वी. बोन्दुरा, 'कॉन्वेस्ट ऑफ वायलेंस : द गाँधीयन फिलॉसॉफी ऑफ कान्फ्लिक्ट, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूजर्सी, 1958

राजनीतिक आध्यात्मिकरण पर गाँधीजी के विचार

इकाई की रूपरेखा

- 7.0 उद्देश्य
- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 राजनीति का अर्थ
- 7.3 आध्यात्मिकता का अर्थ
- 7.4 राजनीति के बारे में गाँधीजी के विचार
- 7.5 राजनीति और धर्म में अन्तरसंबन्ध : गाँधीजी के विचार
- 7.6 आध्यात्मिक राजनीति के सिद्धान्त : गाँधीजी के विचार
 - 7.6.1 सत्य के प्रति प्रतिबद्धता
 - 7.6.2 अहिंसा जीवन का सिद्धान्त बने
 - 7.6.3 नैतिकता और तर्क-संगतता
 - 7.6.4 आत्मिक विकास का प्रयास करना
 - 7.6.5 साध्य और साधन की पवित्रता
 - 7.6.6 कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह
 - 7.6.7 मानव जाति की आधारभूत एकता में विश्वास
 - 7.6.8 सभी धर्मों का समान आदर
 - 7.6.9 निम्नतम व्यक्ति के उत्थान के प्रति समर्पित
 - 7.6.10 अन्तरात्मा की प्रधानता
 - 7.6.11 एकादश व्रतों की अनुपालना
 - 7.6.12 स्वराज और वैयक्तिक उन्नयन
 - 7.6.13 वैयक्तिक हित का सामाजिक हित के साथ सामन्जस्य
- 7.7 सारांश
- 7.8 अभ्यास प्रश्न
- 7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप निम्नलिखित विषयों पर विचार जान सकेंगे :-

- राजनीति का अर्थ।
- आध्यात्मिकता का अर्थ।
- राजनीति के बारे में गाँधीजी के विचार
- राजनीतिक आध्यात्मिकरण के बारे में गाँधीजी के विचार और आधारभूत सिद्धान्त।

7.1 प्रस्तावना

गाँधीजी परम्परागत अर्थ में कोई राजनीतिक चिन्तक या संत नहीं थे। उन्होंने कहा था कि राजनीतिक चिन्तन प्रस्तुत करना उनका ध्येय नहीं है और जो कुछ विचार वह प्रस्तुत कर रहे हैं वह 'हिमालय जितनी पुरानी' हैं। व्यवस्थित तरीके से सिद्धान्तों का निर्माण करना या पूर्व में व्यक्त किए गए सिद्धान्तों के प्रति संगत होकर उसी के अनुरूप आगे बढ़ने का प्रयास करना, गाँधीजी के अनुसार उनका मकसद नहीं है। अपितु सत्य के प्रति

प्रतिबद्धता और प्राप्त सत्य के अनुरूप आवश्यकता होती अपने पूर्व कथन और जीवन आचरण को बदलना गाँधीजी के चिन्तन और कार्यों को गतिशीलता प्रदान करता है और प्रासंगिकता भी। अपने दर्शन का संदेश पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि मेरा जीवन ही मेरा संदेश है, उनके बारे में कहा जाता है कि वे राजनीतिज्ञों में संत और संतों में राजनीतिज्ञ थे। दक्षिण अफ्रिका और भारत के सक्रीय राजनीतिक जीवन में गाँधीजी ने राजनीतिक जीवन में नैतिक साधन के प्रयोग पर बल दिया। लक्ष्य के साथ-साथ उन्होंने साधने की पवित्रता पर भी बल देकर कहते थे कि पवित्र साधन ही उद्देश्यों की पवित्रता को बनाये रखता है। सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों को अपनाने पर गाँधीजी ने अत्यधिक बल दिया। राजनीति में उन्होंने उनकी सार्वजनिक कल्याण को प्राथमिक माना उनकी सार्वजनिक राजनीति न केवल नैतिक और परोपकारी दृष्टिकोण से प्रेरित और नियन्त्रित रही बल्कि यह व्यक्तिगत सादगी और उच्च कोटि का चरित्र भी प्रस्तुत करता है। इसलिए वह राजनीतिज्ञों में सन्त माने जाते थे।

गाँधीजी अपने साधा जीवन उच्च विचार और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध थे। उनका जीवन इस तरह एक साधू अथवा संत के जीवन के समान था। परन्तु परम्परागत तरीके से जिस तरह साधू या संत सामाजिक जीवन से प्रथक एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं और भौतिक जगत अथवा तत्वों का त्याग करते हैं, गाँधीजी ने ऐसा नहीं किया। वे समाज में एक सक्रिय जीवन व्यापन करने के पक्षधर थे। परम सत्य या ईश्वर की प्राप्ति के लिए उन्होंने भौतिक जगत के सत्य को आवश्यक माना। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की समस्याओं के प्रति वे सजग थे और सक्रिय प्रयासों से उन्होंने इन समस्याओं का निराकरण करने का प्रयास किया इसलिए वे संतों में एक राजनीतिज्ञ के रूप में स्वीकारे जाते हैं।

उन्होंने स्वीकार किया कि वर्तमान में राजनीति व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रविष्ट कर चुकी है। भ्रष्ट होने से भले ही यह राजनीति विशैला साँप के समान मनुष्य के सामने खड़ा हुआ है, पर गाँधीजी इस साँप से लड़ना चाहते हैं और अपने राजनीतिक गुरु गोखले के पदचिन्हों पर चलते हुए राजनीति का आध्यात्मिकरण करना चाहते हैं। गाँधी जी का निष्कर्ष है कि धर्म की नैतिक शक्ति के साथ राजनीति का संयोग होने पर ही मानव-जाति की सार्वजनिक समस्याओं का नैतिक हल प्राप्त किया जा सकता है।

7.2 राजनीति का अर्थ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो समाज में रहकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अनेक प्रकार के अन्तर वैक्तिक सम्बन्ध स्थापित करता है इन्ही अन्तर-वैक्तिक सम्बन्धों में राजनीति एक प्रमुख मानवीय गतिविधि है। सामान्यतः मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक पक्षों का उल्लेख किया जाता है। मनुष्य की राजनीतिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उसकी आवश्यकतायें, और इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए उसके द्वारा प्रयुक्त साधन और सम्पन्न किए गतिविधियों को वृहत रूप में राजनीति था राजनीति से सम्बन्धित गतिविधि के नाम से पहचाना जाता है।

मनुष्यों में कुछ समान प्रवृत्तियाँ और आवश्यकतायें विद्यमान हैं। तदापि उसमें भिन्नतायें भी विद्यमान हैं। जहाँ समान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य एक दूसरे से सहगत होते हैं। परस्पर एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं, वही भिन्नताओं के कारण मतभेद और संघर्ष भी मानवीय व्यवहार का प्रमाणिक सत्य है। सामाजिक प्राणी के नाते कोई व्यक्ति कैसे अपना जीवन व्यापन करे, उसकी आवश्यकताओं के लिए उसे कौन से संसाधन उपलब्ध होंगे, वह कैसे इन संसाधनों का प्राप्त करेगा, कौन उसे यह संसाधन उपलब्ध करायेगा, इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में सहमति असहमति और सहयोग और संघर्ष देखने को मिलता है। इन्हीं मानवीय अन्तः क्रिया को सामान्य अर्थों में राजनीति कहा जाता है।

राजनीति का सबसे वृहद स्वरूप में नियम या कानून बनाने की क्रिया सम्मिलित की जाती है। प्रायः यह माना गया है कि मनुष्य और समाज का हित स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवहार से आहत होता है। इसलिए मानवीय व्यवहार के कुछ नियम-कायदे होने चाहिए। इन नियमों का आधार विवेक है और उद्देश्य मनुष्य का कल्याण है। इसके निमार्ण, संशोधन और संचालन सम्बन्धी गतिविधियों ने आम सहमति और सामूहिक सहभागिता अन्य महत्वपूर्ण आधार है।

अनेक कारणों से राजनीति को सर्वमान्य परिभाषा करना या स्पष्ट रूप से उसके उद्देश्य, प्रकृति और क्षेत्र बताना हमेशा से विवादास्पद रहा है। इसके पीछे विद्वानों में एकमत का अभाव, राजनीतिक गतिविधियों की गतिशीलता,

व्यावहारिक संचालन के दौरान इसका निजि स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करना, इत्यादि अनेक कारण विद्यमान हैं। तदापि राजनीतिक चिन्तन और विश्लेषण के इतिहास के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीति को सामान्यः चार प्रकार के दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।

1. सरकार की कला के रूप में।
2. सार्वजनिक कार्यों के रूप में।
3. समझौते एवं सहमति के रूप में।
4. शक्ति और स्त्रोंतों के बँटवारे के में।

राजनीति को सरकार की कला के रूप में प्रस्तुत करने वाला दृष्टिकोण सर्वाधिक रूप से पुराना है। जिसकी उत्पत्ति प्राचीन काल के चुनाव के छोटे नगर राज्य जिन्हे पॉलिस्टि कहा जाता था। उनके शासन सम्बन्धी कार्य (जिसे पॉलिटिक्स कहा जाता था) से हुई है। यह दृष्टिकोण राजनीति को सरकार की कला के रूप में प्रस्तुत करता है तो समाज से राजनीतिक मूल्यों के अधिकारिक वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। राजनीतिक मूल्य के वितरण सम्बन्धी विभिन्न नियम एवं नीतियाँ क्या होंगी, कौन सी संस्थाएँ इस कार्य को सम्पन्न करेंगी और कैसे वह लोगों की मांगों को पूरा कर उनके समस्याओं का समाधान कर अपने प्रति समर्थन जुटा कर अपने स्थित्व या प्रगति को सुनिश्चित करेगी यह राजनीति है।

राजनीति को सार्वजनिक कार्यों के रूप में प्रस्तुत करने वाला दृष्टिकोण सम्पूर्ण मानव जीवन को दो वृहद वर्गों में बाँटता है— सार्वजनिक और निजि सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़े कार्य और सम्पन्न कार्य को राजनीति कहते हैं। ये संस्था में सामुदायिक जीवन के सामूहिक संगठनात्मक और उद्देश्यपूर्ति के लिए उत्तरदायी है और इसके लिए जनता द्वारा किए गए कर अदायगी से इन कार्यों को सम्पन्न करने के खर्च को वहन किया है। निजि क्षेत्र के कार्य वे हैं जो व्यक्ति या समूह विशेष अपने व्यक्तिगत या समूह के स्तर से सम्बन्धित संगठित होकर कार्य करने और उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास करते हैं। इनके लिए आवश्यक धन भी निजि स्तर पर प्रबन्ध किया जाता है।

राजनीति को समझौते एवं सहमति के रूप में प्रस्तुत करने वाला दृष्टिकोण राजनीतिक निर्णय, विशेषतः राजनीतिक संघर्षों का समाधान करने वाले एक विशेष प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है। यह दृष्टिकोण राजनीति को हिंसा और शक्ति के आधार पर संघर्षों के समाधान ढूँढने की प्रक्रिया न मानकर, कैसे वार्ताओं और समझौतों के आधार पर संघर्ष समाप्त किए जा सकते हैं, ऐसे प्रयासों की प्रक्रियाओं को राजनीति मानता है।

राजनीति को शक्ति एवं स्त्रोंतों के बँटवारे के रूप में प्रस्तुत करने वाला दृष्टिकोण राजनीति को समस्त मानवीय क्रियाकलापों में शक्ति सम्बन्धी गतिविधि के रूप में स्वीकारा है। शक्ति को ऐसे सामर्थ्य के रूप में स्वीकारा गया है। जो व्यक्ति या समूह विद्यमान है जिससे वह अपनी इच्छानुसार दूसरे व्यक्ति को आचरण करने के लिए प्रभावित करता है। इस शक्ति के प्रयोग से स्त्रोंतों का बँटवारा समाज में किया जाता है जिसके महत्वपूर्ण पक्ष है किसे क्या कब और कैसे मिलेगा।

जिस तरह मानवीय इतिहास में राजनीति का दुरुपयोग किया गया है, उसके परिणाम स्वरूप इसे एक बुरे कृत्य के रूप समझा जाता है। सार्वजनिक हित के प्रतिकूल होने के कारण इसे अवाञ्छनीय माना जाता है। इसे नकारात्मक अर्थ में अनैतिक और तर्क या विवेक विरोधी माना जाता है। शक्ति जो कि राजनीति का एक महत्वपूर्ण घटक है, के बारे में लार्ड एकटन ने तो यहाँ तक कहा है कि “शक्ति या सत्ता भ्रष्ट होती है और अमर्यादित शक्ति या सत्ता पूर्णतः भ्रष्ट करती है।”

7.3 आध्यत्मिकता का अर्थ

सम्पूर्ण सृष्टि और मानवीय अस्तित्व से जुड़े हुए अनेक जटिल प्रश्न हैं जिनके उत्तर आदिकाल से मानव सभ्यता ने ढूँढने का गहन प्रयास किया है। सम्पूर्ण सृष्टि का अस्तित्व कैसे हुआ, यह किस शक्ति द्वारा नियन्त्रित और मर्यादित है, मनुष्य जीवन इस सम्पूर्ण सृष्टि के साथ कैसे जुड़ा हुआ है, उसके जीवन का उद्देश्य क्या होना

चाहिए, जैसे अनेक प्रश्नों पर गहन चिन्तन मनन हर समाज में किया गया है। आध्यत्मिकता को सम्पूर्ण सृष्टि में निहित मौलिक पराभौतिक सत्य या वास्तविकता कहा जा सकता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि और मानव जीवन का सार समझाने वाला ज्ञान है। सभ्य समाज में आस्तिक लोगों के लिए आध्यत्मिकता धर्म का रूपलेती है।

आध्यात्मिकता भौतिक तत्व को महत्वपूर्ण न मानकर सभी भौतिक अस्तित्व के पीछे एक पराभौतिक सर्वशक्तिशाली सत्य को स्वीकार करती है। मानव जीवन के लक्ष्य, इसके अनुसार, इस परम सत्य या पराभौतिक शक्ति को पहचानना और स्वयं के जीवन में अंगीकृत करना है। इसलिए आध्यात्मिकता चेतना की एक उत्कृष्ट अवस्था है: यह सम्बन्धित व्यक्ति के आन्तरिक विकास की ओर इंगित करता है जिसके उत्कृष्ट नैतिक जीवन व्यापन करता है और ज्ञानी होने का परिचय देता है। आध्यात्मिक होना मानवीय अस्तित्व की पूर्णता की अवस्था को दर्शाता है। आध्यात्मिक व्यक्ति ने केवल ईश्वर के साथ एकत्व रखता है बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि के साथ भी वह एकत्व की भावना रखता है। मनुष्य द्वारा आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने या उस के द्वारा यह प्राप्त करना सम्भव माना गया है। और ऐसा इसलिए माना गया है क्योंकि उसमें अन्तरात्मा का तत्व है जो स्वयं परम सत्य या ईश्वर का ही अंश है। इस अन्तरात्मा को पहचानने के लिए मनुष्य को विशेष प्रयास करना होता है। ऐसा माना गया है कि पूजा, प्रार्थना, ध्यान धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से भी आध्यात्मिकता को प्राप्त किया जा सकता है। आध्यात्मिक जीवन को अधिक सार्थक जीवन माना गया है। ऐसे इसलिए माना गया है क्योंकि यह जीवन वास्तविक सत्य या मानव जीवन और सृष्टि में निहित मूल सत्य के अनुकूल है। ऐसे आध्यात्मिक अस्तित्व में मनुष्य को सम्पूर्ण मानव समुदाय, प्रकृति एवं सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकता रखने की बात की गई है।

यदि परम्परागत रूप से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्मों के द्वारा मनुष्यों को जो नैतिक जीवन जीने का उपदेश दिया है ताकि वे परम सत्य, जिसे ईश्वर भी कहा जाता है, को प्राप्त कर सकें, उसे आध्यात्मिकता कहा जा सकता है। विभिन्न धर्म कुछ धार्मिक नियम और कार्यों को मानवीय जीवन में अंगीकृत करने के लिए प्रभावित करते हैं। इनके द्वारा अनुसरण करने वाले व्यक्ति के लिए मोक्ष या ईश्वर प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की बात की जाती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों का भी वर्णन किया गया है जैसे प्रार्थना, ध्यान, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, इत्यादि। व्यक्ति का नैतिक विकास और उसके द्वारा ईश्वर से या परम शक्ति से विशेष आध्यात्मिक सम्प्रेषण की भी बात की जाती है।

आधुनिक समय में जैसे-जैसे धर्मनिर्पेक्ष सोच का विकास हुआ है, आध्यात्मिकता का बल मानवीय मूल्यों की ओर बढ़ रहा है। आध्यात्मिकता, इस संदर्भ में, मानवीय गुण जैसे प्यार, धैर्य, सहिष्णुता, दया परोपकार, अपसी सौहार्द, और सामन्जस्य, कर्तव्यों के प्रति जागरूक, आत्म संतुष्टि, इत्यादि के रूप में स्वीकारा जाने लगा है। परम्परागत धार्मिक दृष्टिकोण की तरह यह किसी ईश्वरीय अस्तित्व में गहन विश्वास नहीं रखता हो, परन्तु यह इस बात पर बल देता है कि भौतिकता ही जीवन का एकमात्र पक्ष है। आध्यात्मिक प्रयास जैसे एकाग्रता या ध्यान भी मानव जीवन की सार्थकता के लिए सहायक होते हैं। यह एकाग्रता और ध्यान किसी ईश्वर या परा भौतिकशक्ति को केन्द्र पर रख कर नहीं किया गया कार्य है अपितु यह ऐसे विचारों संवेदनाओं, शब्दों और व्यवहारों को पोषित करने का प्रयास है जो मानता है। सृष्टि में निहित सम्पूर्ण तत्व एक दूसरे से गहन रूप से सम्बन्धित हैं और प्रभावित भी करती हैं और इनके बारे में ज्ञान अर्जित करना चाहिए और अर्जित ज्ञान को जीवन में नित्य रूप से अनुसरण भी किया जाना चाहिए। यही मनुष्य जीवन, व्यक्तिगत और समुदायिक, के सर्वांगीन विकास और श्रेष्ठता के लिए हितकारी होगा।

7.4 राजनीति के बारे में गाँधीजी के विचार

जैसे सामान्यतः राजनीतिक चिन्तन में मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी माना गया है वैसे ही गाँधीजी भी मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं। परन्तु गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत मनुष्य की सामाजिक प्रकृति व्यापक दृष्टिकोण लिए हुए है। मात्र अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए उसे समाज की आवश्यकता पडने और इस कारण उसे सामाजिक कहने से भिन्न गाँधीजी मनुष्य को सामाजिक इसलिए मानते हैं कि मूलतः मानव प्रकृति अच्छा होने के कारण वह सभी को साथ लेकर चलता है और मानता है कि जो नियम समाज ने बनाये हैं वह उसके और समाज के हित में है और इसलिए इन्हें स्वीकार करना चाहिए। वह समाज के हित में अपना हित निहित मानकर इन नियमों को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। मनुष्य की विवेकशीलता, दैवीयता और सामाजिकता गाँधीजी के अनुसार मनुष्य को सृष्टि के अन्य जीवों से भिन्न बनाता है। यही उसकी तुलनात्मक श्रेष्ठता का भी परिचय है। मानव प्रकृति में निहित कमियों के कारण गाँधीजी स्वीकार करते हैं कि कभी-कभी मनुष्य अपने श्रेष्ठ अस्तित्व के गुणों से प्रथक हो जाता है। परन्तु वह निराशावादी नहीं है। मनुष्य की असीम प्रगति की क्षमता और उसकी प्रकृति की परिवर्तनशीलता में विश्वास के कारण गाँधीजी मानते थे कि मनुष्य अपने

आदर्श और श्रेष्ठ अस्तित्व की ओर बढ़ सकता है। मनुष्य में विद्यमान दैवीय तत्व की पहचानने और उसके अनुरूप जीवन व्यापन करना गाँधीजी के अनुसार मनुष्य जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। मानव व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को गाँधीजी भी स्वीकार करते हैं।

वह यह भी मानते हैं कि मनुष्य व्यक्तित्व के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक पक्ष एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, किसी का भी प्रथक अस्तित्व नहीं है। जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है, गाँधीजी इसे सभी को प्रभावित करने वाली सर्वत्र अस्तित्व रखने वाली एक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए गाँधीजी के अनुसार राजनीति मनुष्य के लिए एक अपरिहार्य क्रिया है। गाँधीजी के अनुसार राजनीति स्वतन्त्रता प्रदान करने, बन्धुत्व विकसित करने और समानता और न्याय स्थापित करने के लिए सम्पन्न क्रियाएँ हैं। गाँधीजी ने राजनीति को शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं माना अपितु इसे एक निःस्वार्थ लोक सेवा माना। उनके अनुसार राजनीति एक ऐसी परपकारी सेवा है जो निःशक्तजनों अथवा पददलितों को बेहतर और सुखी जीवन—व्यापान करने में मदद करने वाली क्रिया है। आध्यात्मिकता की प्रधानता के कारण गाँधीजी राजनीति को शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने का संघर्ष नहीं मानते थे अपितु उनके स्वराज और सर्वोदय अवधारणाओं के विश्लेषण से निष्कर्षात्मक रूप में कहा जाता है सकता है कि उनके लिए राजनीति सभी को सशक्त बनाने और सभी का अधिकाधिक कल्याण करने की क्रिया है। अहिंसा और शान्ति के पूजारी के रूप में ख्याति प्राप्त करने वाले गाँधीजी राजनीति को संघर्ष भी नहीं मानते बल्कि सौहार्द और सामन्जस्य करने के लिए सम्पन्न महत्वपूर्ण गतिविधि है। यद्यपि आदर्श के तौर पर उन्होंने एक राज्य विहीन समुदायिक समाज की कल्पना की परन्तु वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने राज्य और सरकार के अस्तित्व को व्यवहारिक तौर पर स्वीकार किया है। इनके द्वारा सम्पन्न गतिविधियाँ, जो परम्परागत रूप से राजनीतिक गतिविधि के रूप में स्वीकारा जाता है, को गाँधीजी भी उपादर्श के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार से स्वीकृत राजनीतिक गतिविधियों को गाँधीजी ने ऐसी परिस्थितियों का निमार्ण करने या प्रबन्ध करने के रूप में स्वीकार किया जो अधिकतम लोगों का अधिकतमक हित पूरा करता हो।

7.5 राजनीति और धर्म में अन्तरसंबन्ध : गाँधीजी के विचार

मानव जीवन और समस्त मानव—कृत संस्थाओं के सम्बन्ध में गाँधीजी के विचार आध्यात्मिक सोच से प्रभावित हैं। इस कारण गाँधीजी के लिए राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पक्ष आपस में एक दूसरे से और सब आध्यात्मिकता या नैतिकता के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। राजनीति और धर्म के बीच गहन सम्बन्ध को उन्होंने स्वीकार किया। धर्म को राजनीतिक जीवन की धुरी माना। गाँधी ने कहा है कि जो लोग धर्म को राजनीति से अलग करने की बात करते हैं, वास्तव में वे न तो धर्म और न ही अपने कर्तव्य को जानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने समस्त क्रियाकलापों में धर्म को केन्द्रीय स्थान प्रदान करना चाहिए। वे प्राचीन भारत में विद्यमान उस राजनीतिक चिन्तन के समर्थक के रूप में प्रतीत होते हैं जो राज्य का काम धर्म का प्रचार और समाज में धर्म की स्थापना करना मानता है। गाँधीजी ने धर्म को किसी विशेष पूजा, पाठ, अर्चना आदि के रूप में महत्व न देकर इसे परम सत्य तुल्य ईश्वर और उसकी सम्पूर्ण सृष्टि से नैतिक मूल्यों के आधार पर सम्बन्धित संचालित करने के रूप में स्वीकार किया है।

गाँधीजी के राजनीतिक गुरु गोखले भी राजनीति और आध्यात्म में गहरे सम्बन्ध को स्वीकार करते थे। 'राजनीति का आध्यात्मिकरण' की अवधारणा गाँधीजी ने विरासत में गोखले से ही प्राप्त किया। गोखले ने जब राजनीति का आध्यात्मिकरण की बात की तो उनका आशय था कि राजनीति के संचालन में नैतिक नियमों का अनुसरण करना और इसका उद्देश्य भी नैतिक और परोपकारी होना चाहिए। गोखले ने पवित्र उद्देश्य और इनकी प्राप्ति के लिए पवित्र साधनों के प्रयोग पर बल दिया।

गाँधीजी के मतानुसार धर्म समाज के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है और मानव—प्रवृत्तियाँ का सारा सप्तक एक अविभाज्य वस्तु है, इसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और विशुद्ध धार्मिक काम के प्रथक खाने में विभाजित नहीं किया जा सकता। इसलिए उनका मानना था कि राजनीति को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता। वे कहते थे कि उनके लिए धर्मविहीन राजनीति जैसे कोई चीज नहीं है। और नीतिशून्य राजनीति सर्वथा न्याय है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति, मृत्यु का एक जाल है क्योंकि

उससे आत्मा का हनन होता है। राजनीति में मौकियावलीय सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए छल-छदमयुक्त राजनीति का विरोध किया। उन्होंने स्वीकारा कि राजनीति में नैतिकता विहीनता और कुटिलता ने राजनीति को बहुत विशैला बना दिया है और इस विशैले साँप रूप राजनीति ने मानव सभ्यता को चारों तरफ से लपेट लिया है। जिसके कारण इसके चुंगल से बचना असमभव है। प्रचलित राजनीति को 'साँप' के रूप के रूप में पहचानना उसी सामान्य दृष्टिकोण के जैसा है जो राजनीति को एक बुरा और अवांछनीय कृत्य के रूप में स्वीकार करता है। परन्तु गाँधीजी पलायनवादी नहीं थे और न ही नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार थे। अतः वे इस 'साँप' रूप राजनीति से झूझना चाहते थे और इसके बुरे पक्षों को समाप्त कर इसे एक सकारात्मक लोक-कल्याणकारी कृत्य के रूप में परिवर्तित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कहा "मैं इस साँप से द्वन्द-युद्ध करना चाहता हूँ, मैं राजनीति में धर्म का समावेश चाहता हूँ। धर्म और राजनीति में विद्यमान अन्तर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी ने कहा कि "मैं आज तक जितने धार्मिक पुरुषों से मिला हूँ वे अन्दर ही अन्दर राजनीतिक रहे हैं किन्तु मैं जो राजनीतिज्ञ का बाना पहने घूमता हूँ, हृदय से सम्पूर्णतः धार्मिक मनुष्य हूँ।" गाँधीजी के अनुसार सच्चा धर्म कर्तव्य प्रेरक होता है और राजनीतिक क्रियाशीलता इसमें सम्मिलित है। उनके अनुसार धर्म समाज के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है, इसलिए इसे राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। राजनीति के सकारात्मक और लोक-कल्याणकारी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए गाँधीजी इनको सम्पन्न करने वाले व्यक्तियों के लिए धार्मिक होना जरूरी मानते थे। एक बार तिलक ने कहा कि "राजनीति साधुओं और केवल साधुओं का काम है" साधुओं से उनका और धर्म के मध्य गहरे संबंध स्थापित करने के प्रयासों से गाँधीजी कमजोर नौका में मत रखें जो दलबन्धी की कुछ लहरों से टकराती रहती है। उत्तर में गाँधीजी ने कहा कि बिना धर्म के राजनीति एक मुर्दा है जिसको सिवा जला देने के और कोई उपयोग नहीं हो सकता।

राजनीति को धर्म आधारित करने से गाँधीजी का यह अभिप्राय नहीं था कि राजसत्ता धर्माधिकारियों द्वारा संचालित होगी या राज्य किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष का प्रचारक बनेगा। धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष के प्रचार में संलग्न न हो, ऐसे विचार से तो गाँधीजी पाश्चात्य जगत द्वारा प्रतिपादित धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का समर्थन करते दिखते हैं जो यह मानता है कि राज्य में रहने वाले प्रत्येक नागरिक को बिना किसी बाधा के अपना धर्मपालन करने का पूर्ण अधिकार हागो, राज्य न तो किसी धर्म को विशेष संरक्षण प्रदान करेगा और न ही किसी धर्म के विकास में बाधा बनेगा। सभी धर्मों के प्रति राज्य और राजनीति संचालन करने वाले लोग समान आदर भाव रखेंगे। पश्चिम में प्रचलित धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा भौतिकता को प्रधानता देते हुए लौकिक राज्य की धारणा प्रस्तुत करता है। तर्क को अत्यधिक महत्व देकर ज्ञान की विधा में केवल अनुभवजन्य सत्य को सम्मिलित करता है और समस्त शासन का आधार इसी को मानता है। यह राज्य को आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों से मुक्त रखने का समर्थन करता है। राजनीति के क्षेत्र में यह स्वच्छ उद्देश्यों को तो स्वीकार करता है, किन्तु कैसे या किन नैतिक साधनों से यह प्राप्त किए जाने चाहिए, इस पर मौन है या उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण अपनाता है।

परन्तु पश्चिम में प्रचलित धर्म-निरपेक्ष राज्य की धारणा से गाँधीजी आगे बढ़ते हैं। यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी राजनीति के आध्यात्मिकरण एवं नैतिकीकरण की धारणा के समर्थक हैं और इसलिए वे धर्मनिरपेक्ष राज्य, अर्थात् लौकिक राज्य के विचार से असहमत हैं। वे धर्म और नैतिकता में कोई भेद नहीं मानते थे और दोनों को मूलतः एक मानते थे। गाँधीजी ने धर्मराज्य एवं लौकिक या धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणाओं के स्थान पर सर्वधर्मसमभाव-राज्य के विचार का समर्थन किया है, जिसकी प्रकृति सभी धर्मों के सार पर आधारित आध्यात्मिक मूल्यों को प्राथमिकता देना है। यह सभी धर्मों में निहित शाश्वत नैतिक नियमों के अनुसार अपनी नीतियों को नैतिक आधार प्रदान करने वाला राज्य है।

7.6 आध्यात्मिकृत राजनीति के सिद्धान्त : गाँधीजी के विचार

गाँधीजी धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त से ज्यादा महत्वपूर्ण इस बात को मानते हैं कि राज्य प्रत्येक धर्म द्वारा आधारभूत माने जाने वाले सिद्धान्त, जिन्हें नैतिकता के नाम से भी जाना जाता है, को अनिवार्य रूप से अंगीकृत करे। इस सम्बन्ध में राजनीति सार्वभौमिक मूल्यों पर आधारित है जिसमें सत्य, अहिंसा, परोपकार, निःस्वार्थ, इमान्दारी, इत्यादि सम्मिलित हैं। गाँधीजी के विचार अनुसार आध्यात्मिकृत राजनीति के निम्नलिखित सैद्धान्तिक

आधार हैं:—

7.6.1 सत्य के प्रति प्रतिबद्धता

गाँधीजी की 'सत्' की धारणा यह थी कि इस जगत में सत्य के अतिरिक्त और कुछ वास्वविकता में अस्तित्व नहीं रखता, सत्य के अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है। 'सत्य' सम्बन्धी गाँधीजी के विचारों से इसके अनेक अन्य अर्थ भी निकलते हैं। जैसे शुद्धता, वास्तविकता, ज्ञान, उचित, स्वयं विद्यमान सार, वैध, अमोघ, इमानदारी, जैसा होना चाहिए, इत्यादि। 'सत्' को सम्पूर्ण सृष्टि को संचालित करने वाली परम शक्ति के रूप में भी स्वीकारा गया है और गाँधीजी परम शक्ति को ईश्वर के रूप में भी मानते हैं। 'सत्' उनके लिए सर्वोच्च और सर्वसमाहित करने वाला सिद्धान्त भी है जो निगमनान्मक तर्क के आधार पर अन्य सभी मानवीय मूल्यों और श्रेष्ठताओं से प्राथमिक भी है। गाँधीजी का तर्क है कि क्योंकि सृष्टि परम सत् को प्रतिबिंबित करता है इसलिए इहलौकिक व्यवस्थाओं और मनुष्यों को भी अपना सम्पूर्ण अस्तित्व और क्रियाओं को इसी के अनुसरण में ढालना चाहिए। गाँधीजी के लिए 'सत्य का साथ' मनुष्य का कर्तव्य है और यह उसका ढाल भी है। गाँधीजी का मानना था कि सत्य का साथ देना उस परम शक्ति अथवा ईश्वर का साथ देना भी है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सुनियोजित तरीके से नियन्त्रित करती है। उनके लिए सत्य स्वीकारोक्ति व प्रगति का अपरिहार्य भाग है। इसके प्रति प्रतिबद्धता केवल नैतिक प्रश्नों पर मात्र गहन दृष्टि द्वारा विचार व्यक्त करना ही नहीं है बल्कि इन सिद्धान्तों को मूर्त रूप देने में अन्तर्निहित परेशानियों को स्वीकारने की इच्छा शक्ति दिखाना भी महत्वपूर्ण है। गाँधीजी के अनुसार सत्य ही उद्देश्यों को औचित्यता प्रदान करता है और सत्य ही अन्तरात्मा की आवाज को प्रतिबिंबित करता है। यह व्यक्ति का अपने कर्तव्यों की अनुपालना पर जोर देती है। यह इसत्य और बुराइयों को समाप्त करने का दायित्व निर्धारित करती है। सकारात्मक रूप में यह व्यक्ति को समाज सेवा के दायित्व का स्मरण कराती है जिस से ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो सके ताकि समाज का नैतिक व आध्यात्मिक प्रगति हो सके, सभी का अधिकतम कल्याण हो सके। इस प्रकार यह अपने आप में सभी व्यक्तियों और समाज, राष्ट्र व दुनिया के कल्याण का सर्वाधिक महत्व रखने वाला सिद्धान्त है।

7.6.2 अहिंसा जीवन का सिद्धान्त बने

गाँधीजी के लिए परम सत्य की और अग्रसर होने के लिए अहिंसा का मार्ग जरूरी है। ईश्वर परम सत्य है जो सम्पूर्ण सृष्टि में निहित है। इस परम सत्य का आदर करना हिंसा को त्याग कर अहिंसक बनना है। गाँधी के अनुसार सत्य को अहिंसा के व्यवहार में पक्का विश्वास किए बिना मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता है। अहिंसा का अर्थ सभी प्रकार की हिंसा से दूर रहने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि से प्रेम भाव रखना और सामन्जस्य स्थापित करना भी है। संकीर्ण अर्थ में अहिंसा का मतलब है मन, वचन एवं कर्म से किसी को हानि नहीं पहुँचाना, परन्तु गाँधीजी की अहिंसा की धारणा यहाँ तक सीमित नहीं है। अपितु वह इस बात पर बल देते हैं कि अहिंसा का अर्थ विरोधियों से प्रेम करना भी है ताकि उसे यह अभास हो कि जो प्रयास किया जा रहा है वह उसके और सभी के कल्याण के लिए भी किया जा रहा है। यह ऐसा प्रेम का प्रदर्शन है जो सभी घृणाओं के त्याग पर बल देता है और हिंसा करने की इच्छा का परित्याग करना आवश्यक मानता है। सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा स्व-पीड़ा जैसे सिद्धान्तों के साथ जुड़ाव व्यक्ति में साहस और आत्म-निर्भयता को बढ़ावा देता है। इस प्रकार गाँधी के लिए अहिंसा साहसी व्यक्तियों का साधन है। उनके अनुसार यह असहाय लोगों का साधन कभी नहीं हो सकता है। इसमें कायरता के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि कोई अन्य विकल्प नहीं रहे और सत्य की रक्षा में कायरता और हिंसा के मध्य चयन करना जरूरी हो जाए तो ऐसी अवस्था में गाँधीजी हिंसा को वरीयता देते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गाँधीजी ने अहिंसा को व्यापक अर्थ में व्यक्त करते हुए इसे व्यक्ति के जीवन में मात्र औपचारिकता या व्यवहारिकता का विषय नहीं माना, अपितु व्यक्ति को अहिंसा में दृढ़ विश्वास के साथ जीवन का सिद्धान्त मानकर अपनापने पर बल दिया।

7.6.3 नैतिकता और तर्क-संगतता

गाँधीजी ने धर्म की व्यापक आर्थ में व्याख्या करते हुए इसे सभी नैतिक नियमों के संग्रह के रूप में स्वीकारा है। व्यक्ति द्वारा नैतिक नियमों की पालना ही उनके लिए उसका धार्मिक हाने का परिचय है। धर्म और तर्क में भी गहरे सम्बन्ध को गाँधीजी स्वीकार करते हैं। उन्होंने धार्मिक मान्यताओं को तर्क की शक्ति के आधार पर स्वीकारा और हर अंधविश्वास और तर्क विरोधी प्रथाओं का विरोध किया और उन्हें जड़ समेत उखड़

फेंकने का भरसक प्रयास किया। उपर्युक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत राजनीति का आध्यात्मिकरण का एक अभिन्न अंग यह भी है कि वह प्रत्येक राजनीतिक व्यवहार को नैतिकता—युक्त और तर्क—संगत बनाये रखने पर भी बल देते हैं।

7.6.4 आत्मिक विकास का प्रयास करना

अपने कई पूर्ववर्तियों के समान गाँधीजी का विचार था कि एक व्यक्ति का सम्पूर्ण 'स्व' बाह्य स्व और आन्तरिक स्व से मिलकर बना है। उनके मतानुसार मनुष्य की दो विरासतें होती हैं — जीव वैज्ञानिक और सामाजिक आध्यात्मिक। दूसरे शब्दों में कहें तो मनुष्य जानवरों का विकसित स्वरूप होने के साथ-साथ उसके जैविक और सामाजिक अस्तित्व के अंदर दैवीय गुण विद्यमान है। चूंकि गाँधीजी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था अतः उनका मानना था कि जैविक और सामाजिक प्रभाव मानव अस्तित्व के नैतिक आचरण के अधीन होते हैं। यद्यपि गाँधी जी वैज्ञानिकों के इस तर्क से सहमत थे कि मनुष्य जानवर का ही विकसित स्वरूप है, वे इस बात से सहमत नहीं थे कि मनुष्य मात्र विकसित जानवर है क्योंकि यह स्वरूप मनुष्य के आत्मिक गुणों एवं दैवीय स्वरूप को प्रकट नहीं करता। गाँधीजी का विचार था कि मनुष्य जानवरों से भिन्न है क्योंकि उसके पास आत्मिक शक्ति है जो उसे सही मार्ग एवं सामाजिक जीवन की ओर ले जाती है। गाँधीजी मानते थे कि यही आत्मिक शक्ति वह परम दैवीय शक्ति है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित है एवं जो सभी वस्तुओं और जीवों के अस्तित्व का कारण है। इस प्रकार गाँधी जी के अनुसार मनुष्य का दैवीय स्वरूप उसे एक विशिष्टता प्रदान करता है। गाँधीजी के अनुसार 'खाने, सोने और अन्य शारीरिक क्रियाओं में मनुष्य पशु से भिन्न नहीं है नैतिक स्तरों पर पशुओं से ऊपर स्थान प्राप्त करने का अथक् संघर्ष ही ऐसे पशुओं से मनुष्य को भिन्नता प्रदान करता है।'

ईश्वर के प्रति गाँधीजी की आस्था ने मानव जीवन के प्रति उनके विचारों का निर्धारण किया। दैवीयता और आत्मा की श्रेष्ठता पर विश्वास के कारण ही उनके मानव एवं मानव जीवन के बारे में विचारों को आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त हुआ। चूंकि गाँधीजी मानते थे कि मनुष्य का देवत्व ही उसे अन्य प्राणियों से अलग करता है अतः वे इस बात पर हमेशा बल देते थे मनुष्य अपने देवत्व को समझने का प्रयास करें। गाँधीजी मानते थे कि मनुष्य में दैवीयता उसकी आत्मा के रूप में निवास करती है। वे इस बात पर जोर देते थे कि मनुष्य अपने आत्मिक स्वरूप को पहचाने एवं उसी के अनुसार अपने कार्यों एवं विचारों का निर्धारण करें।

गाँधीजी चाहते थे कि मनुष्य स्वयं की शक्तियों को पहचान कर आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्रता का अनुभव करें। बाह्य स्वतंत्रता एवं आंतरिक स्वतंत्रता के अंतर को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी का विचार था कि वास्तविक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसमें मनुष्य स्वयं पर शासन करे। उन्होंने इसे "स्वराज" कहा। उनका मानना था कि इस प्रकार की स्वतंत्रता किसी बाह्य माध्यम या परिस्थिति से प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके लिये मनुष्य को अपने भीतर ईश्वरीय अस्तित्व को पहचानना होगा और प्रार्थना एवं नैतिक गुणों के विकास के द्वारा इस स्वतंत्रता का अनुभव करना होगा। गाँधीजी का मानना था कि जितना शुद्ध और पवित्र व्यक्ति होगा उसके द्वारा उतनी ही मात्रा में स्वतंत्रता का अनुभव किया जा सकता है। इसी संदर्भ में गाँधीजी ने एकादश महावृत अपनाने पर बल दिया। इन वृत्तों के अतिरिक्त प्रार्थना, उपवास और प्रायश्चित्त के द्वारा भी गाँधीजी ने व्यक्ति को आत्मिक विकास करने की सीख दी। ऐसा विकास गाँधीजी के अनुसार कोई भी व्यक्ति कर सकता है, भले वह बूढ़ा, नारी, गरीब, निःशक्तजन, इत्यादि क्यों न हो।

7.6.5 साध्य और साधन की पवित्रता

केवल जो पवित्र हो या सत्य के साथ संगत हो, उन्हीं उद्देश्यों को गाँधीजी ने जीवन में अपनाने योग्य माना है। उन्होंने साथ में इस बात पर भी बल दिया गया है कि जो साधन प्रयोग में लाए जा रहे हैं वह भी पवित्र हों। गाँधीजी मानते थे कि साध्य और साधन में घनिष्ट सम्बन्ध हैं। साधन निर्माण अधीन साध्य है। जैसा साधन प्रयोग किया जाएगा वैसा ही साध्य निर्मित होगा। इसलिए मानवीय जीवन में गाँधीजी ने अहिंसक और नैतिक साधनों का प्रयोग अपरिहार्य माना है। उनका कहना था कि जीवन को समाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक नामक भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। हर क्रिया, तथा प्रतिक्रिया परस्पर सम्बद्ध है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर की अनुभूति है अतः उसके आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक कार्य इसी उद्देश्य से निर्देशित होने चाहिए।

7.6.6 कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह

गाँधीजी के चिन्तन में व्यक्ति का केन्द्रीय स्थान है। उनके अनुसार सम्पूर्ण राजनीतिक संस्थाओं और गतिविधियों के पीछे जो उद्देश्य है वह सभी मानव का अधिकतम कल्याण करना है। परन्तु व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों के संबन्ध में जब गाँधीजी विचार व्यक्त करते हैं तो वे कर्तव्यों को महत्वपूर्ण मानते हैं। गाँधीजी निष्ठापूर्वक कर्तव्यों का निर्वाह करने पर बल देते थे। उनका मानना था यदि व्यक्ति अपने कर्तव्यों का निर्वाह नियमित रूप से करे तो अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे।

7.6.7 मानव जाति की आधारभूत एकता में विश्वास

गाँधीजी के अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान है और निष्कर्षात्मक रूप से वह सभी मनुष्यों में भी विद्यमान है। परम सत्य रूपी ईश्वर सभी व्यक्तियों में अन्तरात्मा के रूप में विद्यमान है। इसलिए सभी व्यक्ति मूल रूप से न केवल समान हैं अपितु सभी एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित भी हैं। समस्त मानव जाति की एकता और समानता में विश्वास के कारण गाँधीजी ने मनुष्यों के मध्य भाइचारा की भावना, प्रेम एवं अहिंसात्मक सम्बन्धों पर बल दिया। वे व्यक्ति को एक प्रथक अस्थित्व रखने वाले जीव नहीं मानते हैं अपितु समाज का एक अहम और अभिन्न अंग मानतम हैं।

7.6.8 सभी धर्मों का समान आदर

गाँधीजी साम्प्रदायिक एकता को भी बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने 'सर्वधर्म समभाव' के विचार एवं नीति का समर्थन किया और साम्प्रदायिक एकता व सद्भाव को अपने सार्वजनिक जीवन का सर्वाधिक प्रमुख लक्ष्य घोषित किया। धर्म उनके लिए वह सब कुछ प्रदान करने वाली आस्था है जो व्यक्ति के आत्मिक उत्थान के लिए आवश्यक है। सभी धर्म को समान रूप में सच्चाई अथवा एक ही शाश्वत सत्य की आस्था पर आधारित मानते हुए उन्होंने भारत के विभिन्न सम्प्रदायों— हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि के बीच साम्प्रदायिक एकता एवं सद्भाव की स्थापना के लिए अथक प्रयत्न किया।

3.6.9 निम्नतम व्यक्ति के उत्थान के प्रति समर्पित

गाँधीजी बेंथम जैसे विचारको द्वारा प्रतिपादित 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' सिद्धान्त की जगह पर 'सभी का अधिकतम सुख' सिद्धान्त स्वीकार करते थे। यह विचार उन्होंने सर्वोदय सिद्धान्त के नाम से प्रस्तुत किया। गाँधीजी ने मानव सेवा करते वक्त किसी प्रकार की दुविधा या संशय उत्पन्न होने की स्थिति से उभरने का तालिसमान दिया जो इस प्रकार है :

“मैं तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे तो यह कसौटी आजमाओ: जो सबसे गारीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो, जो कदम तुम उटाने का विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा ? क्या वह अपने ही जीवन और भाग्य पर काबू रख लेगा ? यानि क्या उससे उन कारोड़ों लोगों को स्वराज मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं आत्मा अतृप्त है ?”

7.6.10 अन्तरात्मा की प्रधानता

ईश्वर के प्रति गाँधीजी की आस्था ने मानव जीवन के प्रति उनके विचारों को प्रभावित किया। दैवीयता और आत्मा की श्रेष्ठता पर विश्वास के कारण ही मनुष्य और मानव जीवन के बारे में उनके विचारों को आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त हुआ है। चूँकि गाँधीजी मानते थे कि मनुष्य का देवत्व ही उसे अन्य प्राणियों से अलग करता है अतः वे इस बात पर बल देते थे कि मनुष्य अपने देवत्व को समझने का प्रयास करें। गाँधीजी मानते थे कि मनुष्य की दिव्य प्रकृति उसकी आत्मा के रूप में निवास करती है। वे इस बात पर जोर देते थे कि मनुष्य अपने आत्मिक स्वरूप को पहचाने एवं उसी के अनुसार अपने कार्य एवं विचारों का निर्धारण करें। यही उसका धर्म है। यदि लौकिक स्तर पर कोई भी व्यक्ति या संस्था सत्य के विरुद्ध कोई नियम बनाती है या आचरण करने के लिए आदेशित करती है और व्यक्ति की अन्तरात्मा उसे समझाती है कि यह आदेश नैतिकता और सत्य के विरुद्ध है, तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अन्तरात्मा की आवाज के आधार पर ऐसे अनैतिक आदेशों की अवज्ञा करना व्यक्ति का धर्म है।

7.6.11 एकादश व्रतों की अनुपालना

वृत्त का सीधा-सादा अर्थ है आत्म-नियन्त्रण या 'स्वयं द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना'। अनेक धर्म जैसे हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि प्रायः सभी धर्मों में ऐसे यम-नियम बताये गये हैं जिन्हें धार्मिक जीवन व्यापन का अभिन्न अंग माना गया है। स्वतंत्रता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी ने बताया कि आध्यात्मिक सत्ता के साथ एकात्म्य स्थापित करना ही नैतिक स्वतंत्रता है। अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हेतु इंद्रियों व वासनाओं (कामनाओं) की भौतिक मांगों पर विजय प्राप्त करना ही स्वतंत्रता है। इसलिए अपने आश्रम में उन्होंने एकादश व्रतों का कठोरता से पालन करने पर जोर दिया। गाँधीजी ने निम्नलिखित वृत्तों का उल्लेख किया है :-

3.6.11.1 सत्य

गाँधीजी ने अपने व्रतों में सत्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। गाँधी का यह दृढ़ मत था कि सत्य का पालन किसी भी परिस्थिति में वांछनीय है। ऐसा इसलिए जरूरी है क्योंकि सत्य के अलावा बाकी सब कुछ असत्य या मिथ्या है। ऐसा मानते हुए गाँधीजी ने उत्कृष्ट मानव जीवन के लिए सत्य के अलावा बाकी सब कुछ को अनुपयोगी माना है। उन्होंने सत्य की सर्वोच्च अवस्था को ईश्वर माना और मानव जीवन का लक्ष्य इस सर्वोच्च सत्य या ईश्वर की प्राप्ति माना।

7.6.11.2 अहिंसा

गाँधीजी के अनुसार सत्य और अहिंसा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गाँधीजी के अनुसार सत्य या ईश्वर को स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए यह अपरिहार्य बन जाता है कि वह हर उस तत्व का स्वीकार करे जिसमें सत्य या ईश्वर निहित है। यह केवल अहिंसा से ही संभव है क्योंकि हिंसा विघटनकारी और विनाशकारी शक्ति है। इसलिए गाँधीजी अहिंसा को जीवन सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने पर बल देते थे। उनकी अहिंसा वीरों की अहिंसा थी, कायरों अथवा अवसरवादियों की नहीं। परन्तु उनका यह भी मानना था कि यदि कायरता और हिंसा के बीच चयन करने की विवक्षता हो तो वे हिंसा को अपना पसन्द करेंगे।

अहिंसा को गाँधीजी ने व्यापक अर्थ में व्याख्या की है। उन्होंने अहिंसा को मन, वचन और कर्म से चोट पहुँचाने तक सीमित नहीं किया अपितु अपने विरोधियों के प्रति अपार स्नेह प्रदर्शित करते हुए उसके हर सितम को सहकर उसका हृदय परिवर्तन करना है।

3.6.11.3 अस्तेय

अस्तेय का अर्थ है 'चोरी नहीं करना' अर्थात् जो कुछ भी दुसरे व्यक्ति का है उसे अधिग्रहण करने का प्रयास नहीं करना। अस्तेय में निहित 'चोरी न करने' का भाव न केवल वस्तु तक सीमित है अपितु इसमें इस प्रकार का सोच रखना, किसी दुसरे का हक छीनना या ऐसा सोचना भी सम्मिलित है। गाँधीजी के लिए 'चोरी करना' दूसरों को कष्ट पहुँचाना है और यह सत्य और अहिंसा के खिलाफ है। अस्तेय व्रत की व्यापक व्याख्या करते हुए गाँधीजी ने यह तक माना कि अनावश्यक रूप से कोई वस्तु लेना या रखना भी चोरी है और इसलिए अनावश्यक कोई भी वस्तु नहीं रखनी चाहिए।

7.6.11.4 अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेय अवधारणा से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। इसमें ऐसे परित्याग का भाव है जो स्वयं की जरूरतों से ज्यादा रखने की सोच और प्रयास को अस्वीकार करता है। अपरिग्रह में यह भाव निहित है कि मनुष्य को उतना ही रखना चाहिए जितना कि उसके लिए आवश्यक या महत्वपूर्ण हो। गाँधीजी ने कहा कि इस व्रत का आदर्श दैनिक उपयोग की वस्तुओं का अनुचित संग्रह रोकना है। उनके अनुसार परमात्मा कभी परिग्रह नहीं करता बल्कि उसमें विश्वास रखने वाले व्यक्ति की हर विकट परिस्थिति में मदद करता है। उनके मतानुसार परिग्रह हिंसा है और पूर्ण अहिंसा सर्वस्व, यहाँ तक कि शरीर का भी त्याग करने (मरने) के लिए तैयार रहने की बात करता है। पूर्ण अपरिग्रह भले ही अदर्श के रूप में व्यक्ति के जीवित रहते प्राप्त करना असंभव हो, परन्तु गाँधीजी के अनुसार हमें उसके लिए साधना में सचेष्ट रहना चाहिए। गाँधीजी ने नैतिकता विहीन, भौतिक सुखों का अधिकाधिक वृद्धि का प्रयास, स्व-केन्द्रित चिन्ता और अन्यों की उपेक्षा अथवा शोषण आधारित मानवीय गतिविधियों की कटु आलोचना की। वे चाहते थे कि प्रत्येक नागरिक अपरिग्रह का भाव धारण कर अनावश्यक प्रतिस्पर्धा और पृकृति का अंधाधुन्ध धोहन से बचे। वे सादा जीवन और उच्च विचार, परोपकार और सर्वोदय की कामना करते थे।

7.6.11.5 ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ इन्द्रिय-निग्रह है। प्रचलित अर्थ में लोग इसे जननेन्द्रिय संयम के अर्थ में समझते हैं। गाँधीजी ने कहा कि ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है ब्रह्म की या ईश्वर या सत्य की साधना में संलग्न रहना, अर्थात् तत्संबंधी आचार करना। गाँधीजी केवल जननेन्द्रिय संयम की बात नहीं करते बल्कि सभी शारीरिक और मानसिक संयम को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार केवल ऐसा संयम ही मनुष्य को भौतिक संसार की चकाचौंध में फँसकर जीवन के नेक और आध्यात्मिक लक्ष्यों से दूर करता है।

3.6.11.6 अवसाद

गाँधीजी की ब्रह्मचर्य सम्बन्धी सोच केवल जननेन्द्रिय संयम तक सीमित नहीं है, यह सभी शारीरिक और मानसिक संयम को भी आवश्यक मानता है। उनके अनुसार मनुष्य की इन्द्रियाँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबन्धित हैं। आहार का भी विचारों पर प्रभाव पड़ता है और इसलिए स्वादेन्द्रिय पर नियन्त्रण जरूरी है। स्वादेन्द्रिय पर नियन्त्रण ही अवसाद का व्रत है। उनका कहना था कि भोजन केवल शरीर को जीवित रखने के उद्देश्य से ही ग्रहण किया जाना चाहिए इसलिए उसे औषधि समझकर ग्रहण किया जाना चाहिए। गाँधी जी शरीर को ईश्वर अर्थात् सत्य की खोज का साधन मानते थे। इसलिये उन्होंने इस बात पर बल दिया कि आत्मा के विकास के लिये सादा भोजन आवश्यक है।

7.6.11.7 निडरता

अभय से गाँधीजी का तात्पर्य सभी प्रकार के भय से मुक्ति है – मौत, धन-दौलत लुटने, अप्रतिष्ठा, शस्त्र-प्रहार, दण्ड, इत्यादि। गाँधीजी का मानना था कि सत्य की खोज और अहिंसा की पालना के लिए व्यक्ति को निडर होना जरूर है। गाँधीजी के अनुसार निडर व्यक्ति ही नैतिकता का पालन कर सकता है। सदाचरण और सद्गुण के लिए अभय अपरिहार्य है। गाँधीजी शारीरिक और मानसिक बहादुरी की तुलना में नैतिक बहादुरी को प्रथमिकता देते थे। इसीलिए वे कहते थे कि साधारण मनुष्य, शारीरिक रूप से कमजोर व्यक्ति, बूड़े, नारी, इत्यादि भी सच्चे सत्याग्रही बन सकते हैं यदि वे निडरता से नैतिकता का पालन करें। गाँधीजी के अनुसार निडरतापूर्वक अहिंसा को अपना जीवन धर्म मानना ही अहिंसा के सच्चे पूजारी की पहचान है।

7.6.11.8 अस्पृश्यता उन्मूलन

गाँधीजी ने भारत में वर्षों से विद्यमान वर्ण व्यवस्था को स्वीकारा परन्तु उसमें कालान्तर में आए विकृतियाँ जैसे अस्पृश्यता को सामाजिक कलंक तथा न्याय की स्थापना में बाधक माना। उन्होंने इसे अनैतिक मानकर पाप की संज्ञा दी और कहा कि यह मानवता के विरुद्ध क्रूरतम अपराध है। अस्पृश्यता उन्मूलन का कार्य बलपूर्वक और केवल कानून पर आश्रित रहकर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि सत्य और अहिंसा को अपनाते हुए इस उद्देश्य की प्राप्ति करनी चाहिए। अस्पृश्यता निवारण का कार्य प्रायश्चित्त का काम मानकर पूर्ण निष्ठा से सम्पन्न करना चाहिए। गाँधीजी ने अस्पृश्यता पर सभी दिशाओं से आक्रमण करने वाले रचनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता पर भी बल दिया। इस काम के लिए गाँधीजी ने हजारों स्त्री-पुरुषों, लड़के-लड़कियों की समग्र ऊर्जा, जो कि श्रेष्ठ धार्मिक प्रेरणा से प्रेरित हो, की आवश्यकता पर बल दिया। गाँधीजी ने ऐसे निःशक्तजन सेवकों को उनके लिए अनेक कार्य करने और अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करने को कहा जैसे – स्वास्थ्य तथा स्वच्छता की शिक्षा व विकास, अस्वच्छ व्यवसायों में उन्नत विधियों का प्रयोग, मादक द्रव्यों के सेवन का परित्याग करने की सीख, विद्यालयों की व्यवस्था, स्वयं कार्यकर्ताओं के मध्य छूआछूत का परित्याग, इत्यादि।

7.6.11.9 शारीरिक श्रम

गाँधीजी 'श्रम की रोटी' सिद्धान्त का समर्थन करते हुए योग्यता अनुसार समाज के लिए योगदान देना और आवश्यकता अनुसार समाज से प्राप्त करने पर बल देते थे। उन्होंने कहा कि सभी को कुछ न कुछ रूप में शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिए। उनके मतानुसार प्रत्येक श्रम का समाज में समान महत्व है, इस आधार पर न ही उँच-नीच की धारणा का कोई औचित्य है और न ही किसी तरह के अन्तरनिहित द्वन्द और संघर्ष का। उनका मानना था कि व्यक्ति जो भी अपनी परिश्रम से प्राप्त करता है वह समाज से ही प्राप्त करता है और इसलिए उसे समाज को किसी न किसी प्रकार से वापस लौटाने का प्रयास भी करना चाहिए। गाँधीजी के लिए शारीरिक श्रम आत्मनिर्भरता और शोषण-मुक्त समाज की प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन है। उनके अनुसार यह शरीर को

स्वस्थ, चुस्त तथा रोग—मुक्त रखने का भी उपयुक्त साधन है।

7.6.11.10 सभी धर्मों का समान आदर

गाँधीजी ने 'सर्वधर्म समभाव' के विचार एवं नीति का समर्थन किया और साम्प्रदायिक एकता व सद्भाव को अपने सार्वजनिक जीवन का सर्वाधिक प्रमुख लक्ष्य घोषित किया। गाँधीजी के लिए धर्म सब कुछ प्रदान करने वाली आस्था है जो व्यक्ति के आत्मिक उत्थान के लिए आवश्यक है। सभी धर्म को समान रूप में सच्चाई अथवा एक ही शाश्वत सत्य की आस्था पर आधारित मानते हुए उन्होंने भारत के विभिन्न सम्प्रदायों— हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि के बीच साम्प्रदायिक एकता एवं सद्भाव की स्थापना के लिए अथक प्रयत्न किया। उन्होंने विशेषकर हिन्दू—मुस्लिम एकता पर बहुत जोर दिया। भारत में होने वाले हिन्दू—मुस्लिम दंगों को उन्होंने बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण माना। किसी धर्म को राष्ट्रीयता का आधार बनाने का प्रयास और इस आधार पर भारत का विभाजन करने के प्रयास का अन्त तक उन्होंने कडा विरोध किया।

गाँधीजी अपेक्षा करते थे कि प्रत्येक समुदाय के लोग अपने सीमित तथा संकीर्ण हित को त्याग कर राष्ट्रीय हित के बारे में सोचें एवं कार्य करें। उनके अनुसार सभी को यह स्वीकार करना चाहिए कि सभी धर्म मूल रूप से एक हैं। यद्यपि साधन के सम्बन्ध में वे अलग—अलग सोच रखते हों पर सभी का लक्ष्य एक है। उन्होंने व्यक्ति द्वारा धार्मिक सहिष्णुता के गुण को विकसित करते हुए सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाए रखने पर बल दिया। उन्होंने यह संदेश दिया कि प्रत्येक व्यक्ति को सभी धर्म उतने ही प्रिय होने चाहिए जितना कि उसे अपने धर्म से प्रेम हो तथा वे अन्य मतों को उतना ही आदर प्रदान करे जितना कि वे अपने मत को आदर करते हों।

7.6.11.11 स्वदेशी

स्वदेशी से अभिप्राय आर्थिक स्वावलम्बन और देशप्रेम था। स्वदेशी का सकारात्मक अर्थ अपने देश में निर्मित वस्तु के प्रयोग को प्राथमिकता देना और नकारात्मक रूप में इसका अर्थ है दूर स्थित इलाके या विदेश में उत्पादित वस्तुओं का बहिष्कार। स्वदेशी का सकारात्मक अर्थ अपने देश की सभ्यता और संस्कृति के प्रति अनन्य प्रेम भी है। अतः यह स्वाभिमान का भी प्रतीक है। स्वदेशी में अनावश्यक मशीनीकरण और औद्योगीकरण के आधार पर किए जाने वाले बड़े पैमाने पर उत्पादन का विरोध भी निहित है। बड़े पैमाने पर उत्पादन और तकनीकी नवाचार के द्वारा आर्थिक समृद्धता का अन्धानुकरण, उनके अनुसार समाज में आर्थिक आक्रमण, शोषण और हिंसा को बढ़ावा देता है। इसलिए विकल्प के तौर पर गाँधीजी स्वदेशी के माध्यम से विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था और आम जनता की आवश्यकता पर आधारित उत्पादन का समर्थन करते थे।

आम जनता की आवश्यकता पर आधारित उत्पादन के लिए गाँधीजी व्यापक स्तर पर कुटिर उद्योग का विस्तार करना चाहते थे। कुटिर उद्योग को गाँधीजी ने विशाल जनसंख्या, ग्रामीन जीवन की प्राधान्यता, गरीबी, इत्यादि जैसे विशेष भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल भी माना। इन्हे गाँधीजी ने आम व्यक्ति के स्वावलम्बन और सशक्तिकरण के उद्देश्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना।

कुटिर उद्योग को बढ़ावा देने के लिए गाँधीजी ने स्वदेशी सिद्धान्त को अपनाने पर बल दिया। वे चाहते थे कि स्वदेशी अपनाते हुए लोग अपने आस—पास के क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग करें। राष्ट्र के स्तर पर इसे अपनाने का आशय यह था कि भारतीय विदेशों में उत्पादित वस्तुओं को त्याग कर अपने देश में उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग करें। राष्ट्रीय एकता, समृद्धि और स्वावलम्बन के लिए गाँधीजी ने इसे जरूरी बताया।

7.6.12 स्वरज और वैक्तिक उन्नयन

गाँधीजी चाहते थे कि मनुष्य स्वयं की शक्तियों को पहचान कर आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्रता का अनुभव करें। बाह्य स्वतंत्रता एवं आंतरिक स्वतंत्रता के अंतर को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी का विचार था कि वास्तविक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसमें मनुष्य स्वयं पर शासन करे। उन्होंने इसे "स्वराज" कहा। उनका मानना था कि इस प्रकार की स्वतंत्रता किसी बाह्य माध्यम या परिस्थिति से प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके लिये मनुष्य को अपने भीतर ईश्वरीय अस्तित्व को पहचानना होगा और प्रार्थना एवं नैतिक गुणों के विकास के द्वारा इस स्वतंत्रता का अनुभव करना होगा। आत्मिक जीवन जीना और भौतिक समाज का हिस्सा बनना ये दोनों बातें परस्पर विरोधाभासी प्रतीत होती हैं।

लेकिन गाँधीजी ऐसा नहीं मानते थे। उनका विचार था कि इन दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है

यदि मनुष्य अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रखना सीख लें। इस नियंत्रण का प्रभाव उनके अनुसार यह होगा कि मनुष्य भौतिक वस्तुओं के आकर्षण में बंध कर आध्यात्मिकता के मार्ग से प्रथक नहीं होगा। इस संदर्भ में गाँधीजी ने कुछ सिद्धान्तों और मूल्यों का प्रतिपादन किया। गाँधीजी चाहते थे कि लोग अपने निजी एवं सार्वजनिक जीवन में इन सिद्धान्तों का अनुसरण करें। उनका मत था कि सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन करने पर मनुष्य स्वयं को आध्यात्मिक रूप से उन्नत कर सकेंगे।

7.6.13 वैक्तिक हित का सामाजिक हित के साथ सामन्जस्य

गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक आध्यात्मिकरण की अवधारणा का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि यह व्यक्ति और समाज के हित में उचित सामंजस्य स्थापित करने पर बल देता है। वस्तुतः गाँधी ने सत्य, अहिंसा के आधार पर जिस अहिंसक विश्व की कल्पना की है, उसमें स्वतन्त्रता, समानता, बंधुत्व, आपसी सहयोग, प्रेम, समन्वय को नींव के पत्थरों के रूप में स्थापित किया गया है। अपने समुद्रीय तरंग सिद्धान्त के माध्यम से एक तरफ तो उन्होंने व्यक्ति को समाज के लिए, समाज को राष्ट्र के लिए और राष्ट्र को विश्व के लिए तत्पर रहने का संदेश दिया और दूसरी तरफ विश्व को राष्ट्र से प्रारम्भ करके अन्तिम स्तर पर स्थित सभी व्यक्तियों के अधिकतम विकास के प्रति समर्पित रहने की बात कही है। इस तरह गाँधीजी वैक्तिक हित और सामाजिक हित में सामन्जस्य स्थापित करने में सफल हुए हैं।

7.7 सारांश

गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक आध्यात्मिकरण की अवधारणा एक लोक-कल्याणकारी एवं मानवतावादी अवधारणा है और इसलिए सम्पूर्ण विश्व के लिए उसकी विशिष्ट उपादेयता है। राजनीति आज सम्पूर्ण समाज का अपरिहार्य हिस्सा है, कोई इससे अछूता नहीं रह गया है। दुर्भाग्यवश राजनीति जिन स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के लिए संचालित की जा रही है उससे उसे एक निन्दनीय कृत्य के रूप में देखा जा रहा है। ऐसी स्थिति में गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक आध्यात्मिकरण राजनीति को आदर्शोन्मुख बनाने का रास्ता बताता है। दूषित राजनीतिक वातावरण में अन्तरात्मा को ठेस पहुँचाने वाले आदेशों अथवा व्यवहारों का सामना कैसे कोई व्यक्ति करे, इसके बारे में गाँधीजी सत्याग्रह दर्शन और तकनीक के माध्यम से राह प्रशस्त करते हैं। जन चेतना जाग्रत कर सशक्त विरोध से राजनीति में व्याप्त अन्याय और विभिन्न रूप में विद्यमान अनैतिक आचरण को खत्म करने का मार्ग गाँधीजी प्रस्तुत मानवता को एक अनमोल देन है। आज न केवल भारत के सन्दर्भ में अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए यह अवधारणा बहुत व्यावहारिक है। यदि हम एक कल्याणकारी समाज की परिकल्पना करते हैं और विभिन्न समस्याओं का समाधान चाहते हैं तो ऐसा केवल संवैधानिक, नैतिक तथा अहिंसक साधनों से ही प्राप्त किया जाना सर्वोचित होगा। गाँधीजी का ध्येय था विश्व-शान्ति को स्थापित करना और उसका औचित्य बढ़ाना। इसलिए हिंसा और अशान्ति से ग्रस्त विश्व के लिए राजनीतिक आध्यात्मिकरण एक महान आदर्श है जिसके अनुसार यथासम्भव आचरण करना निश्चय ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर होगा।

7.8 अभ्यास प्रश्न

1. आध्यात्मिकता एवं राजनीति का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. राजनीतिक के बारे में गाँधीजी के विचारों की विवेचना कीजिए।
3. राजनीतिक आध्यात्मिकरण के बारे में गाँधीजी के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
4. आध्यात्मिक राजनीति के विभिन्न गाँधीवादी सिद्धान्त कौन से हैं?

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एम.के. गाँधी, हिन्द स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
2. माथुर डी. बी., गाँधी एण्ड द लिबरेल बिक्वेस्ट, आलेख पब्लिशर्स, जयपुर, 1988
3. सिंह, रामजी गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1986

4. धवन गोपीनाथ, दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
5. अय्यर, राघवन, द मोरल एण्ड पोलिटीकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1973
6. पटेल एम. एस., दी एजुकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958
7. भट्टाचार्य, बुद्धदेव, एवोल्यूशन ऑफ द पोलिटिकल फिलासफी ऑफ गाँधी, कलकत्ता बुक हाऊस, कलकत्ता, 1969

विकेन्द्रीकृत नियोजन एवं गाँधीवादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

- 8.0 उद्देश्य
- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 विकेन्द्रीकृत नियोजन की अवधारणा एवं औचित्य
- 8.3 विकेन्द्रीकृत नियोजन का विकास
- 8.4 विकेन्द्रीकृत नियोजन के आयाम
- 8.5 पंचायती राज व्यवस्था एवं विकेन्द्रीकृत नियोजन प्रक्रिया
 - 8.5.1 पंचायती राज की विकास यात्रा
 - 8.5.2 73वें संविधान संशोधन के प्रमुख अनुलक्षण
 - 8.5.3 पंचायती राज व्यवस्था एवं विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया
- 8.6 विकेन्द्रीकरण नियोजन पर महात्मा गाँधी के विचार
 - 8.6.1 ग्रामीण गणतंत्र के पक्षधर
 - 8.6.2 स्थानीय समुदाय की भागीदारी से भारत के गांवों का पुनर्निर्माण
 - 8.6.3 ग्राम-स्वराज्य से ही पूर्ण प्रजातंत्र की स्थापना
 - 8.6.4 पंचायत राज ग्रामीण भारत की बुनियाद
 - 8.6.5 औद्योगीकरण का विरोध एवं लघु उद्योगों का समर्थन
 - 8.6.6 शक्ति का केन्द्रीकरण खतरनाक है
 - 8.6.7 सीमित कार्य करने वाले राज्य आदर्श राज्य
- 8.7 सारांश
- 8.8 अभ्यास प्रश्न
- 8.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेंगे :-

- विकेन्द्रीकृत नियोजन का अर्थ एवं औचित्य क्या है?
- विकेन्द्रीकृत नियोजन में विकास के विविध चरण कौन से हैं?
- विकेन्द्रीकृत नियोजन के विविध आयाम कौन से हैं?
- पंचायती राज व्यवस्था एवं विकेन्द्रीकृत नियोजन की प्रक्रिया क्या है?
- विकेन्द्रीकृत नियोजन के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी के विचार क्या हैं?

8.1 प्रस्तावना

किसी भी देश के आर्थिक विकास एवं उन्नति का लक्ष्य उसके समग्र एवं सन्तुलित विकास पर ही निर्भर है। विकास के लिए 'विकेन्द्रीकृत नियोजन' की संकल्पना बुनियादी एवं सहभागी लोकतंत्र, स्थानीय समुदाय की राजनीतिक प्रशासनिक एवं आर्थिक निर्णयों में सहभागिता का पक्ष लेती है। यह विकास को 'शीर्ष' से नहीं,

तथा कुछ लोगों अथवा अभिजातीय समुदाय के लिए नहीं बल्कि बुनियाद अथवा 'आधार' से तथा सभी की प्रगति के लिए संभावनाओं के विचार से जुड़ी है। महात्मा गाँधी ने अपने लेखों, विचारों एवं भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनों में चलाये गये अभियानों में विकेन्द्रीकरण को व्यक्ति, समुदाय एवं राष्ट्र की भलाई के लिए अनिवार्य माना है। इस परिप्रेक्ष्य में विकेन्द्रीकृत नियोजन का अर्थ, भारत में इसके उदभव एवं विकास, पंचायती राज व्यवस्था में विकेन्द्रीकृत नियोजन की स्थिति तथा महात्मा गाँधी के चिन्तन में अभिव्यक्त विकेन्द्रीकृत नियोजन से संबंधित विचारों को जानना आवश्यक है।

8.2 विकेन्द्रीकृत नियोजन की अवधारणा एवं औचित्य

सामान्य अर्थों में विकेन्द्रीकरण शासन सत्ता का केन्द्र में संगीभूत न होकर इकाईयों में वितरण है। यह निर्णय प्रक्रिया में स्थानीय समुदाय की सहभागिता को महत्त्व देता है। विकास के सन्दर्भों में जो यहां हमारे चिन्तन का मुख्य विषय है, विकेन्द्रीकरण का अर्थ है विकास की योजनाओं के निर्माण एवं कार्यान्वयन में राष्ट्रीय या राज्य स्तर की उच्च स्तरीय संस्थाओं की शक्तियों की उपराज्य एवं स्थानीय स्तर की संस्थाओं में हस्तान्तरित होना है। इसमें आधार स्तर पर जिला, खण्ड एवं पंचायत संस्थाएं नियोजन प्रक्रिया में एक निश्चित भूमिका का निर्वाह करती है। इसमें स्थानीय संस्थाएं विशिष्ट शक्ति एवं दायित्वों से युक्त होती है। व्यवहारिक रूप से विकेन्द्रीकरण की अवधारणा में स्थानीय क्षेत्र द्वारा अपने उद्देश्य एवं लक्ष्यों को तय करने का दायित्व तथा स्थानीय स्तर पर संसाधनों को प्रोत्साहित करना भी शामिल है।

अतः विकेन्द्रीकरण नियोजन को योजना के ऐसे प्रकार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें स्थानीय संगठन एवं संस्थाएं बिना किसी केन्द्रीय संस्था के हस्तक्षेप के योजनाओं का निर्माण कार्यान्वयन एवं अपनायी जाने वाली गतिविधियों का निर्धारण एवं पर्यवेक्षण कर सके।

इसका औचित्य इस कारण है कि विकेन्द्रीकरण नियोजन से ही विकास के लिए स्थानीय समुदाय द्वारा अपनी स्थानीय प्राथमिकताओं के निर्धारण, संसाधनों के आवंटन तथा सामाजिक, आर्थिक समस्याओं के समधान हेतु निर्णय लेने का अवसर प्राप्त कर सकता है। अतः सहभागी लोकतन्त्र, स्वशासन, स्वावलम्बी ढांचे, सुशासन, उत्तदायित्व के निर्धारण तथा समुदाय की दक्षता को बढ़ाकर सभी के विकास को संभव बनाने के लिए विकेन्द्रीकरण नियोजन आवश्यक एवं अनिवार्य है। इसके अभाव में विकास की तस्वीर अधूरी एवं सतही रहेगी। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का आदर्श शासन में लोगों की सहभागिता को बढ़ाया जा सकता है। यह स्थानीय स्वशासन के माध्यम से सम्भव बनाया जा सकता है। इन चयनित संस्थाओं, शासन प्रक्रिया में जनसहभागिता तथा लोकतान्त्रिक संस्थाओं को सशक्त बनाकर वे स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र के महत्त्व को जान सकते हैं।

8.3 विकेन्द्रीकृत नियोजन का विकास

भारत ने आर्थिक नियोजन का सफर प्रथम पंचवर्षीय योजना के साथ 1951 में प्रारम्भ किया। यद्यपि हमारी पंचवर्षीय योजनाएं अधिकांशतः केन्द्रिय योजनाएं रही लेकिन प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही सरकार ने स्थानीय स्तर की भागीदारी को नियोजन प्रक्रिया में शामिल किया गया था। इस कड़ी में विकेन्द्रीकृत नियोजन के अनेक ऐसे प्रयास सशक्तता से मुखर हुए तो अनेक बार ऐसे प्रयास अप्रत्यक्ष एवं नाममात्र के थे।

अतः भारत में विकेन्द्रीकृत आयोजन अनेक वर्षों में धीरे-धीरे विकसित हुआ है। महात्मा गाँधी के गांवों को स्वावलम्बी बनाने के विचारों को आकार देने के लिए 2 अक्टूबर 1952 को देश के चयनित 55 प्रखण्डों में सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारंभ किये गये थे। तत्कालीन सामुदायिक विकास मन्त्रालय द्वारा सामुदायिक विकास कार्यक्रम को लोगों की पहल से लागू करना बताया जिनमें गांव के समुदाय स्वयं अपनी प्राथमिकताओं को तय करेंगे लेकिन व्यवहार में ये कार्यक्रम केन्द्र से ही निर्देशित होते रहे। इसी कारण समुदाय के लोगो की इन कार्यक्रमों में कोई रुचि नहीं रही।

1957 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की प्रगति के आकलन, ग्रामीण स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं के पुनरुद्धार एवं विकास में इसकी भूमिका तय करने के लिए बलवन्त राय मेहता समिति की स्थापना की गयी

जिसकी अनुशंसाओं के आधार पर 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर जिले से गांव, खण्ड एवं जिला स्तर पर त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था का प्रारम्भ किया गया। इसमें गांव एवं प्रखण्ड स्तर पर चयनित लोकतान्त्रिक संस्थाएं तथा जिला स्तर पर जिलाधीष की अध्यक्षता में सलाहकारी संस्था के माध्यम से नियोजन एवं विकास की गतिविधियों के परिचालन को दिया जाये ऐसा तय किया गया। अनेक राज्यों ने बलवन्त राय मेहता की अनुशंसाओं को मानते हुए अपने यहाँ पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना की थी लेकिन न तो जिला स्तर पर इन संस्थाओं को नियोजन की इकाई माना गया न ही क्षेत्र के विकास हेतु पृथक् विकास की रूपरेखा तय की गयी। विकास के सभी निर्णय केन्द्र एवं राज्यों द्वारा ही तय होते रहे। 70 के दशक के अन्त तक अनियमित चुनावों, शक्तिहीन स्थिति एवं उदासीन भूमिका के कारण देश की पंचायती राज संस्थाएं महज औपचारिक एवं नाममात्र की संस्थाएं थीं। दिसम्बर 1977 में पंचायती राज संस्थाओं को सशक्त बनाने के लिए सुझाव देने के लिए अशोक मेहता समिति का गठन किया गया जिसमें दो स्तरीय पंचायती राज ढाँचे तथा ग्राम सभा को सशक्त बनाने की अनुशंसा की थी।

चौथी एवं पांचवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान देश में आर्थिक नियोजन एवं विकास हेतु महत्वपूर्ण बदलाव किये गये। ग्रामीण क्षेत्रों में वंचित वर्गों के विकास के लिए विशेष कार्यक्रम जैसे न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (मिनिमम नीड प्रोग्राम एम.एन.पी.) आदिवासी विकास कार्यक्रम (ट्राइबल एरिया डवलपमेन्ट प्रोग्राम ज।व्) सूखा क्षेत्र विकास कार्यक्रम (ड्रॉउट प्रोन एरिया प्रोग्राम DPAP) आदि चलाया गया। खण्ड स्तरीय नियोजन एवं जिला स्तरीय नियोजन को उद्देश्य बनाया गया। केन्द्र के अनुदान के उपयोग के लिए राज्यों को अपने नियोजन तन्त्र के सशक्त बनाने पर बल दिया गया।

छठी एवं सातवीं पंचवर्षीय योजना में जिला एवं स्थानीय स्तर पर विकेन्द्रीकृत नियोजन पर विशेष बल दिया गया। 1982 में सी.एच. हनुमन्ता राव की अध्यक्षता में गठित जिला नियोजन पर कार्यसमूह एवं 1985 में ग्रामीण विकास में प्रशासनिक प्रबन्धनों हेतु सुझाव देने हेतु स्थापित जी.वी. के राव समिति द्वारा विकेन्द्रीकृत नियोजन की दी गयी अनुशंसाओं को विविध राज्यों ने मानते हुए विकेन्द्रीकृत नियोजन को मार्गदर्शक बिन्दुओं को सामान्यतः अपने-अपने तरीके से लागू किया। राज्य स्तर से नीचे जिला स्तर पर नियोजन को मान्यता प्राप्त हुयी। 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन को अप्रैल 1993 में पारित कर स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देते हुए नियोजन की विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया को स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के माध्यम से क्रियान्वित करते हुए संस्थागत दर्जा दिया। 11वीं पंचवर्षीय योजना में जिलास्तरीय योजनाओं को विशेष स्थान दिया गया है। पिछले छः दशकों में यह सच्चाई स्वीकार की गई है कि भारत के समग्र विकास के लिए विकेन्द्रीकृत नियोजन को हमें अपना ही होगा।

8.4 विकेन्द्रीकृत नियोजन के आयाम

विकेन्द्रीकरण के चार मुख्य आयाम – कार्यात्मक, वित्तीय, प्रशासकीय एवं राजनीतिक आयाम माने जा सकते हैं। हमें इन आयामों के सन्दर्भ में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को गहनता से जान सकते हैं जिससे विकेन्द्रीकृत नियोजन के संदर्भ में समझ बनाई जा सके।

8.4.1 कार्यात्मक विकेन्द्रीकरण

जब कभी कुछ कार्य राष्ट्रीय या राज्य स्तर से उपराज्य स्तर पर हस्तान्तरित हों तब ऐसे कार्यों के चयन में पूर्ण सतर्कता रखनी होगी। स्थानीय स्तर पर केवल कार्यों का हस्तान्तरण अपर्याप्त एवं अनिच्छित परिणाम देगा। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि स्थानीय स्तर पर मौजूद मानव क्षमता हस्तान्तरित किये गये कार्यों के साथ न्याय नहीं कर पायेगी। स्थानीय स्तर पर दिये गये इन कार्यों के सम्पादन के लिए कुछ शक्तियां न देने पर स्थानीय संस्थाएं शक्तिहीन, कार्यभार के बोझ से लदी औपचारिक संस्थाएं ही रह जायेंगी।

हस्तान्तरित किये जाने वाले कार्यों का हस्तान्तरण की जाने वाली शक्तियों से मिलान होना चाहिए। ऐसी शक्ति तीन प्रकार की होगी तथा इसके उपविभाजन अग्रांकित होंगे—

शक्ति	उपविभाजन
निर्णय निर्माण शक्ति	विधान निर्माण एवं क्रियान्वयन की शक्ति
वित्तीय शक्ति	राजस्व खर्चे संबंधी शक्ति
व्यक्तिगत मामलों पर शक्ति	सेवा, संस्थापन, नियुक्ति, पदोन्नति स्थानान्तरण, अनुशासन आदि

8.4.2 वित्तीय विकेन्द्रीकरण

किसी भी स्तर का नियोजन बिना वित्तीय संसाधनों एवं प्राधिकार के बिना निरर्थक है। अन्य देशों की तरह हमारे देश में भी अधिकांश वित्तीय संसाधनों पर राज्यों का नियन्त्रण है। जिनका धीरे-धीरे स्थानीय स्तर पर वितरण किया जाता है। इन संसाधनों का वितरण संवैधानिक प्रावधानों के तहत किया जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 के तहत प्रति 5 वर्ष में एक वित्त आयोग का गठन किया जाता है। हाल ही में राज्य वित्त आयोग का गठन राज्यों से स्थानीय स्तर पर वित्तीय संसाधनों के हस्तान्तरण के लिए किया गया है।

केन्द्र से स्थानीय एवं उपराष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय अनुदान के हस्तान्तरण हेतु सामाजिक, आर्थिक बिन्दुओं को ध्यान में रखा गया है जैसे – क्षेत्र, जनसंख्या का आधार, विशेष अवस्थिति अथवा सामाजिक विशमताएं, प्रमुख राष्ट्रीय योजनाओं के प्रति कटिबद्धता, पिछड़ेपन की स्थिति आदि।

इसके साथ ही जिला राष्ट्रीय नियोजन हेतु 'अनिर्धारित कोश (अन्टाइड फन्ड्स)' का भी आवंटन किया जाता है जो जिला स्तर की संस्थाओं को जिला स्तर के नियोजन के उपयोग हेतु सीधे ही दिया जाता है।

विकेन्द्रीकृत नियोजन की पूर्ण सफलता हेतु वित्तीय विकेन्द्रीकरण का अत्यधिक महत्त्व है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि केवल शीर्ष से समस्त स्रोतों के स्थानान्तरण से विकास की गति नहीं बढ़ायी जा सकती। इसके लिए स्थानीय स्रोतों को सक्रिय करना आवश्यक है।

8.4.3 प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण

प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण का अर्थ है सरकारी विभागों एवं संस्थाओं में से कुछ कार्यों एवं शक्तियों को उनके क्षेत्रीय कार्यालयों को सौंपना यद्यपि ऐसे विकेन्द्रीकरण में निर्देशों की शक्ति शीर्ष पर रह सकती है। वित्तीय विकेन्द्रीकरण में अनेक प्रशासकीय क्रियाविधियां शामिल हैं जैसे पर्याप्त वित्तीय संसाधनों का प्रावधान, कार्य प्रक्रिया के नियम एवं विभागीय नियम कानून बनाना।

उक्त प्रकार का प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण हेतु आधारभूत कार्य कर पाएगा। इससे स्थानीय स्तर के अधिकारी एवं कर्मचारियों योजनाओं के कार्यान्वयन में दक्षता आ पाएगी बल्कि विकेन्द्रीकरण एवं जन सहभागिता के पक्ष में सकारात्मक दृष्टिकोण भी उत्पन्न हो पाएगी।

8.4.3 राजनीतिक एवं लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण

अपने श्रेष्ठ रूप में विकेन्द्रीकरण नियोजन लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के समरूप बन जाता है जिसमें सभी लोग नियोजन की प्रक्रिया में भाग लेते हैं। जब कभी जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि नियोजन प्रक्रिया में भाग लेते हैं उसे आंशिक विकेन्द्रीकरण कहा जाता है जब जनसंख्या का हर वर्ग समुदाय के स्थानीय मुद्दों पर भाग लेने में सक्षम होता है तो इसे सम्पूर्ण विकेन्द्रीकरण कहा जाता है। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के तीन मुख्य लक्षण – स्थानीय स्वायत्ता, शक्तियों का निचले स्तर पर हस्तान्तरण एवं राजनीतिक सहभागिता है।

स्थानीय स्वायत्ता का विचार इस पर आधारित है कि स्थानीय समुदाय बेहतर तरीके से यह जानता है कि उसका हित क्या है तथा उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। अतः उन्हें निर्णय लेने के लिए सक्षम बनाया जाये तथा उच्च सत्ताओं पर न्यूनतम निर्भर रहते हुए अपने स्तर पर पहल कर सके। स्थानीय समुदाय द्वारा स्थानीय स्वायत्ता की प्राप्ति के सूत्र स्वनिर्भरता एवं आत्मविश्वास है। निचले स्तर पर कार्यों के हस्तान्तरण के द्वारा ही प्रारम्भिक रूप से स्थानीय स्वायत्ता सम्भव है। निचले स्तर पर कार्यों के हस्तान्तरण का सामान्य अर्थ सरकार की शक्तियों, कार्यों, संसाधनों को स्थानीय सत्ताओं को हस्तान्तरित करना है।

8.5 पंचायती राज व्यवस्था एवं विकेन्द्रीकृत नियोजन प्रक्रिया

भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को पंचायती राज के माध्यम से जाना जा सकता है। पंचायती राज व्यवस्था का इतिहास एवं 73वें संविधान संशोधन के उपरान्त देश में इसका संवैधानिक ढांचा एवं उसके अनुलक्षण विकेन्द्रीकृत नियोजन से उसके अन्तरसंबंधों को प्रकट करते हैं।

8.5.1 पंचायती राज की विकास यात्रा

ऐतिहासिक रूप से पंचायत अर्थात् 'पंच-आयत' शाब्दिक दृष्टि से गाँव वालों द्वारा चयनित पाँच व्यक्तियों का समूह था। व्यवहारतः आज यह उस प्रणाली को इंगित करता है जिसके द्वारा भारत की असंख्य ग्रामीण जनता को शासित किया जाता था तथा जो स्वशासन की मनोवृत्ति को इंगित करता करता है। संभवतः मानव समाज के उद्भव के साथ ही पंचायती राज संस्थाओं का उद्भव हुआ है। वैदिक काल में 1000 ईसा पूर्व रचे गये ऋग्वेद में 'पंच सो परमेष्वर' की मान्यतानुसार पाँच व्यक्तियों के समर्पित रूप से यज्ञ करने पर याज्ञिक कार्यों की सफलता सम्बन्धी धारणा, वैदिक कालीन 'सभा', 'समिति' एवं 'विदथ' जैसी संस्थाओं से शासन के कार्यों में निर्णय करने की परम्पराएँ स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में पंचायती राज के अस्तित्व का प्रतीक है।

प्राचीन भारत के ही मौर्य शासन काल, गुप्त कालीन भारत एवं सातवाहन राजाओं के शासन काल में शासन की सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई 'ग्राम', ग्राम जनपद के रूप में मौजूद ग्राम सभा, दक्षिण भारत में चोल प्रशासन के काल में स्थानीय प्रशासन प्रणाली की विशेषता के रूप में ग्राम व नगर परिषदें – 'नाडु' प्रतिनिधि परिषदें एवं मध्ययुगीन भारत के दिल्ली सल्तनत एवं मुगलकाल में मुकद्दम, पटवारी एवं चौधरी की मौजूदगी अदि तथ्य इस बात का प्रतीक है कि शासनिक संचालन में विकेन्द्रीकरण का तत्व सदैव विद्यमान रहा है।

स्वतन्त्रता पूर्व ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन में साम्रज्यवादी हितों को ध्यान में रखते हुए स्थानीय सस्थाओं की औपचारिक स्थापना की गयी। 1687 से 1881 के कालखण्ड में ब्रिटिश शासनकाल में स्थानीय शासन संस्थाओं के संगठन एवं कार्यप्रणाली की दृष्टि से व्यवस्थित रूप दिया गया। इस कालावधि में स्थानीय शासन सस्थाओं के निर्माण जैसे :- 1687 में मद्रास नगर निगम एवं 1726 में बम्बई व कलकत्ता नगरपालिकाओं की स्थापना, 1851 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के उपरान्त ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थानीय शासन संस्थाओं पर ध्यान देते हुए कुछ क्षेत्रों में जिला एवं तालुका फण्ड की स्थापना, 1870 में लार्ड मेयो के प्रस्ताव में पहली बार प्रशासनिक कुशलता हेतु लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को अनिवार्य मानते हुए स्थानीय शासन संस्थाओं की स्थापना को आवश्यक मानना तथा सबसे महत्वपूर्ण 1882 में भारत में स्थानीय शासन संस्थाओं की स्थापना के जनक माने जाने वाले लार्ड रिपन द्वारा पारित स्थानीय शासन संस्थाओं के प्रस्ताव को पारित कर प्रशासकीय कुशलता एवं राजनीतिक जागरूकता की इकाई के रूप में स्थानीय शासन संस्थाओं की स्थापना के लिए रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। 20 अगस्त 1917 को ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं के क्रमिक विकास द्वारा उत्तरदायी सरकार की स्थापना की घोषणा के उपरान्त 1919 में मॉण्टेस्क्यू चैम्सफोर्ड सुधारों, 1925 में विविध प्रान्तों में ग्राम पंचपायतों की स्थापना हुयी तथा 1935 में भारत सरकार अधिनियम में प्रान्तीय स्वायत्ता का प्रावधान किया गया जिसके तहत 1937 की गठित लोकप्रिय सरकारों ने स्थानीय संस्थाओं को उत्तरदायी एवं शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए जिलाधीश के माध्यम से प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दिए गये लेकिन इन सरकारों ने त्यागपत्र देने से 1939 से 1946 तक स्थानीय शासन संस्थाएं निष्क्रिय रही।

स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन काल में स्थानीय शासन संस्थाओं का संगठनात्मक ढांचा एवं आकार तो दिया गया किन्तु इसका उद्देश्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं बल्कि स्थानीय क्षेत्रों पर नियन्त्रण रख साम्राज्यवादी हितों का पोषण था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए संघर्ष के दौरान महात्मा गाँधी द्वारा आधुनिक भारत में ग्राम स्वराज्य के लिए विकेन्द्रीकरण एवं पंचायती राज की स्थापना का औचित्य हो चुका था। भारतीय गणतन्त्र के संविधान के अनुच्छेद 40, भाग चार (राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त) में यह अंकित किया गया कि राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उसको ऐसी शक्तियाँ तथा अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक है।”

संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची-2 (राज्य सूची) में भी स्थानीय अर्थात् नगर निगमों, सुधार न्यासों, जिला बोर्डों खनन बस्ती प्राधिकारियों और स्थानीय स्वशासन या ग्राम प्रशासन के प्रयोजनों के लिए अन्य स्थानीय प्राधिकारियों का गठन व शक्तियों राज्य सूची के विषयान्तर्गत आते हैं।

स्वातन्त्रयोत्तर युग में पचास के दशक में 'विकास' के लिए पंचवर्षीय योजनाओं के मार्ग का अवलम्बन किया गया। विकास कार्यक्रमों की सफलता के लिए विकेन्द्रीकृत नियोजन एवं ग्राम स्वराज्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए 2 अक्टूबर 1952 को 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' का आरम्भ किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य आर्थिक नियोजन एवं सामाजिक पुनरुद्धार की राष्ट्रीय योजनाओं के प्रति देश की राष्ट्रीय जनता में सक्रिय रुचि पैदा करना था। किन्तु यह कार्यक्रम सरकारी तन्त्र और ग्रामीण जनता के बीच की दूरी को कम करने के महत्त्वपूर्ण उद्देश्य में विफल रहा। बलवन्त राय मेहता समिति ने 1958 में दी गयी अपनी सिफारिशों में तीन सोपानों वाली स्थानीय सरकार की प्रणाली की सिफारिश की जिसे पंचायती राज का नाम दिया गया।

2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज व्यवस्था का तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू द्वारा विविधवत उद्घोष किया गया। परम्परागत स्वरूप से भिन्न पंचायती राज संस्थाओं को ग्रामीण विकास के अभियन्त्र के रूप में सम्पूर्ण देश में स्वीकारा गया। किन्तु सम्पूर्ण देश में पंचायती राज संस्थाओं की कार्यप्रणाली में एकरूपता का अभाव, नियतकालिक चुनावों के अभाव, पर्याप्त शक्तियों के न मिल पाने एवं स्वायत्ता के अभाव से ये संस्थाएं पूर्णतः सक्रिय रूप से कार्य नहीं कर पायीं।

पंचायती राज व्यवस्था में संगठनात्मक, कार्यात्मक, वित्त, प्रशासनिक, कार्मिक नियन्त्रण एवं नियोजन सम्बन्धी समस्याओं को इंगित करने वाली विविध समितियों : अशोक मेहता समिति, डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी समिति (1977), जी.वी.के. राव समिति (1985), डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी (1986), पी.के. थुंगन समिति (1989), हरलाल सिंह खर्रा समिति (1990) आदि सुधार के सुझाव दिए। फलस्वरूप 24 अप्रैल 1993 को 73वें संविधान संशोधन से पंचायती राज संस्थाओं एवं 74वें संविधान संशोधन से नगरीय स्थानीय शासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देते हुए वैधानिक मान्यता दी गयी।

8.5.2 73वें संविधान संशोधन के प्रमुख अनुलक्षण

73वें संविधान के तहत संविधान में एक नवीन अध्याय भाग 9 को अन्तःस्थापित किया गया है। इस भाग में अनुच्छेद 243क से 243ण तक है संविधान में पंचायतों से संबंधित ग्यारहवीं अनुसूची भी रखी गयी है। अधिनियम की महत्वपूर्ण विशेषतायें निम्नांकित हैं –

– पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक संस्तर प्रदान करना – 73वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को संविधान द्वारा मान्यता प्रदान कर दी गयी। अधिकांश विधान मण्डलों ने अनुपूरक विधान बना दिये हैं।

- त्रिस्तरीय प्रणाली – 73वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा तीन सोपानों में पंचायतें बनाने की परिकल्पना की है। जिला स्तर पर जिला परिषद्, खण्ड स्तर पर पंचायती समिति एवं गांव के स्तर पर ग्राम पंचायत
- ग्राम सभा की महत्ता – पंचायती राज व्यवस्था की जीवंत ऊर्जावान तथा शक्तिशाली बनाने के लिये ग्राम सभा को नवीन अधिनियम के तहत संवैधानिक दर्जा दिया गया है एवं ग्राम पंचायतों को ग्रामसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है। ग्राम सभा को – गाँव की विधान सभा के रूप में परिकल्पित किया गया है।
- प्रत्यक्ष निर्वाचन – पंचायत के सभी स्थान पंचायत क्षेत्र के निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुने गये व्यक्तियों द्वारा भरे जाने का निर्णय किया गया था। सभी पंचायतों, खण्ड स्तर व जिला परिषदों के लिये चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा होगा। इन संस्थाओं के अध्यक्षों के चुनाव निर्वाचित सदस्यों में से उन्हीं के द्वारा होगा।
- अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिये आरक्षण – अधिनियम में यह उपबन्ध है कि अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिये आरक्षण होगा। इस प्रकार आरक्षित स्थानों में से 1/3 स्थान अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों की महिलाओं के लिये आरक्षित होंगे।
- महिलाओं के लिये आरक्षण – प्रत्येक पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन से भरे जाने वाले कुल स्थानों में से 1/3 स्थान महिलाओं के लिये आरक्षित किये गया था। ग्राम अध्यक्ष पदों के लिये भी एक तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित किये गये जिसे अब बढ़ाकर वर्ष 2011 में पंचायती राज संस्थाओं में सभी सीटों पर 50 प्रतिशत महिला आरक्षण तय किया गया है।
- नियमित चुनाव – प्रत्येक पंचायत उसके प्रथम बैठक की तिथि से पाँच वर्षों की अवधि तक कार्य करेगी। विधि द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार उसे इसके पूर्व विघटित किया जा सकेगा। यदि पंचायत पहले विघटित कर दी गई तो विघटन के दिन से 6 मास के भीतर निर्वाचन हो जाने चाहिये। समयपूर्व विघटित पंचायत पुनर्गठन के पश्चात् अवशिष्ट अवधि के लिये ही होगी।
- राज्य निर्वाचन आयोग के गठन का उपबन्ध किया गया कि जिसमें एक राज्य निर्वाचन आयुक्त होगा जिसकी नियुक्ति पंचायतों के निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन व नियंत्रण उक्त राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा।
- पंचायतों की शक्तियाँ प्राधिकार व उत्तरदायित्व – 73वें संविधान संशोधन में यह इंगित किया गया है कि राज्य विधान मंडलों को यह विधायी शक्ति है कि वे पंचायतों को ऐसी शक्ति व प्राधिकार प्रदान करें जिससे वे स्वशासी संस्थाओं के रूप में कार्य कर सकें (अनुच्छेद 243छ-243ज) पंचायतों को सौंपे जा सकने वाले उत्तरदायित्वों में मुख्य हैं –

(क) आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनायें तैयार करना।

(ख) आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाओं का क्रियान्वयन।

(ग) 11वीं अनुसूची से सम्बन्धित विषय।

- राज्य वित्त आयोग का गठन – संविधान प्रवर्तन के दिन से एक वर्ष की अवधि में और उसके पश्चात् प्रत्येक 5 वर्ष बाद राज्य सरकार पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनरावलोकन व राज्य व पंचायतों के बीच स्रोतों के आवंटन संबंधी अनुशंसायें देने के लिये राज्य वित्त आयोग का गठन किया जाये।

8.5.3 पंचायती राज व्यवस्था एवं विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया

पंचायती राज भारतीय शासन व्यवस्था की विलक्षण व्यवस्था है। विकेन्द्रीकृत नियोजन को लागू करने के लिए पंचायती राज व्यवस्था देश में विद्यमान सर्वाधिक प्रभावशाली व्यवस्था है। भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को पंचायती राज के माध्यम से जाना जा सकता है। पंचायती राज व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण नियोजन एवं पंचायती राज के आपसी अर्न्तसम्बन्धों को रेखांकित करने के लिए पंचायती राज व्यवस्था के संक्षिप्त इतिहास, विकास यात्रा, महत्त्वपूर्ण अनुलक्षणों तथा नियोजन प्रक्रिया के लिए अपनाये गये व्यावहारिक उपायों को जानना आवश्यक है।

विकेन्द्रीकृत नियोजन की प्रक्रिया के तीन मुख्य चरण हैं :

1. क्या करना है?
2. क्यों करना है?
3. कौन करेगा?

नियोजन के ये चरण स्थानीय स्तर पर सामाजिक स्थिति, रोजगार की स्थिति या स्थानीय क्षेत्र के संसाधनों की स्थिति से संबंधित हो सकते हैं।

73वें संविधान संशोधन के पश्चात् ग्रामीण एवं 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् नगरीय क्षेत्रों में विकेन्द्रीकृत नियोजन के लिए संस्थागत प्रावधान किये गये हैं। ग्रामीण स्तर पर ग्राम स्तरीय योजना का निर्माण ग्राम सभा द्वारा किया जाता है जिसमें ग्राम सभा गाँव की विधानमण्डल की तरह कार्य करते हुए स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार नियोजन के प्रस्तावों पर चर्चा करती है। इन प्रस्तावों को खण्ड स्तर पर पंचायत समिति पर भेजने से पूर्व ग्राम पंचायत के सदस्यों द्वारा समर्थित किया जाता है।

खण्ड स्तर पर पंचायत समिति द्वारा पंचायत स्तरीय विकास योजना बनाई जाती है जिसमें नियोजन के प्रस्तावों की छंटनी एवं योजनाओं व बजट को तकनीकी अनुमति प्रदान की जाती है। जिला स्तर पर जिला परिषद् नियन्त्रण, समन्वय एवं मार्गदर्शन किया जाता है। इस प्रकार राज्य स्तर से नीचे आधार कड़ी गाँव-खण्ड स्तर पर पंचायत समिति एवं जिला स्तर पर जिला परिषद् द्वारा तालमेल से नियोजन निर्माण किया जाना निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार जिला सरकार की संकल्पना अभिकल्पित की गई है। जिला योजना के माध्यम से जिला स्तरीय योजना तैयार करके देश के विविध राज्यों में विकेन्द्रीकृत नियोजन की प्रक्रिया अपनायी जा रही है।

विकेन्द्रीकृत नियोजन के विविध आयाम कार्यात्मक, वित्तीय, प्रशासनिक एवं राजनीतिक है। आज पंचायती राज संस्थाओं के त्रिस्तरीय ढांचे जिला, खण्ड एवं ग्रामीण स्तर पर गठित पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से हम विकेन्द्रीकृत नियोजन को परिचालित कर रहे हैं।

8.6 विकेन्द्रीकरण नियोजन पर महात्मा गाँधी के विचार

महात्मा गाँधी के विकेन्द्रीकरण नियोजन संबंधी विचार उनके लेखों संभाषणों एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के अभियानों में प्रकट होते हैं। उनके राजनैतिक एवं आर्थिक विचारों में केन्द्रीकरण का विरोध एवं विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हुए ग्राम स्वराज्य की संकल्पना प्रस्तुत की गई है। विकेन्द्रीकरण नियोजन संबंधी विचारों को निम्नांकित बिन्दुओं में समेकित किया जा सकता है :-

8.6.1 ग्रामीण गणतंत्र के पक्षधर

हरिजन में लिखे अपने लेख (हरिजन 4-4-36) उन्होंने स्पष्ट किया है कि “ गाँधीजी का आदर्श राज्य है रामराज्य। इसका अर्थ षड्भूषण नहीं लेना चाहिए क्योंकि उसका मतलब राजा राम का राज्य नहीं है; इसका अर्थ है धर्म का राज्य, न्याय और प्रेम का राज्य। गाँधीजी के षड्भूषणों में उसे अहिंसक स्वराज्य कहना चाहिए अर्थात् ऐसा स्वराज्य जिसमें राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाय कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने पर नियंत्रण रखे। ‘यह एक सुसंस्कृत अराजकता की अवस्था होगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना ही शासक होगा। वह स्वयं ही अपना नियमन इस प्रकार करेगा जिससे उसके पड़ोसी के हित में बाधा न हो। इसीलिए आदर्श राज्य में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं निहित होगी क्योंकि राज्य रहेगा ही नहीं।’

ग्रामीण शोषण का विरोध करते हुए महात्मा गाँधी यंग इंडिया, (30.3.1931) स्पष्ट करते हैं कि “मैंने पाया है कि शहरवासियों ने आम तौर पर ग्रामवासियों का शोषण किया है, सच तो यह है कि ये गरीब ग्रामवासियों की ही मेहनत पर जीते हैं। भारत के निवासियों की हालत पर कई ब्रिटिश अधिकारियों ने बहुत कुछ लिखा है। जहां तक मैं जानता हूँ किसी ने भी यह नहीं कहा कि भारत ग्रामवासियों को भरपेट अन्न मिलता है। उलट, उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अधिकांश आबादी लगभग भुखमरी की हालत में रहती है, दस प्रतिशत अब भूखी

रहती है और लाखों लोग चुटकीभर नमक और मिर्चों के साथ मशीनों का पालिश किया हुआ निःसत्त्व चावल या रूखा-सूखा अनाज खाकर अपना गुजारा चलाते हैं।

शहर अपनी हिफाजत आप कर सकते हैं। हमें तो अपना ध्यान गांवों की ओर लगाना चाहिये। हमें उन्हें उनकी संकुचित दृष्टि, उनके पूर्वग्रहों और वहमों आदि से मुक्त करना है; और इसे करने का सिवा इसके और कोई तरीका नहीं है कि हम उनके साथ उनके बीच में रहें, उनके सुख-दुःख में हिस्सा लें और उनमें शिक्षा का तथा उपयोगी ज्ञान का प्रचार करें।

गाँधीजी ने ग्राम स्वराज के बारे में लिख है 'ग्राम स्वराज की मेरी कल्पना यह है कि गांव अपनी वृहत् इच्छाओं के अनुरूप, अपने आप में पूरी तरह स्वतंत्र गणराज्य हों। गांव की पंचायत कम से कम पांच व्यक्तियों द्वारा चलाई जाए जो ग्रामीण युवा, स्त्री-पुरुषों द्वारा चुने हों और न्यूनतम योग्यताओं को पूरा करते हों। ये अपने कार्यक्षेत्र में समस्त आवश्यक अधिकारों से सम्पन्न हों, वहां स्वीकृत अर्थों में दण्डित करने की कोई व्यवस्था नहीं होगी, फिर भी पंचायतें वैधानिक, कार्यकारी और न्यायिक कार्यों को एक साथ क्रियान्वित करेंगीं। कोई भी पंचायत इस तरह का गणतंत्र बन सकेगी, आज होने वाले हस्तक्षेपों से मुक्त होकर यहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आधारित पूर्ण प्रजातंत्र होगा। व्यक्ति खुद अपनी सरकार का निर्माता होगा। सच्चा स्वराज्य कुछ लोगों द्वारा शक्ति हथिया लेने से नहीं, बल्कि सब लोगों में उसकी क्षमता पा लेने पर आएगा।'

8.6.2 स्थानीय समुदाय की भागीदारी से भारत के गांवों का पुनर्निर्माण

महात्मा गाँधी ने गांवों के स्वावलम्बी ढांचे का समर्थन करते हुए स्थानीय प्रयासों से स्थानीय समस्याओं का समाधान का विकल्प रखा है। उनका कथन है कि "हमें आदर्श ग्रामवासी बनना; ऐसे ग्रामवासी नहीं उन्हें सफाई की या तो कोई समझ नहीं है या है तो बहुत विचित्र प्रकार की, और जो इस बात का कोई विचार ही नहीं करते कि वे क्या खाते हैं और कैसे खाते हैं। उनमें से ज्यादातर लोग चाहे जिस तरह अपना खाना पका लेते हैं, किसी भी तरह का खा लेते हैं और किसी भी तरह रह लेते हैं। वैसा हमें नहीं करना है।

लिओनेल कार्टिस ने हमारे गांवों का वर्णन करते हुए उन्हें 'धूरे के ढेर' कहा है। हमें उन्हें आदर्श बस्तियों में बदलना है। हमारे ग्रामवासियों को शुद्ध हवा नहीं मिलती, यद्यपि वे शुद्ध हवा से घिरे हुए हैं; उन्हें ताजा अन्न नहीं मिलता, यद्यपि उनके चारों ओर ताजे से ताजा अन्न होता है। इस अन्न के मामले में मैं मिशनरी की तरह इसीलिए बोलता हूँ कि मैं गांवों को एक सुन्दर दर्शनीय वस्तु बना देने की आकांक्षा रखता हूँ।"

हर एक देशप्रेमी के सामने आज जो काम है वह यह है कि इस नाश की क्रिया को कैसे रोका जाय या दूसरे शब्दों में भारत के गांवों का पुनर्निर्माण कैसे किया जाय, ताकि किसी के लिए भी उनमें रहना उतना ही आसान हो जाय जितना आसान वह शहरों में माना जाता है। सचमुच हर एक देश भक्त के सामने आज यही काम है। सम्भव है कि ग्रामवासियों का पुनरुद्धार अवष्य हो, और यह भी सच हो कि ग्राम-सभ्यता के दिन अब बीत गये हैं और सात लाख गांवों की जगह अब केवल सात सौ सुव्यवस्थित षहर ही रहेंगे और उनमें 30 करोड़ आदमी नहीं, केवल तीन ही करोड़ आदमी रहेंगे। अगर भारत के भाग्य में यही हो तो भी यह स्थिति एक दिन में तो नहीं आयेगी; आखिर गाँवों और ग्रामवासियों की इतनी बड़ी संख्या के मिटने में ओर जो बचे रहेंगे उनका शहरों और शहरवासियों में परिवर्तन करने में समय तो लगेगा ही।

हरिजन (19.10.1937) में लिखे अपने लेख में महात्मा गाँधी गांव और शहरों के बीच संतुलित विकास का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि "गांवों और शहरों के बीच स्वास्थ्यपूर्ण और नीतियुक्त संबंध का निर्माण तब होगा जब कि शहरों को अपने इस कर्तव्य का ज्ञान होगा कि उन्हें गांवों का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करने के बजाय गांवों से जो शक्ति और पोषण वे प्राप्त करते हैं उसका पर्याप्त बदला देना चाहिये। और यदि समाज के पुनर्निर्माण के इस महान और प्रदात कार्य में शहर के बालकों को अपना हिस्सा अदा करना है, तो जिन उद्योगों के द्वारा उन्हें अपनी शिक्षा दी जाती है। वे गांवों की जरूरतों से सीधे संबंधित होने चाहिये।"

हरिजन (16.5.36) के एक अन्य लेख में वे स्पष्ट करते हैं कि ग्रामीण समस्याओं का हल स्थानीय नियोजन में लोगों की सहभागिता से ही हो सकता है। उन्होंने लिखा है कि “हमें गांवों को अपने चंगुल में जकड़ रखने वाली जिस त्रिविध बीमारी का इलाज करना है, वह इस प्रकार है : (1) सार्वजनिक स्वच्छता की कमी, (2) पर्याप्त और पोषक आहार की कमी, (3) ग्रामवासियों की जड़ता। ... ग्रामवासी जनता अपनी उन्नति की ओर से उदासीन है। स्वच्छता के आधुनिक उपायों को न तो वे समझते हैं और न उनकी कद्र करते हैं। अपने खेतों को जोतने-बोने या जिस किस्म का परिश्रम वे करते आये हैं वैसा परिश्रम करने के सिवा अधिक कोई श्रम करने के लिए वे राजी नहीं हैं। वे कठिनाइयां वास्तविक और गम्भीर हैं। लेकिन उनसे हमें घबराने की या हतोत्साह होने की जरूरत नहीं है।

8.6.3 ग्राम-स्वराज्य से ही पूर्ण प्रजातंत्र की स्थापना

गाँधी जी ने प्रकट किया है कि “ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि यह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा; और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए— जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा— वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हर एक गांव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर लें। उसके पास इतनी सुरक्षित जमीन होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गांव के बड़ों व बच्चों के लिए मनबहलाव के साधन और खेलकूद के मैदान वगैरा का बन्दोबस्त हो सके। इसके बाद भी जमीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके; यों वह गांजा, तम्बाकू, अफीम की खेती से बचेगा।

हर एक गांव में गांव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा— वाटर वर्क्स होंगे— जिससे गांव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबों पर गांव का पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दरजे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहां तक हो सकेगा, गांव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायेंगे। जात-पांत और ऋमागत अस्पृश्यता के जैसे भेद आज हमारे समाज में पाये जाते हैं, वैसे इस ग्राम-सभा में बिलकुल नहीं रहेंगे। आज भी अगर कोई गांव चाहे तो अपने यहां इस तरह का प्रजातंत्र कायम कर सकता है। उसके इसे काम में मौजूदा सरकार भी ज्यादा दखलंदाजी नहीं करेगी। क्योंकि उसका गांव से जो भी कारगर संबंध है, वह सिर्फ मालगुजारी वसूल करने तक ही सीमित है। यहां मैंने इस बात का विचार नहीं किया है कि इस तरह के गांव का अपने पास-पड़ोस के गांव के साथ या केन्द्रीय सरकार के साथ, अगर वैसी कोई सरकार हुई, क्या संबंध रहेगा। मेरा हेतु तो ग्राम-शासन की एक रूपरेखा पेश करने का ही है। इस ग्राम शासन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधार रखने वाला संपूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही अपनी इस सरकार का निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह दोनों अहिंसा के नियम के वश होकर चलेंगे। अपने गांव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति का मुकाबला कर सकेगा। क्योंकि हर एक देहाती के जीवन का सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी ओर अपने गांव की इज्जत की रक्षा के लिए मर मिटे।”

उनके अनुसार आदर्श लोकतन्त्र सत्याग्रही ग्राम्य-समाजों का एक संघ होगा। “अहिंसा पर आश्रित समाज में गाँवों में बसने वाले ऐसे समूह सम्मिलित होंगे जिसमें सम्मानित एवं शान्तिमय अस्तित्व के स्वेच्छापूर्ण सहयोग की शर्त होगी।” यह संघ और उसके सब विविध समूह स्वेच्छया संघटित होंगे। यह समाज एक ऐसा विकेन्द्रित समाज होगा जिसमें समता का स्वर जीवन के प्रत्येक स्तर में व्याप्त होगा। विकेन्द्रीकरण इसलिए आवश्यक है कि केन्द्रीकरण से सत्ता कुछ ही लोगों के हाथ में चली जाती है और सत्ता का दुरुपयोग होने की संभावना बढ़ जाती है। इससे व्यक्ति में पहल करने की, नवीन बातें खोजने की शक्ति तथा जो भी सर्जनात्मक शक्तियाँ उसमें होती हैं, वे दब जाती हैं। वह एक भयायंत्र का पुर्जामात्र बन कर रह जाता है, उसकी दिव्य चेतना और अन्याय का प्रतिकार करने की भावना स्फुरित नहीं होती।

8.6.4 पंचायत राज ग्रामीण भारत की बुनियाद

महात्मा गाँधी पंचायती राज को ग्रामीण भारत की बुनियाद मानते थे। इसके लिए उन्होंने पंचायती राज की अवधारणा के आधार पर गांव के उन्नति की रूपरेखा को प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि “आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिये। हर एक गांव में जम्हूरी सल्तनत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हर एक गांव को अपने पांव पर खड़ा होना होगा— अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके। यहां तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी रक्षा खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के मुकाबले में अपनी रक्षा करते हुए मर-मिटने के लायक बन जाये। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाय; या उनकी राजी-खुशी से हुई मदद न ली जाय। कल्पना यह है कि सब लोग आजाद होंगे और सब एक-दूसरे पर अपना असर डाल सकेंगे। जिस समाज का हर एक आदमी यह जानता है कि उसे क्या चाहिये और इससे भी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती है वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिये, वह समाज जरूर ही बहुत ऊंचे दर्जे की सभ्यता वाला होना चाहिये। ऐसे समाज की रचना सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है।

ऐसा समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एकके ढंग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक ही शकल में होगा। जिन्दगी मीनार की शकल में नहीं होगी, जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहां तो समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शकल में होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा।

हरिजनसेवक, 2.8.42 में वे प्रकट करते हैं कि गांव का शासन किस प्रकार संचालित होगा” “सत्याग्रह और असहयोग के शास्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन—बल होगी। गांव की रक्षा के लिए ग्राम-सैनिकों का एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाजिमी तौर पर बारी-बारी से गांव के चौकी-पहरे का काम करना होगा। इसके लिए गांव में ऐसे लोगों का रजिस्टर रखा जायेगा। गांव का शासन चलाने के लिए हर साल गांव के पांच आदमियों का चयन चनी जायेगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यतावाले गांव के बालिग स्त्री-पुरुषों को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूंकि इस ग्राम-स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दंड का कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारासभा, न्यायसभा और कार्यकारिणी सभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी।”

हरिजन (1.7.47) में लिखे अपने लेख में वे स्पष्ट करते हैं कि पंचायती राज की स्थापना के बाद अनेक समस्याओं का समाधान हो जायेगा। उनकी मान्यता है कि जब पंचायत राज स्थापित हो जायेगा तब लोकतंत्र ऐसे भी अनेक काम कर दिखायेगा, जो हिंसा कभी नहीं कर सकती। जमींदारों, पूंजीपतियों और राजाओं की मौजूदा सत्ता तभी तक चल सकती है, जब तक कि सामान्य जनता को अपनी शक्ति का भान नहीं होता। अगर लोग जमींदारी और पूंजीवाद की बुराई से सहयोग करना बन्द कर दे, तो वह पोषण के अभाव में खुद ही मर जायेगी। पंचायतराज में केवल पंचायत की आज्ञा मानी जायेगी और पंचायत अपने बनाये हुए कानून के द्वारा ही अपना कार्य करेगी।

8.6.5 औद्योगीकरण का विरोध एवं लघु उद्योगों का समर्थन

गाँधीजी के द्वारा औद्योगीकरण का विरोध करते हुए कुटीर उद्योग—धन्धों पर आधारित एक ऐसी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का प्रतिपादन किया गया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गांव एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करेगा। वे खादी को भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का अमोघ हल मानते थे और उनके द्वारा आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी के विचार का प्रतिपादन किया गया। उन्होंने लिखा है कि “आज संसार में दो प्रकार की विचारधारा

में प्रचलित हैं। एक विचारधारा जगत को शहर में बांटना चाहती है और दूसरी उसे गांवों में बांटना चाहती है। गांवों की सभ्यता और शहरों की सभ्यता दोनों एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। शहरों की सभ्यता यंत्रों पर और उद्योगीकरण पर निर्भर करती है; और गांवों की सभ्यता हाथ-उद्योगों पर निर्भर करती है। हमने दूसरी सभ्यता को पसन्द किया है।" विकेन्द्रीकरण की नीति की सफलता के लिए ग्रामों में ही लघु उद्योग-धन्धों का संगठन होना चाहिए। ये उद्योग-धन्धे मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होंगे। क्या है मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएं? भोजन, वस्तु, निवास तथा इनको उपलब्ध करने के लिए काम। इनके साथ व्यक्ति की मौलिक सद्वृत्तियों के विकास के लिए प्रेरणायुक्त परिवेश। गाँधीजी इन सब आवश्यकताओं के प्रति बहुत सजग हैं। उनके विचार से प्रत्येक मनुष्य के लिए इनकी पूर्ति होनी ही चाहिए। अन्न ग्रामों में पैदा होता है। भारत की अधिकांश जनसंख्या खेती-किसानी करती है। उसके भोजन के साधन वहीं उपलब्ध हैं, टूटे-फूटे निवास भी वहीं हैं। अब यदि कपड़े और जीविका की समस्या भी वहीं आस-पास हल हो जाय तो जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के विषय में हमारे ग्राम, दूसरे शब्दों में इस देश की तीन-चौथाई जनता, आत्मनिर्भर हो सकती है। इसीलिए गाँधीजी ने प्रत्येक परिवार को स्वयं कातने का कार्यक्रम बताया था। यदि यह कार्यक्रम प्रचारित हो तो प्रत्येक गाँव में या दो तीन गाँव के बीच एक जुलाहा-परिवार आजीविका प्राप्त कर सकता है; चर्खे या तकली के लिए कई बढ़ई परिवारों को काम मिल सकता है। साथ ही रंगरेज, धोबी, चमार आदि आजीविका पा सकते हैं। इस तरह न केवल कपड़े के मामले में गाँव आत्मनिर्भर हो सकते हैं, बल्कि अपने ही परिवार और गाँव के निकट जीविकोपार्जन का साधन मिल जाने से श्रमिक की मानसिक शान्ति बनी रहती है। इन गाँवों के निकट जीवन की आवश्यक वस्तुओं को पैदा करने वाले अनेक छोटे-छोटे गृह-उद्योग चलाये जा सकते हैं। आर्थिक व्यवस्था के संबंध में अपनाए गए इसी नैतिक दृष्टिकोण के कारण गाँधीजी के द्वारा औद्योगिक क्रान्ति और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का विरोध किया गया है।

गाँधीजी का मानना था कि अगर गाँव नष्ट हो जायेंगे, तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जायेगा। गाँवों का शोषण खुद एक संगठित हिंसा है। वे कहते थे कि अगर हमें स्वराज्य की रचना अहिंसा के आधार पर करनी है, तो गाँवों को उनका उचित स्थान देना ही होगा। उन्होंने कहा कि उनका उद्देश्य तो ग्राम-शासन की एक रूपरेखा पेश करने का ही है। उनके अनुसार "इस ग्राम-शासन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधार रखने वाला संपूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही अपनी इस सरकार का निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह दोनों अहिंसा के नियम के वश होकर चलेंगे। अपने गाँव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति का मुकाबला कर सकेगा। क्योंकि हर एक देहाती के जीवन का सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गाँव की इज्जत की रक्षा के लिए मर मिटे।"

8.6.6 शक्ति का केन्द्रीकरण खतरनाक है

महात्मा गाँधी की मान्यता थी कि "केन्द्रीकरण से हिंसा आती है और हिंसा से शोषण को बल मिलता है। इसलिए शोषण और अन्याय से मुक्त के लिए केवल अहिंसक आचरण का सामाजिक गठन करना पड़ता है।" इस दृष्टि से वे यह मानते थे कि जिस राज्य में शक्ति का जितना ही अधिक केन्द्रीकरण होगा, उसमें व्यक्ति या नागरिक के विकास की अवस्था उतनी ही अधिक अवरुद्ध होगी। लोकतन्त्र राजतन्त्र से एक कदम आगे तो है, क्योंकि उसमें व्यक्ति के विकास और स्वतन्त्र आचरण को एक सीमा तक छूट है किन्तु कुछ दूर तक जाकर उसका मार्ग भी ठप हो जाता है और उसे भी शासन के ही मुख्यांग (सेना, पुलिस, कानून, अदालत-मतलब बलात् आदेश मनवाने के अस्त्र या साधन) ग्रहण करने पड़ते हैं, जो अन्य-शासन प्रणालियों की शक्ति प्रदान करते हैं। तत्त्वतः लोकतन्त्र और हिंसा परस्पर विरोधी हैं। जब तक हिंसा है, सच्चा लोकतन्त्र स्थापित नहीं हो सकता।

केन्द्रीकरण न होने पाये, इसके लिए वह पहले तो व्यक्ति और समाज के जीवन में आज धन का जो परिवर्धित महत्त्व है, उसे कम करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने सर्वोदय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनकी मान्यता थी कि लोकशक्ति कुछ लोगों अथवा दलों के हाथ में जाकर बाँझ हो जाती है। लोकतन्त्र की सबसे बड़ी बुराई तो यह है कि उसमें शासन देश या समग्र जनता के नाम पर किया जाता है, किन्तु सत्ता किसी

दल-विशेष के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। स्पष्ट है कि व्यक्ति, समुदाय एवं राज्य किसी भी स्तर पर केन्द्रीकरण के पक्ष में नहीं थे।

8.6.7 सीमित कार्य करने वाला आदर्श राज्य

इसका मतलब यह है कि गाँधीजी की दृष्टि से वही राज्य अच्छा है जो कम से कम शासन करता है, और वह राज्य आदर्श है जो शासन करता ही नहीं, जिसमें सम्पूर्ण इकाइयाँ स्वयं ही अपना शासन कर लेती हैं। अधिक से अधिक शासन का कार्य उन आत्म-नियन्त्रित इकाइयों के संयोजन का है— “सूत्रे मणिगणा इव।” जैसे धागे में मनके पिरये होते हैं वैसे ही राज्य में आत्मनियन्त्रित व्यक्ति संघटित हो जाते हैं। यह आदर्श समाज एक प्रकार का स्वतन्त्र परन्तु आत्मनियन्त्रित व्यक्तियों का समुदाय होगा। ‘ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं होगा और वह अपना शासन इस प्रकार करेगा कि अपने पड़ोसी के लिए कभी बाघारूप न होगा। इसलिए आदर्श राज्य में कोई राजनैतिक सत्ता न होगी क्योंकि उसमें कोई राज्य होगा ही नहीं।’

इसलिए गाँधीजी के स्वराज्य का आदर्श ऐसा नैतिक राज्य है जिसका प्रत्येक नागरिक उच्च नैतिक स्तर तक विकसित हो चुका है और उसका स्वयं ही अपने लोभ, स्वार्थ या आकांक्षाओं पर इतना नियन्त्रण है कि किसी भी पड़ोसी या सह-नागरिक के हित को उससे हानि पहुँचाने का खतरा नहीं है।

सारतः गाँधीवादी विकेन्द्रीकृत नियोजन से संबंधित विचार एक ओर नैतिक प्रेरणाओं और दूसरी ओर स्वावलम्बी ग्राम स्वराज के ढाँचे के विकास पर निर्भर करता है। गाँधीजी के विकेन्द्रीकरण नियोजन संबंधी व्यवहार अव्यवहारिक नहीं है बल्कि उकने जीवन अनुभव के यथार्थ से प्रेरित हैं। गाँधीजी ने स्वप्न देखे अवश्य, किन्तु स्वप्न को व्यवहार के धरातल पर ले आने का आग्रह उनमें बहुत अधिक था। उनके जैसे व्यवहारवादी संसार में कम ही हुए हैं। किसी भी सिद्धान्त को जब तक वह जीवन में उतार नहीं लेते, तब तक उसका उपदेश दूसरों को करते नहीं थे। उनका सम्पूर्ण जीवन ही एक प्रयोगशाला की भाँति था।

भारत गाँवों का देश है। इसीलिए गाँवों की समृद्धि पर ही भारत की वास्तविक समृद्धि निर्भर है। महात्मा गाँधी का यह विचार आज स्वतंत्रता के छ दशक के उपरान्त भी एक सच्चाई है। गाँधीवादी विकेन्द्रीकृत नियोजन संबंधी विचार व्यक्ति एवं समाज के बीच, तथा समाज के विविध वर्गों के बीच समन्वय, सहयोग, एकीकरण एवं हित-साम्य की स्थापना करती है।

महात्मा गाँधी के राजनीतिक विचारों में स्वराज्य की कल्पना एवं राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रकट विचारों के अर्न्तनिहित विकेन्द्रीकरण की प्रासंगिकता को प्रकट करते हैं बल्कि व्यक्ति व समष्टि के समन्वय, विकेन्द्रित अर्थप्रणाली की पक्षधरता, मांग व पूर्ति के नियम को नहीं मानती। यह विचारधारा प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग, महायान्त्रिक सभ्यता का विरोध श्रम के महत्त्व की स्थापना, लघु उद्योगों पर आधारित स्वावलम्बी ढाँचा और अन्ततः किसी भी प्रकार के शोषण की समाप्ति के सिद्धान्तों पर आधारित है।

8.7 सारांश

विकेन्द्रीकृत नियोजन योजना का ऐसा प्रकार है जिसमें स्थानीय संगठन एवं सस्थाएं बिना किसी केन्द्रीय संस्था के हस्तक्षेप के योजनाओं का निर्माण, कार्यान्वय एवं अपनायी जाने वाली गतिविधियों का निर्धारण एवं पर्यवेक्षण कर सके। यह स्थानीय समुदाय द्वारा विकास के लिए अपना मार्ग तय करने, निर्णय लेने के अवसर का प्रयोग है। देश की 70 प्रतिशत से अधिक ग्रामीण आबादी का नियोजन प्रक्रिया से जोड़े बिना आर्थिक विकास के कार्यक्रम योजनाएं कागजी होंगे। अतः आधार से विकास सहभागी लोकतन्त्र, समग्र विकास एवं उत्तरदायित्वपूर्ण प्रतिनिधित्व, सक्षम नेतृत्व के विकास के लिए यह आवश्यक एवं औचित्यपूर्ण है। आर्थिक नियोजन के लिए 1951 में प्रारम्भ की गयी प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही विकेन्द्रीकृत नियोजन के महत्त्व को स्वीकारा गया जिसे 1952 में प्रारम्भ किए गये सामुदायिक विकास कार्यक्रमों एवं 1959 में पंचायती राज के उद्घोष से लेकर विविध समय

पर विविध निर्णयों एवं अन्ततः 73वें संविधान संशोधन एवं 74वें के माध्यम से स्थानीय शासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देकर विकसित किया गया है।

विकेन्द्रीकृत नियोजन के विविध आयाम कार्यात्मक, वित्तीय, प्रशासनिक एवं राजनीतिक हैं। आज पंचायती राज संस्थाओं के त्रिस्तरीय ढांचे जिला, खण्ड एवं ग्रामीण स्तर पर गठित पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से हम विकेन्द्रीकृत नियोजन को परिचालित कर रहे हैं। आज देश के आर्थिक विकास हेतु निर्मित पंचवर्षीय योजना में जिला स्तरीय योजना को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। भारत देश की राजधानी नई दिल्ली या राज्यों की राजधानियां नहीं बल्कि वो लाखों गांव हैं जहां 70 प्रतिशत आबादी का निवास है तथा जहां से 28.14 लाख पंचायत प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आते हैं। महात्मा गाँधी ने दशकों पूर्व ही भारत के राष्ट्रीय के दौरान ही अपने राजनीतिक आर्थिक विचारों में ही जीवन के हर क्षेत्र में केन्द्रीकरण का विरोध एवं विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता एवं महत्त्व को अभिव्यक्त किया है।

विकेन्द्रीकरण नियोजन के संबंध में महात्मा गाँधी की दृष्टि को उनके ग्रामीण गणतंत्र की स्थापना, शक्ति के केन्द्रीकरण को हिंसक मानना, सर्वजन हिताय का समर्थन, ग्रामीण स्वराज्य की परिकल्पना, स्वावलम्बी ग्रामीण ढांचे की स्थापना हेतु लघे उद्योगों को प्रोत्साहन, औद्योगीकरण तथा पंचायती राज की स्थापना की रूपरेखा में भी देखा जा सकता है। गाँधीजी को विकेन्द्रीकृत नियोजन संबंधी विचारों से स्पष्ट होता है कि नियोजन की उनकी पद्धति समस्त मानव को साथ लेकर चलना चाहती है। यह केवल एक भौतिक पद्धति नहीं है बल्कि उसमें गहरे नीतिशास्त्रीय मुद्दे भी अन्तर्निहित हैं। संसार को भावी व्यवस्था में दो ही चीजों गांव और विश्व के अस्तित्व को स्वीकार कर वे सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार ही गांव को मानते हैं जिसके केन्द्र में विश्व सत्ता होगी।

73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् भारत में स्थानीय शासन संस्थाओं में विकेन्द्रीकृत नियोजन का ढांचा संस्थागत रूप भले ही ले पाया हो लेकिन इसे कार्यात्मक रूप में ढलने के लिए गाँधीवादी विकेन्द्रीकरण की नीति को अभाव रूप में अपनाना होगा। निःसन्देह विकेन्द्रीकरण नियोजन यान्त्रिक रूप से दूर गाँधीवादी विकेन्द्रीकरण के विचार व्यष्टि एवं समष्टि के समग्र विकास, आर्थिक समानता एवं मानवीयता एवं नीति के आधारों से जुड़ी है। आज स्वतन्त्रता के 6 दशकों के उपरान्त हम यह स्वीकार करते हैं कि विषमताओं से मुक्त उन्नत समाज और राष्ट्र के रूप में हमारी समस्याओं का समाधान विकेन्द्रीकृत नियोजन है। सात लाख से ज्यादा गांवों में शामिल किए बिना विकास के सारे प्रयास निष्फल होंगे। महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता से पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान ही भारत के बेहतर भविष्य के लिए ग्राम स्वराज्य, विकेन्द्रीकृत नियोजन, स्वावलम्बी ग्रामीण ढांचे पंचायती राज के सूत्र सुझाये थे। गाँधीवादी चिन्तन की इस दूरदर्शिता को राजनीतिक, प्रशासनिक इच्छाशक्ति से अपनाकर सुशासन, सहभागी लोकतन्त्र एवं समग्र विकास के लक्ष्यों को अर्जित कर उन्नत भारत के निर्माण के साकार कर पायेंगे। यही एक मात्र विकल्प एवं विकास का मार्ग है।

8.8 अभ्यास प्रश्न

1. विकेन्द्रीकृत नियोजन का अर्थ एवं औचित्य क्या है?
2. विकेन्द्रीकृत नियोजन के विकास के विविध चरण कौन से हैं?
3. पंचायती राज में विकेन्द्रीकृत नियोजन का विवेचन कीजिए।
4. विकेन्द्रीकृत नियोजन के विविध आयाम कौन से हैं?
5. विकेन्द्रीकृत नियोजन के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी के विचार क्या हैं?

8.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एम.के. गाँधी, हिन्द स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
2. एम.के. गाँधी, ग्राम स्वराज, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1963

3. एम.के. गाँधी, मेरे सपनों का भारत, गाँधीजी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1997
4. सिंह, रामजी गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1986
5. राय, रामाश्रय, सेल्फ एण्ड सोसाइटी : ए स्टडी इन गाँधीयन थॉट, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1985
6. चतुर्वेदी, डी.एन., गाँधी अर्थनीति, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1991
7. एन.के. बोस, 'सलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1972
8. कुमरप्पा, जे. सी. गाँधीयन इकोनोमिक थॉट, सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी, 1962
9. पीपल्स पार्टिसिपेशन इन प्लानिंग, डी. बन्धोपाध्याय, इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, वॉल्यूम-32, नम्बर 39, 1997

गाँधी एवं विचारधाराएँ

इकाई की रूपरेखा

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 महात्मा गाँधी बहु आयामी व्यक्तित्व
- 9.3 उदारवाद
 - 7.3.1 उदारवाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त
 - 7.3.2 गाँधी एवं उदारवाद
- 9.4 आदर्शवाद
 - 9.4.1 आदर्शवाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त
 - 9.4.2 गाँधी एवं आदर्शवाद
- 9.5 अराजकतावाद
 - 9.5.1 अराजकतावाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त
 - 9.5.2 गाँधी एवं अराजकतावाद
- 9.6 मार्क्सवाद
 - 9.6.1 मार्क्सवाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त
 - 9.6.2 गाँधी एवं मार्क्सवाद
- 9.7 सारांश
- 9.8 अभ्यास प्रश्न
- 9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के निम्नलिखित उद्देश्य हो सकते हैं :-

- महात्मा गाँधी के बहुआयामी व्यक्तित्व को जान सकते हैं।
- गाँधी एवं उदारवाद से समानता व असमानता को जान सकते हैं।
- गाँधी के आदर्शवाद सम्बन्धी विचार को समझना।
- गाँधी के अराजकतावाद सम्बन्धी विचारों को समझना।
- गाँधी और मार्क्सवाद में तुलना करना।
- गाँधी और विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन करना।

9.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी आधुनिक भारतीय चिन्तन में ऐसे विचारक रहे हैं जिन्हें किसी विषय विशेष या विचार विशेष या विचारधारा विशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता है। 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में यह कहा, “गाँधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है” शायद यह इसलिए कहा होगा कि “वाद में कट्टरपन, संकीर्ण और विचार विशेष तक ही सीमित हो जाता है। गाँधी के विचार पूरी तरह से खुली किताब की तरह हैं। गाँधी ने एक बार यह भी कहा कि “गाँधी मर सकता है”, “गाँधी अमर रहेगा”। इन वाक्यों के आलोक में गाँधी आज सम्पूर्ण मानव समाज के लिए प्रासंगिक है, उपयोगी है। वर्तमान में प्रचलित विभिन्न विचारधाराओं जैसे उदारवाद, आदर्शवाद, अराजकतावाद एवं मार्क्सवाद का अध्ययन करके गाँधीजी की विशालता एवं विलक्षणता को समझ सकते, जान सकते हैं।

9.2 महात्मा गाँधी बहु-आयामी व्यक्तित्व

महात्मा गाँधी बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति माने जाते हैं। उनके व्यक्तित्व को किसी सीमा में बाँधना सम्भव नहीं है। महात्मा गाँधी ऐसे मानव या महामानव थे जिन्होंने सम्पूर्ण मानव समाज का सम्पूर्ण सुख, सम्पूर्ण कल्याण का विचार दिया। गाँधी ने सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह का अपराजेय विचार मानव समाज के लिए दिया। आज सम्पूर्ण मानव समाज अनेक प्रकार की समस्याओं से सामना कर रहा है, समाज में अनेक प्रकार के संघर्ष हो रहे हैं। गाँधी ने संघर्ष निवारण की अहिंसक तकनीक दी है। समाज की आर्थिक समस्याओं का समाधान ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त देकर किया है। समाज की सामाजिक-धार्मिक समस्याओं का समाधान सामाजिक सद्भाव, साम्प्रदायिक सद्भाव तथा वर्तमान समाज की राजनीतिक समस्याओं का समाधान राज्य को अहिंसक रूप प्रदान करके, शक्तियों को कम करके तथा राजनीतिक आध्यात्मिकरण करके करने का विचार दिया। आज सम्पूर्ण मानव समाज गाँधी की ओर देख रही है और ऐसा लग रहा है कि समाज को समस्याओं- बुराईयों से मुक्त करने के लिए गाँधी आ रहे हैं। मानव समाज के लिए गाँधी पहले से अधिक उपयोगी है, प्रासंगिक है क्योंकि मानव पहले से अधिक समस्याओं से ग्रस्त है। महात्मा गाँधी निश्चित रूप से महामानव माने जा सकते हैं।

9.3 उदारवाद

उदारवाद के अंग्रेजी पर्याय ‘लिब्रलिज्म’ की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द ‘लिबरलिस’ से हुई है जिसका अर्थ है ‘स्वतंत्रता’ या ‘स्वतंत्र व्यक्ति से सम्बन्धित’। अतः उदारवाद की संकल्पना स्वतंत्रता के विचार के साथ निकट से जुड़ी हुई है।

वास्तव में यह एक व्यापक विचारधारा है। यह एक निश्चित जीवन दर्शन है जो पूर्णतः मानव प्रवृत्ति पर आधारित है। इसमें सामान्यतः वे सभी विचार सम्मिलित हैं जिन्होंने एक ओर शासन की निरंकुशता का, चाहे वह किसी राजा की हो अथवा किसी वर्ग की, मध्ययुग की सामन्तवादी शासन व्यवस्था का तथा चर्च के अधिनायकवादी विशेषधिकारों का विरोध किया और दूसरी ओर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया, लोकतंत्र और आदर्शों को स्थापित करने का पूरा प्रयास किया तथा सामाजिक हित को सर्वोपरि रखने का उपक्रम किया। ऐसी स्थिति में उदारवाद क निश्चित अर्थ प्रतिपादित करना कठिन प्रतीत होता है।

9.3.1 उदारवाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त

उदारवाद एक क्रमबद्ध और निश्चित विचारधारा नहीं है, इसका सम्बन्ध न किसी एक युग से है ओर न किसी सर्वमान्य व्यक्ति विशेष से। वह तो युग-युग तथा अनेक व्यक्तियों के दृष्टिकोणों का परिणाम है। परिस्थितियों के अनुसार यह विचारधारा परिवर्तित भी हुई है। जैसे प्रारम्भिक उदारवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता का समर्थक था, तो आधुनिक उदारवाद लोक कल्याण को अत्यधिक महत्व देता है।

उदारवाद के प्रधान सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

- (1) **सर्वजन हिताय**—उदारवाद सर्वजन हिताय की भावना से ओतप्रोत है। यह औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न स्थितियों से मानव मात्र का हित चाहकर 'सब जन सुखाय' एवं 'सब जग हिताय' की भावना को बलवती करता है। यह पूँजीवाद का शत्रु नहीं है अपितु समस्त व्यक्तियों एवं सम्पूर्ण समाज का भला चाहता है।
- (2) **व्यक्ति की स्वतंत्रता**—उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रबल पोषक है। नागरिकों को विधि के द्वारा आवश्यक स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए। यह निश्चित विधान एवं विधि की व्यवस्था चाहता है। स्वेच्छाचारी शासन का अन्त हो सके तथा व्यक्ति का विकास तीव्र गति से सम्भव हो सके।
- (3) **मानवीय विवेक में आस्था**— उदारवाद मानव के बुद्धि एवं विवेक का समर्थक है तथा भावना एवं विश्वास पर विवेक का अधिकार चाहता है। इससे ऐसा लगता है कि उदारवाद भावना पर विवेक को प्रधानता देकर स्वतंत्र चिन्तन के महत्त्व को प्रतिपादित करना चाहता है। उदारवादियों के अनुसार किसी भी निर्णय की कसौटी अन्धविश्वास या परम्परा नहीं अपितु विवेक है।
- (4) **व्यक्ति साध्य और राज्य साधन**— उदारवाद व्यक्ति की गरिमा और प्रतिष्ठा को बनाए रखना चाहता है। समाज और राज्य व्यक्ति की प्रगति और उत्थान के साधन है। इस विचारधारा के समर्थकों का कथन है कि समाज व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और सरकार समाज को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है।
- (5) **सांविधानिक शासन की स्थापना**— उदारवाद का उदय यूरोप में स्थापित निरंकुश राजतंत्रों के विरोध में हुए आन्दोलनों से हुआ है। इन विचारों ने वहाँ वैचारिक क्रान्ति ला दी, परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड व फ्रांस में क्रान्तियाँ हुईं और धीरे-धीरे अधिकांश देशों में सीमित व सांविधानिक शासन स्थापित हुए। उदारवादियों का दृढ़ मत है कि शासन की शक्ति सीमित है और वह व्यक्ति के जीवन में एक निश्चित सीमा तक ही हस्तक्षेप कर सकता है जिसके व्यक्तिगत स्वतंत्रता व सामाजिक कल्याण में सामंजस्य स्थापित हो सके।
- (6) **समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन की अवधारणा**— आधुनिक युग का उदारवाद क्रान्तिकारी उपायों के स्थान पर समाज में क्रमिक परिवर्तन करने की अवधारणा प्रस्तुत करता है। मार्क्सवाद सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए क्रान्ति के माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को ही बदल डालने की बात करता है। इसके विपरीत उदारवाद सांविधानिक उपायों से धीरे-धीरे सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में इस प्रकार परिवर्तन करने का पक्ष प्रस्तुत करता है जिससे श्रमिक वर्ग सहित सम्पूर्ण दुर्बल वर्ग का कल्याण हो सके। कार्ल पॉपर ने समाज के क्रमिक परिवर्तन की अवधारणा का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया। उसने इसके सामाजिक निर्माण या खण्डशः निर्माण के सिद्धान्त प्रतिपादन किया।
- (7) **आर्थिक स्वतंत्रता**— उदारवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का समर्थक है तथा राज्य को आवश्यक कर ही लगाने चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने इच्छानुसार व्यवसाय करने, सम्पत्ति अर्जित करने तथा खर्च करने का अधिकार होना चाहिए। राज्य को आर्थिक क्षेत्र में कम-से-कम नियंत्रण और हस्तक्षेप करना चाहिए।
- (8) **अन्धविश्वासों का विरोध**— उदारवाद व्यक्ति को प्राचीन रुढ़ियों एवं परम्पराओं का दास नहीं बनाना चाहता है। परम्पराएँ चाहे कितनी ही अच्छी हों किन्तु उनकी अन्धभक्ति का उदारवादी विरोध करते हैं। प्रगति एवं विकास के लिए यदि परम्पराओं का विरोध करना पड़े तो भी किया जाना चाहिए।

- (9) **प्राकृतिक अधिकारों की धारणा** – उदारवादी कुछ प्राकृतिक या नैसर्गिक अधिकार मानते हैं, जो जन्म लेते ही व्यक्ति को मिल तो हैं। लॉक ने जीवन, सम्पत्ति और स्वतंत्रता को नैसर्गिक अधिकार ही बतलाया था। राज्य को इनकी रक्षा करनी चाहिए।
- (10) **राजनीतिक स्वतंत्रता**— उदारवादियों के अनुसार सरकार का निर्माण एवं विघटन जनता का अधिकार है। सत्ता का अधिवास जनता में होता है तथा जनता को अपने शासक चुनने का अधिकार होना चाहिए।
- (11) **लोकतंत्र में विश्वास**— आधुनिक उदारवाद अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा लोकतंत्र को उत्कृष्ट शासन-प्रणाली मानता है। लोकतंत्र में शासकों को आसानी से बदला जा सकता है तथा लोकतंत्र जनता के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं की रक्षा करता है।
- (12) **राज्य का उचित हस्तक्षेप**— आधुनिक उदारवाद राज्य के उचित हस्तक्षेप का विरोधी नहीं है। लोककल्याण एवं सार्वजनिक हित की भावना से राज्य द्वारा पूँजीपतियों एवं शोषणकर्त्ताओं पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। राज्य द्वारा मजदूरों के हित के लिए उचित विधियों का निर्माण किया जा सकता है।
- (13) **कल्याणकारी राज्य की अवधारणा**—आधुनिक उदारवाद राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप को स्वीकार करता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण उत्पन्न श्रमिकों के शक्तिशाली वर्ग ने अपनी आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों में सुधार की जोरदार मांग प्रस्तुत की। दूसरी ओर मार्क्सवाद पूँजीवादी देशों के श्रमिकों को हिंसक क्रान्ति करने की प्रेरणा दे रहा था। इस परिस्थिति को सुलझाने के लिए 20वीं शताब्दी के विचारकों ने राज्य के कल्याणकारी स्वरूप का प्रतिपादन किया। अब उदारवाद द्वारा राज्य के सकारात्मक स्वरूप को स्वीकार कर उसके माध्यम से दुर्बल वर्ग के आर्थिक व सामाजिक कल्याण की योजना प्रस्तुत की गई। राज्य के कार्य क्षेत्र को विस्तृत बनाया गया। सांविधानिक उपायों से जनकल्याण का आदर्श निश्चित किया गया।
- (14) **धर्मनिरपेक्ष राज्य का सिद्धान्त**—उदारवाद धर्मनिरपेक्ष राज्य की संकल्पना में अगाध श्रद्धा रखता है। राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए और व्यक्ति को धार्मिक बन्धनों में नहीं जकड़ा जाना चाहिए।
- (15) **अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना**— उदारवादी विचारधारा के अनुसार विश्व के सभी राष्ट्रों की पारस्परिक सहयोग के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करना चाहिए। उदारवादियों के अनुसार सभी राष्ट्रों को उन्नति के समान अवसर मिलने चाहिए।

9.3.2 गाँधी एवं उदारवाद

व्यक्ति-व्यक्ति के बीच प्रेम बनाया जा सकता है। गाँधी के दर्शन में व्यक्ति को प्राथमिकता दी गयी है। गाँधी पूछते हैं “यदि व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है, तो समाज में शेष रह ही क्या जाता है?” गाँधी व्यक्ति को समाज का केन्द्र मानते हैं। उनके शब्दों में “अन्ततः व्यक्ति ही इकाई।” उनका विश्वास है कि राज्य और सरकार की शक्ति का केन्द्र व्यक्ति है, व्यक्ति के अभाव में यह संस्थाएँ और समुदाय शक्तिहीन है। गाँधी व्यक्ति के नैतिक बल पर जोर देते हैं, प्रत्येक विचार व्यक्ति से आरम्भ होना चाहिए। सामाजिकता पर बल देते हुए इन्होंने कहा है कि गाँधी के दर्शन में “सर्वोच्च विचार ही व्यक्ति है।” गाँधी के शब्दों में मेरे लिए व्यक्ति प्रथम है। मानव का हित सर्वोपरि होना चाहिए।

गाँधी और उदारवाद में निम्नलिखित समानताएँ दिखायी देती हैं:—

1. गाँधीवाद की तरह उदारवाद में भी ‘सब जन सुखाय’ की भावना दिखायी देती है जिसे गाँधीजी ने सर्वोदय का नाम दिया है। समाज के सभी लोग सुखी रहे, सभी का कल्याण हो।

सभी व्यक्तियों एवं समाजों का कल्याण हो।

2. गाँधी जी की तरह उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रबलता से समर्थन करता है। व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। मानवीय विवेक में पूरी तरह विश्वास करते हैं।
3. गाँधी की तरह उदारवाद भी व्यक्ति को साध्य मानता है, अन्य सभी संस्थाएँ मानव विकास के लिए साधन हो सकते हैं।
4. गाँधी की तरह नकारात्मक उदारवाद भी व्यक्ति के जीवन में राज्य का कम से कम हस्तक्षेप चाहते हैं। गाँधीजी के अनुसार कम से कम शासन करे वह राज्य अच्छा है।

इन सभी समानताओं के बावजूद कुछ असमानताएँ भी हैं। उदारवाद राज्य के कम से कम हस्तक्षेप करने के कारण समाज में दो वर्ग बन जाते हैं। वर्ग-संघर्ष आरम्भ हो जाता है। इस तरह उदारवाद समाज में शोषण का कारण बनता है।

9.4 आदर्शवाद

राजनीति दर्शन के इतिहास में सदियों से एक विवादास्पद प्रश्न यह रहा है कि राज्य सर्वोच्च है या व्यक्ति; राज्य साध्य है या व्यक्ति; राज्य लक्ष्य है अथवा व्यक्ति। प्लेटो से लेकर आज तक इस प्रश्न पर विचार मंथन होता रहा है, किन्तु कोई सर्वमान्य समाधान नहीं खोजा जा सका। परन्तु राज्य और व्यक्ति की सर्वोच्चता के इस पद में आदर्शवादी विचारधारा पूरी तरह से साथ है। उसके लिए राज्य सर्वोपरि है, राज्य साध्य है, राज्य विश्व चेतना की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद की भाँति, राज्य को केवल व्यक्ति के विकास का साधन मात्र नहीं समझता। इसकी मान्यता है कि राज्य स्वयंसिद्ध है तथा वह एक नैतिक आदर्श व्यवस्था है जिसमें रहकर ही व्यक्ति अपने विकास की कल्पना कर सकता है।

‘आदर्शवाद’ शब्द अंग्रेजी के ‘आइडियलिज्म’ शब्द का रूपान्तरण है ‘आइडियलिज्म’ शब्द ‘आइडियल’ से नहीं वरन् ‘आइडिया’ से बना है जिसका अर्थ है ‘विचार’। अतः यह विचारधारा ‘आइडियल’ पर नहीं वरन् ‘आइडिया’ अर्थात् ‘विचार’ पर आधारित है। ‘आइडियल’ शब्द का वास्तविक अर्थ होता है—विचारगत या विचार सम्बन्धी। पूर्णता विचार—जगत में ही संभव है अतः पूर्णता रखने वाली वस्तु को ‘आदर्श’ कहा जाता है। आदर्शवाद का सम्बन्ध वास्तविक दुनिया से न होकर विचारों के आन्तरिक जगत् में पायी जाने वाली पूर्णता से है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में यह विचारधारा इस दुनिया में पाये जाने वाले राज्यों की प्रकृति से सन्तुष्ट न होकर एक ऐसे आदर्श राज्य का विवेचन करती है जो पूर्ण हो और ऐसे पूर्ण राज्य का अस्तित्व विचारों की दुनिया में संभव है।

बोसांके ने आदर्शवाद को ‘आध्यात्मिक सिद्धान्त’ कहकर पुकारा है क्योंकि यह राज्य के दृश्यमन भौतिक तत्वों पर बल न देकर आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देता है। हॉबहाउस इसे ‘दार्शनिक सिद्धान्त (चैपसवेवचीपबंस जेमवतल) कहते हैं। क्योंकि यह राज्य के समग्र रूप का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन करता है। सी. ई. एम. जोड ने इसे ‘निरंकुशतावादी सिद्धान्त’ (इवसनजपेज जेमवतल विजंजम) कहा है क्योंकि यह राज्य को पूर्ण और निरंकुश अधिकार प्रदान करता है। मैकाइवर ने इसे राज्य का ‘रहस्यवादी’ (डलेजपबंस जेमवतल) कहा और गैटल ने इसे ‘नैतिक सिद्धान्त’ (म्जीपबंस जेमवतल) कहा है क्योंकि यह नैतिकता पर अत्यधिक बल देता है। संक्षेप में, आदर्शवाद का अर्थ विचारवाद है।

राजनीति में आदर्शवाद की परम्परा

आदर्शवादी परम्परा का एक लम्बा इतिहास है, आदर्शवादी विचारधारा के तत्त्व सर्वप्रथम प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में मिलते हैं जो कि राज्य को स्वाभाविक और आवश्यक मानते थे। वे राज्य को सब कुछ मानते थे। प्लेटो ने राज्य को मानव प्रकृति के अनुरूप तथा मानव मस्तिष्क से उत्पन्न

माना। जिस प्रकार मनुष्य के अन्तरंग में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ रहती हैं, जैसे— बुद्धि, उत्साह और वासना, उसी प्रकार राज्य को भी तीन वर्गों में— दार्शनिकों, योद्धाओं और उत्पादकों— में बांटा जा सकता है। अरस्तु का यह सूत्र कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' आदर्शवादी परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त बन गया। राज्य मनुष्य जीवन के विकास के लिए एक स्वाभाविक संस्था है। राज्य से पृथक् रहकर विकास करने की बात या तो देवता सोच सकते हैं अथवा पशु। मनुष्य के लिए ऐसी कल्पना करना प्रायः असंभव है। अरस्तु राज्य की उत्पत्ति मानव जीवन की आवश्यकताओं से मानता है। तत्पश्चात् वह राज्य की उपयोगिता मानव जीवन के नैतिक विकास के लिए आवश्यकता समझता है।

हीगल ने स्पष्ट किया है कि राज्य विश्वात्मा के विकास की अन्तिम यात्रा है; अतः व्यक्ति के जीवन की वास्तविकता राज्य का सदस्य होने में ही है, राज्य से पृथक् अथवा बाहर होकर उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। उसने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार बतलाया और कहा कि व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए। वह राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता है।

9.4.1 आदर्शवाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त

आदर्शवाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त तथा मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

- (1) **राज्य एक नैतिक संस्था है**—आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को एक ऐसी नैतिक संस्था मानता है जो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। राज्य में रहकर मनुष्य का पूर्ण नैतिक विकास सम्भव है। राज्य के बाहर व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। राज्य में व्यक्ति अपनी सर्वतोन्मुखी उन्नति कर सकता है। बोसांके के शब्दों में, "राज्य एक नैतिक विचार का मूर्तरूप है..... राज्य विश्वव्यापी संगठन का एक अंग न होकर समस्त नैतिक संसार का अभिभावक है।"
- (2) **राज्य प्रमुख है**— आदर्शवादियों के अनुसार, राज्य एक साधन नहीं बल्कि साध्य है। उसकी सत्ता सर्वोपरि है। राज्य का अपना व्यक्तित्व और इच्छा होती है। राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन है। राज्य नागरिकों से अपना सर्वस्व बलिदान करने की मांग कर सकता है। वेपर के शब्दों में, "राज्य स्वयं एक साध्य है। यह आत्मा की उच्चतम व्याख्या ही नहीं वरन् अन्तिम अवधारणा भी है।"
- (3) **राज्य अनिवार्य है**— आदर्शवाद राज्य को व्यक्ति लिए अनिवार्य मानता है। राज्य से पृथक् व्यक्ति का जीवन सम्भव नहीं है। राज्य के बाहर व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। अरस्तु के अनुसार राज्य के बिना व्यक्तियों को सद्जीवन प्राप्त नहीं हो सकता।
- (4) **राज्य सर्वोच्च है**— आदर्शवादी राज्य को असीम शक्ति धारण करने वाला मानव मानते थे। सभी संस्थाओं में सर्वोच्च मानते हैं। हीगल राज्य को ईश्वर का अवतार मानता है। राज्य के विरुद्ध व्यक्तियों को कोई अधिकार नहीं है। राज्य के बाहर जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं, वे भी राज्य की शक्तियों पर कोई सीमाएँ नहीं लगा सकती।
- (5) **राज्य व व्यक्ति का सावयव सम्बन्ध**— राज्य व व्यक्ति का वही सम्बन्ध है जो शरीर और उसके अंगों का है। राज्य समष्टि के अपने अवयवों से सदैव अधिक बड़ी और महत्त्वपूर्ण होती है। जिस प्रकार अवयवों की सार्थकता शरीर का अंग बने रहने में है, उसी प्रकार व्यक्ति का सारा महत्त्व और मूल्य राज्य का अंग बने रहने में है।
- (6) **राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि है**— राज्य की इच्छा सामूहिक भलाई को ध्यान में रखती है। राज्य के द्वारा व्यक्ति की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व किया जाता है। राज्य के द्वारा ही व्यक्ति की वास्तविक इच्छा और इसकी अन्तर्चेतना की अभिव्यक्ति होती है। रुसो के अनुसार,

यदि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक 'सामान्य इच्छा' का पालन नहीं करता तो राज्य को उसे बलपूर्वक स्वतंत्र करना चाहिए यानी सामान्य इच्छा मानने के लिए बाध्य करना चाहिए। आदर्शवाद के अनुसार राज्य की इच्छानुसार कार्य करना ही स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता का अर्थ राजकीय आदेशों को कर्तव्य समझते हुए उनका पालन करना है। स्वतंत्रता का उद्देश्य व्यक्ति के विकास के लिए अधिकाधिक अवसर प्रदान करना है और ये अवसर राज्य के द्वारा ही प्रदान किये जा सकते हैं।

- (7) **राज्य समाज से अलग नहीं**— आदर्शवादी यह मानते हैं कि राज्य और समाज में कोई भेद नहीं है। समाज राज्य से पृथक् कोई संस्था नहीं है या एक ही संस्था के दो नाम हो सकते हैं। समाज का अस्तित्व राज्य पर निर्भर है।

9.4.2 गाँधी एवं आदर्शवाद

महात्मा गाँधी को कुछ विचारक आदर्शवादी चिन्तक मानते हैं क्योंकि गाँधी जी के द्वारा आदर्श समाज और आदर्श राज्य (रामराज्य) का विचार दिया है। गाँधी ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जिसे लोगों ने कल्पना और आदर्श समाज माना है। जिसकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अगर ऐसा है तो वे प्रायः पलायनवादी होते हैं। परन्तु गाँधी के विचारों में ऐसा नहीं है। वे पलायनवादी नहीं हैं, वे मानव जीवन की समस्याओं से संघर्ष करते हैं। वे समाज को मिटाने की जगह समाज का शुद्धिकरण करना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि— "मैं वैसे भारत के लिए कार्य करूंगा जिसमें गरीब से गरीब यह अनुभव कर सकेगा कि यह उसका देश है। जिसके निर्माण में उसकी आवाज का मोल है, वैसे भारत जिसमें कोई उच्च और निम्न वर्ग में नहीं बांटा जायेगा। सभी जाति के लोग पूर्ण सहयोग के साथ रहेंगे, जहाँ छूत और मद्यपान का अभाव होगा और स्त्रियों पुरुषों के बराबर ही अपने अधिकारों का उपयोग करेगी। अतः न तो किसी का शोषण करना है और न शोषित होना है। इसीलिए सभी के हितों की चिन्ता करना है।

गाँधी का लक्ष्य रामराज्य की स्थापना करना था। इस रामराज्य में प्रत्येक नागरिक प्रेम, निःस्वार्थ, त्याग और कर्तव्य की भावना से प्रेरित हो। जिसमें राज्य की दमन शक्ति नहीं है। यह नागरिकों के स्वैच्छिक सदचरित्रता व नैतिकता पर आधारित है। रामराज्य की संकल्पना— सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित है। गाँधी का रामराज्य का आदर्श विचार भारत में राम के राज्य के समान राज्य की स्थापना करना है। रामराज्य में राज्य लोगों की नैतिक शक्ति और सत्ता का राज्य होगा। रामराज्य की स्थापना, सत्य, अहिंसा और नैतिकता के सिद्धान्तों की पालना करने से सम्भव हो सकती है।

गाँधीजी व्यक्ति को अच्छा मानते थे। इसलिए वे पापी की बजाय पाप से घृणा करने पर बल देते थे। वे व्यक्ति के हृदय में गहरी पैठ की हुई बुराई से मुक्त कराना संभव मानते थे। हालांकि वे मानते थे कि यह कठिन कार्य है लेकिन असंभव नहीं। उनका 'हृदय परिवर्तन' का सिद्धान्त ही उसके सत्याग्रह और ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का आधार है।

गाँधी मनुष्य को आत्मा प्रधान जीव मानते हैं जो शरीर से जुड़ा है। आत्मा द्वारा यह ईश्वर से सम्बन्धित है। "मानव के शुभ स्वरूप के समर्थन में गाँधी कहते हैं कि कोई भी मानव क्यों न हो वह हमारी श्रद्धा और प्रेम के बदले हजारों गुणा अधिक प्रेम का उपहार प्रदान करता है फिर कोई भी मानव ऐसा नहीं है जिसकी बुराई का सुधार न हो सके और इतना पूर्ण नहीं है कि वह दूसरों को खराब कहकर हत्या कर दे।" गाँधी के अनुसार, "सत्य का अनुभव केवल भौतिक साधना और नैतिक आचरण के द्वारा नहीं होता है बल्कि मानव जीवन के समस्त पहलुओं सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक इत्यादि को पवित्र बनाने से होता है। गाँधी जी के सामाजिक—आर्थिक—राजनीतिक विचारों को भी नैतिक शिक्षा के रूप में देखा गया। गाँधी चिन्तन अपने आप में समग्रतावादी है, जो आणविक आधार रूपी त्रिवर्गीय नैतिक संप्रत्ययों— 'सत्य—ईश्वर—अहिंसा' पर टिका

हुआ है। गाँधी चिंतन में धर्म व नीतिशास्त्र में अंतर को ध्यान में नहीं रखा गया है। गाँधी को एक धार्मिक व्यक्ति के रूप में देखा गया है।

मानव का अन्तिम उद्देश्य सत्य की प्राप्ति करना है। अतः प्रत्येक प्राणी के साथ तादत्म्य स्थापित कर अपनी आत्मा की पहचान करना मानव का लक्ष्य है। “प्रेम के द्वारा मानव अधिक से अधिक ईश्वरीय शक्ति को प्राप्त कर सकता है।” गाँधी मानव जीवन का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति को मानते हैं।

गाँधी के लिए सत्य की प्राप्ति ईश्वर की प्राप्ति है और ईश्वर की प्राप्ति सत्य की प्राप्ति है। गाँधी के अनुसार सत्य की खोज एक गुफा में बैठकर नहीं की जा सकती है, बल्कि कर्म से की जा सकती है।

रमणमूर्ति राजनीति में अहिंसा के उनके अध्ययन को दो भागों में विभाजित किया गया—गाँधीयन तकनीकें एवं गाँधीयन चिंतन। रमणमूर्ति का तर्क है कि—‘अहिंसा एक सामाजिक राजनीतिक संप्रत्यय के रूप में गाँधी द्वारा खोजा गया है।’ उन्होंने इसे सत्य के साथ मिलाया, अपनी नैतिक व्यवस्था की संरचना करने में जो कि उसके सम्पूर्ण दर्शन का आधार है। जिसे मार्क्सवादी भाषा में ‘आधार संरचना’ कह सकते हैं। वहीं सामाजिक—राजनीतिक—आर्थिक व्यवस्था ‘अधिसंरचना’ का निर्माण करते हैं जो कि आधार संरचना से संचालित होती है, “गाँधीजी का अहिंसा का सिद्धान्त एक तत्त्वमीमांसीय संप्रत्यय के रूप में अपनी जड़े लम्बी भारतीय परम्परा में रखता है।”

इस प्रकार गाँधी जी ने प्राचीन दार्शनिक परम्परा के नैतिक आदर्शों व निरपेक्ष प्रत्ययों को व्यापक रूप में समकालीन समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त करने का प्रयास किया। एक नैतिक आदर्शवादी के रूप में गाँधी ने सत्य एवं अहिंसा को निरपेक्ष प्रत्यय के रूप में संरचित किया लेकिन एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रूप में वह मानव व्यवहार में उनके अनुप्रयोग की सीमाओं के प्रति जागरूक भी थे और इसलिए वह सापेक्षिक सत्य एवं सापेक्षिक अहिंसा में विश्वास करते थे।

9.5 अराजकतावाद

राज्य के कार्य, शक्ति और अधिकार क्षेत्र क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में जो अनेक राजनीतिक विचारधाराएँ विद्यमान हैं, इनमें से अराजकतावाद एक है। अराजकतावाद ऐसी क्रान्तिकारी समाजवादी दर्शन है जिसकी मूल मान्यता यह है कि किसी भी प्रकार की राजनीतिक सत्ता अनावश्यक एवं अवांछनीय है। राज्य एवं उसकी संस्थाएँ मनुष्य के लिए एक अनावश्यक बुराई है, अतः अराजकतावादी दर्शन का उद्देश्य राज्य—हीन तथा वर्ग—हीन समाज की स्थापना करना है। यह उद्देश्य आधुनिक समाज का पुनर्गठन करके प्राप्त किया जा सकता है।

‘अराजकता’ शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द ‘अनार्किया’ (ἀναρχία) से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है ‘शासन का अभाव’। **डिकिन्सन** के अनुसार, “अराजकता का अर्थ व्यवस्था का अभाव नहीं, अपितु शक्ति का अभाव है। इसका अर्थ स्वतन्त्रता, मेलजोल तथा प्रेम है।” **हक्सले** के शब्दों में, “अराजकता समाज की वह व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा।” **कोकर** के अनुसार, “अराजकता का सिद्धान्त यह है कि राजनीतिक सत्ता किसी भी रूप में अनावश्यक एवं अवांछनीय है। वर्तमान अराजकतावाद में राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोध और धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता का भी समावेश है।” **जी. एड. एच. कोल** के शब्दों में, “एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में अराजकतावाद समाज के सामाजिक संगठन के उन रूपों के पूर्ण विरोध के साथ प्रारम्भ होता है जो बाध्यकारी सत्ता पर आधारित होते हैं। एक आदर्श के रूप में अराजकतावाद का अभिप्राय उस स्वतन्त्र समाज से है जिसमें से बाध्यकारी तत्वों का लोप हो चुका है।”

संक्षेप में, अराजकतावाद वह सिद्धान्त है जो राज्य की अनावश्यकता और राज्य विहीन समाज के संगठन का पक्षपाती है। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य एक अनावश्यक बुराई है। समाज का संगठन ऐच्छिक सहयोग और स्वतन्त्रता के आधार पर किया जाना चाहिए।

अराजकतावादी किसी भी सत्ता अथवा शक्ति और उसके नियन्त्रण का कठोर विरोध करते हैं। ये नियन्त्रण और सत्ता को मनुष्य की स्वतन्त्रता और उसके स्वाभाविक विकास के लिए हानिकारक समझते हैं। किसी भी प्रकार की बाह्य शक्ति मनुष्य के व्यक्तित्व को पंगु कर देती है, क्योंकि उसके द्वारा उसकी रचनात्मक शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। उनकी दृष्टि में वस्तुतः तीन ऐसी सत्ताएँ हैं जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित करती है। ये सत्ताएँ हैं— (1) राज्य, (2) चर्च तथा (3) पूँजीवादी व्यवस्था। इन तीनों सत्ताओं का अन्त करके मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाना अराजकतावादियों का मुख्य उद्देश्य है।

9.5.1 अराजकतावाद की विशेषताएँ एवं सिद्धान्त

अराजकतावाद अपनी शैशावावस्था में व्यक्तिवादी था। गॉडबिन और हाजस्कन व्यक्ति को पूर्णतः मुक्त और स्वतन्त्र करने के लिए ही अराजकतावाद का प्रतिपादन करते हैं। आगे चलकर क्रॉपोट्किन तथा बाकूनिन के हाथों में यह समाजवादी विचारधारा बन गयी। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ अराजकतावादी विकासवादी हैं, शान्तिप्रिय हैं और शान्तिपूर्ण उपायों से अराजकतावाद की कल्पना करना चाहते हैं, जैसे 'टाल्सटाय', दूसरी ओर अन्य अराजकतावादी क्रान्तिकारी हैं। वे यह मानते हैं कि अराजकतावादी समाज की स्थापना के लिए हिंसक और क्रान्तिकारी साधन अपनाने पड़ेंगे। क्रॉपोट्किन और बाकूनिन ऐसे ही साधनों का समर्थन करते हैं।

अराजकतावाद के प्रमुख सिद्धान्त तथा विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **राज्य का विरोध**— सभी अराजकतावादी विचारक राज्य को समाप्त करना चाहते हैं और उसके स्थान पर एक राज्यविहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। उनके अनुसार इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य सदा से नये विचारों व सुधारों का विरोधी रहा है। राज्य ही समस्त युद्धों के लिए उत्तरदायी है। राज्य व्यक्ति की उन्नति, सुधार और स्वतन्त्रता के मार्ग में एक बड़ी भारी बाधा है। उनके अनुसार राज्य एक बुराई है और स्वस्थ समाज की स्थापना के लिए आवश्यक है कि राज्य का अन्त किया जाए।

अराजकतावादी निम्नलिखित कारणों के आधार राज्य का विरोध करते हैं:

क्रॉपोट्किन ने इतिहास के आधार पर राज्य का इस दृष्टि से विरोध किया है कि मानव समाज के इतिहास के उषाकाल में राज्य की व्यवस्था नहीं थी। उस समय मनुष्य राज्य के बिना स्वेच्छापूर्वक संगठन बनाकर रहते थे, उस समय सामाजिक मामलों का नियन्त्रण कानून से नहीं, अपितु पारस्परिक समझौते पर आधारित रीति-रिवाजों से होता था। इसके अतिरिक्त इतिहास इस बात का भी साक्षी है जब से राज्य बना है, उसने प्रगतिशील विचारों और सुधारों का विरोध किया है। सुकरात और ईसा मसीह जैसे दार्शनिकों और धर्म-प्रवर्तकों को राज्य द्वारा प्राणदण्ड दिये गये हैं।

राज्य स्वतन्त्रता का दमन करता है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति व्यक्ति के श्रेष्ठतम विकास के लिए बहुत आवश्यक है। राज्य अथवा शासन का प्रत्येक कार्य व्यक्ति से उसकी स्वतन्त्रता छीनता है। इसलिए थोरो कहता है, "वह शासन सबसे अच्छा है जो बिलकुल शासन ही नहीं करता।"

राज्य एक अनावश्यक संस्था है और उसके कार्यों का सम्पादन उससे कहीं अधिक अच्छे रूप में ऐच्छिक समुदायों के द्वारा किया जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्यों के द्वारा राज्य के नियन्त्रण के बिना खाना, सोना, बोलना और पढ़ना, आदि कार्य ठीक प्रकार से किये जाते हैं, उसी प्रकार उनके द्वारा स्वयं या ऐच्छिक समुदायों के माध्यम से शिक्षा, स्वास्थ्य की देखभाल और उद्योग के प्रसार, आदि से सम्बन्धित कार्य अधिक अच्छे प्रकार से किये जा सकेंगे। राज्य से पूर्व भी नागरिक ये कार्य पारस्परिक सहयोग के आधार पर भली-भाँति करते थे। राज्य का प्रधान कार्य विदेशी शत्रुओं के आक्रमणों से रक्षा तथा आन्तरिक उपद्रवों का दमन करता है। राज्य स्थायी सेना रखकर विदेशी शत्रुओं से सफलतापूर्वक

रक्षा करता है।

क्रॉपोट्किन के अनुसार, राज्य ने मानव समाज में कोई अच्छा काम नहीं किया है। यह कहा जाता है कि राज्य का प्रमुख कार्य रक्षा करना है। किन्तु राज्य ने लालची पूँजीपतियों और क्रूर जमींदारों के शोषण से किसानों और मजदूरों की कोई रक्षा नहीं की है, अपितु शोषण करने वाले वर्गों को अपना संरक्षण प्रदान करते हुए उन्हें समृद्ध और धनी बनाने में सहयोग दिया। क्रॉपोट्किन के अनुसार, “राज्य जमींदार, सैनिक, नेता, न्यायाधीश, पुरोहित और पूँजीपति का एक-दूसरे के हितों को सुरक्षित बनाये रखने वाला ऐसा समाज है जिसमें ये सब जनता पर अपनी सत्ता बनाये रखने, उनका शोषण करने तथा स्वयंमेव धनी बनने के लिए एक-दूसरे का समर्थन करते हैं।”

अराजकतावादियों ने आर्थिक आधार पर भी राज्य का विरोध किया है। इस सम्बन्ध में मार्क्सवादी विचारधारा से सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि राज्य ने निजी सम्पत्ति के गर्भ से जन्म लेकर अब तक उसे ही प्रोत्साहित करने का कार्य किया है। राज्य ने सदैव ही पूँजीपतियों का पक्ष लेकर श्रमिकों के साथ अन्याय किया है। **विलियम गॉडविन** के शब्दों में, “विधि निर्माण लगभग सभी देशों में पूँजीपतियों के पक्ष में होता है। अतः आम जनता के आर्थिक हितों की रक्षा के लिए राज्य का अन्त उचित है।”

(2) **पूँजीवाद का विरोध**— अराजकतावादी पूँजीवाद के घोर विरोधी हैं। ये साम्यवादियों की भाँति श्रम को मूल्य का आधार मानते हैं जिसके लाभ को पूँजीपति हथिया लेते हैं। उनके अनुसार पूँजीवाद का आधार शोषण है, अतः राज्य और पूँजीवाद का अन्त किया जाना चाहिए।

(3) **निजी सम्पत्ति का विरोध**— अराजकतावादी निजी सम्पत्ति के कट्टर विरोधी हैं। वे समाज में निजी सम्पत्ति को रहने देना ही नहीं चाहते क्योंकि निजी सम्पत्ति समाज में वर्ग विभेद स्थापित करती है। यदि समाज में निजी सम्पत्ति न होती तो समानता की स्थिति रहती। निजी सम्पत्ति के कारण शोषक एवं शोषित वर्ग पैदा हो जाते हैं जिनका अराजकतावादी विरोध करते हैं। प्रूदों के अनुसार सब प्रकार की सम्पत्ति चोरी है। उसके मतानुसार किसी वस्तु के बनाने में जो श्रम होता है, वही उस वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है। पूँजीपति मजदूरों की पूरी मजदूरी न देकर उनके श्रम से उत्पादित वस्तुएँ बेचकर मालामाल हो जाते हैं, अतः निजी सम्पत्ति गरीबों के परिश्रम की चोरी है। इसने समाज में बड़ी आर्थिक विषमता उत्पन्न कर दी है।

(4) **लोकतन्त्र एवं प्रतिनिधि शासन का विरोध**— अराजकतावाद सभी प्रकार के शासन का विरोधी है। वह शासन की सत्ता को समाप्त करना चाहता है— चाहे निरंकुश शासन हो अथवा लोकतन्त्र। उनके अनुसार लोकतन्त्र जनता का शासन नहीं होता। अराजकतावादी प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकार में विश्वास नहीं करते। उनके मत में प्रतिनिधि सरकार नागरिकों का वास्तविक हित नहीं कर पाती। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में चुनाव केवल दिखावटी होते हैं। हर चार-पाँच वर्ष बाद नागरिकों को यह झाँकी दी जाती है कि वे शासन के निर्माता हैं, लेकिन चुनाव समाप्त हो जाने पर निर्वाचित प्रतिनिधि अपने चुनाव क्षेत्रों में मतदाताओं से सम्पर्क स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। चुनाव से पूर्व के राजनीतिक भीक्षुक चुनाव के बाद राजनीतिक स्वामी बन बैठते हैं और अपने निर्वाचकों की ओर असंगत तथा अपरिचयात्मक दृष्टि से देखते हैं। साथ ही एक प्रतिनिधि अपने क्षेत्र में रहने वाले विभिन्न व्यवसाय के हितों का प्रतिनिधित्व सफलतापूर्वक नहीं कर सकता।

अराजकतावादियों का कहना है कि प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन के कारण कुछ लोगों का पेशा राजनीति हो जाता है। पेशेवर आदमी मानव कमजोरियों से लाभ उठाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। संसद भी जनता का ठीक से प्रतिनिधित्व नहीं करती। दूसरे, चार-पाँच साल में जो प्रतिनिधि एक बार चुन लिये जाते हैं, उनकी जो अपनी राय होती है या उनकी पार्टी की जो राय होती है, उसे ही जनता के ऊपर लोकमत कहकर थोप दिया जाता है।

- (5) **धर्म का विरोध**— अराजकतावादी सभी प्रकार की सत्ता के विरोधी हैं चाहे वह सत्ता आर्थिक हो, राजनीतिक हो या धार्मिक हो। चर्च या धर्म भी अराजकतावादियों के अनुसार अविवेकपूर्ण अन्धविश्वास है। सम्पत्ति की तरह धर्म भी एक बुराई है और श्रमिकों के शोषण का समर्थक है। बाकूनिन के अनुसार चर्च भी राज्य की तरह निरंकुश है, ईश्वर भी वैसा ही अधिनायक है जैसा कि रूस का जार। दोनों से मुक्ति पाना आवश्यक है। धर्म इसलिए भी मनुष्य के लिए हानिकर है कि यह उसमें अन्धविश्वास और कपोल कल्पनाओं को पुष्ट करता है, उसके बुद्धिवाद पर अंकुश लगाता है, अतः प्रूदों ने लिखा था कि, “ईश्वर में विश्वास करना मूर्खता तथा कायरता है, ईश्वर ढोंग एवं झूठ है।”
- (6) **केन्द्रीयकरण का विरोध**— अराजकतावादी केन्द्रीयकरण के विरोधी हैं और विकेन्द्रीकरण के समर्थक हैं। वे अपने आदर्श समाज में व्यवस्था और प्रबन्ध के विकेन्द्रीकरण पर बल देते हैं। अराजकतावाद समाज को स्वतन्त्र संघों में संगठित कर संघात्मक रूप देना चाहता है।

9.5.2 गाँधी एवं अराजकतावाद

गाँधी जी मूलतः अराजकतावादी हैं :- गाँधी जी का मत है कि राज्य व राजकीय शक्ति की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि मनुष्य अपूर्ण है यदि मानव जीवन इतना पूर्ण हो जाए कि वह स्वयं संचालित हो सके तो फिर राज्य व राजकीय शक्ति को समाज की कोई आवश्यकता न रहे। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के हित साधन में बाधा न डालते हुए, स्वयं अपना शासक बन जायेगा। गाँधी जी के मतानुसार वह समाज, जिसमें राज्य व राजनीतिक शक्ति का अभाव होगा और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध सत्य व अहिंसा पर आधारित होंगे।

गाँधी अराजकतावाद की तरह राज्य विहीन, वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। वे एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना करते हैं “जिसमें कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होगी, क्योंकि उसमें कोई राज्य ही नहीं होगा।” गाँधी न तो राज्य को ईश्वर की निरपेक्ष सम्प्रभुता मानते हैं और न ही अराजकतावादियों की तरह राज्य को पूर्णतः समाप्त करना चाहते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि गाँधी अराजकतावादियों की तरह राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को भय से देखते हैं और व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देना चाहते हैं।

गाँधी राज्य की सत्ता का निम्न दो कारणों से अस्वीकार करते हैं—

1. राज्य सत्ता का प्रतिनिधित्व करता।
2. राज्य को संगठित हिंसा का प्रतिनिधित्व मानते हैं।

इस प्रकार वे राज्य को एक अनैतिक संस्था मानते हैं। राज्य की सत्ता व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक है और राज्य की शक्ति, व्यक्ति के नैतिक मूल्यों को नष्ट कर देते है। वे व्यक्ति की नैतिक शक्ति की प्रधानता स्वीकार करते हैं। वे राज्य की सार्वभौमिकता के संगठित शक्ति प्रणाली के आधार के विरुद्ध नैतिक शक्ति पर आधारित जनता की सम्प्रभुता को स्वीकार करते हैं। वे राज्य को साध्य की जगह लोक कल्याण के हित साधन मानते हैं।

गाँधी व्यक्ति का इतना विकास करना चाहते हैं कि व्यक्ति स्वयं इतना सार्वभौमिकता प्राप्त कर ले कि अपना जीवन चलाने के लिए राज्य की आवश्यकता ही नहीं रहे। गाँधी का लक्ष्य सभी व्यक्तियों का कल्याण करना है, उनका विकास करना है। यह सब अहिंसक राज्य में ही सम्भव है। गाँधी का आदर्श समाज तक पहुंचने के लिए आदर्श अहिंसक राज्य ही आवश्यक है। वे राज्य को हिंसा का संगठित रूप मानते हैं क्योंकि राज्य का जन्म ही हिंसा से हुआ मानते हैं। गाँधी कहते हैं कि “मैं राज्य की शक्ति वृद्धि को सबसे बड़े भय से देखता हूँ। क्योंकि प्रतिभासिक रूप से वह शोषण करते हुए मालूम पड़ता है, यह व्यक्तित्व को समाप्त करके मानवता का सबसे बड़ा अहित करता है। राज्य

हिंसा का केन्द्रित और संगठित रूप ही है। व्यक्ति में आत्मा होती है परन्तु चूंकि राज्य एक जड़ यन्त्र मात्र है इसीलिए उसे हिंसा से कभी नहीं छुड़ाया जा सकता है क्योंकि हिंसा से ही तो इसका जन्म होता है।”

इस सम्बन्ध में गाँधी थूरो की नीति से प्रभावित होकर कहते हैं कि वह सरकार सर्वोत्तम है जो कम से कम शासन करती है। अहिंसक राज्य में व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए अधिक सुअवसर मिलता है। इसमें आर्थिक, राजनीतिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होगा।

अराजकतावादियों के समान गाँधी राज्य की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि को आशंका की दृष्टि से देखते थे और व्यक्ति की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता में उनकी आस्था थी। परन्तु, व्यक्ति के सम्बन्ध में गाँधी का दृष्टिकोण अराजकतावादी दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न था। गाँधी व्यक्ति को मूलतः एक ऐसा सामाजिक प्राणी मानते थे जिसके सम्बन्ध राज्य के साथ न सही, समाज के साथ अविच्छिन्न और अटूट हैं। इसके विपरीत अराजकतावादी यह मानते हैं कि समाज से पृथक् व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर समाज के सम्पर्क में आता है। अराजकतावादियों की दृष्टि से व्यक्ति के अधिकार ही सब कुछ थे। उन्होंने समाज के प्रति सभी उत्तरदायित्वों से व्यक्ति के अधिक से अधिक स्वतन्त्र रहने पर जोर दिया है। टॉलस्टॉय जिससे गाँधी ने बहुत कुछ सीखा, “कल्याण की खोज में विवेक का अनुशासन” मानने में विश्वास करता था। गौडविन और टॉलस्टॉय के समान ही गाँधी का दृष्टिकोण भी मूलतः नैतिक था, परन्तु गाँधी ने राज्य की ऐसी कार्यवाही को, जो जनता के कल्याण के लिए की गयी हो, तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उसका स्वागत किया। यह मानते हुए भी कि राज्य का शासन जितना कम हो उतना अच्छा है, वह यह मानते थे कि कुछ काम ऐसे हैं जो राजनीतिक शक्ति के द्वारा ही किये जा सकते हैं।

गाँधी ने न राज्य को अस्वीकार किया, औ न राजनीति को। राजनीति से उनका तात्पर्य उन सभी कार्यवाहियों से था जो राज्य के द्वारा, अथवा राज्य के विरोध में, की गयी हों। अराजकतावादियों में, चाहे वे कट्टरपंथी रहे हों अथवा मानवतावादी, और गाँधी में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि गाँधी ने समाज के हाथों में, जन-जागृति और सत्याग्रह के रूप में, ऐसे हथियार दिये जो किसी भी राज्य को, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, नियन्त्रण में रखने की क्षमता रखते थे। अराजकतावादी प्रायः राजनीति और हिंसा में कोई भेद नहीं करते हैं। राजनीति को गाँधी की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने राजनीति को हिंसा से अलग किया और राजनीतिक कार्यवाहियों का सम्बन्ध अहिंसा के साथ जोड़ा। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अराजकतावादियों का लक्ष्य राज्य का नष्ट करना था, उसका पुनर्निर्माण नहीं, गाँधी का प्रमुख लक्ष्य, हिंसा और शोषण के आधार पर स्थापित वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को, अहिंसात्मक साधनों के द्वारा धीरे-धीरे तोड़ना और उसके स्थान पर एक ही राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना था जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के इच्छापूर्ण सहयोग पर आधारित हो और जिसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण हो।

9.6 मार्क्सवाद

मार्क्सवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसने मानव समाज को एक लम्बे समय तक प्रभावित किया और सामाजिक परिवर्तन का एक नया रास्ता दिखाया। मार्क्स का उद्देश्य राज्यविहीन, वर्गविहीन, शोषणविहीन समतावादी समाज की स्थापना करना था।

9.6.1 मार्क्सवाद की विशेषताएँ एवं प्रमुख सिद्धान्त

मार्क्सवाद की विशेषताएँ एवं प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

2. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
3. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
4. वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त
1. **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दो शब्दों से मिलकर बना है एक 'द्वन्द्व' तथा दूसरा 'भौतिक'। 'द्वन्द्व' का अभिप्राय 'वाद-विवाद' या विकास से है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति में द्वन्द्व प्रणाली द्वारा भौतिक पदार्थों के महत्त्व तथा उनके विकास को व्यक्त करने की भौतिकवादी विधि है।

मार्क्स कहता है कि तार्किक एवं श्रेष्ठ विचार, जिसकी हीगल कल्पना करता है, एक रहस्यवादी विचार है। उसे देखा नहीं जा सकता है, उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता और इस बात की जाँच नहीं की जा सकती है कि उसका मानव मस्तिष्क एवं व्यवहार पर क्या अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है? मार्क्स कहता है कि जब किसी विचार को देखा नहीं जा सकता, जिसे स्पर्श नहीं किया जा सकता, जिसकी जाँच नहीं की जा सकती है, वह काल्पनिक और रहस्यमयी विचार है वैज्ञानिक नहीं। भौतिक एवं रासायनिक शास्त्रों की भांति मार्क्स सामाजिक क्षेत्र में केवल उस जगत को वैज्ञानिक मानता है जो दिखायी देता है, जिसका स्पर्श किया जा सकता है या जिसकी जाँच की जा सकती है। मार्क्स के लिए भौतिक पदार्थ— मिट्टी, पत्थर, हड्डी, मांस आदि ही सर्वथा सत्य है, अदृश्य विचार या विश्वास नहीं। हीगल के लिए 'विश्वात्मा' रहस्यमयी होने से अगम्य है परन्तु मार्क्स के लिए पदार्थ दृश्य होने से गम्य है। मार्क्स का विश्वास है कि निरन्तर प्रयत्नों और प्रयोगों द्वारा इसे समझा जा सकता है। मार्क्स ने इन्हीं सतत नियमों और प्रयोगों के आधार पर समाजवाद को एक स्वप्न के स्थान पर मानवता का विज्ञान बना दिया। इसका प्रत्येक चक्कर वाद, प्रतिवाद और संवाद के त्रेत से मिलकर बना है; प्रत्येक कड़ी पहली कड़ी का विलोम करती है परन्तु साथ ही नयी कड़ी को जन्म देती है और उसे ऊंचा उठा देती है।

मार्क्स द्वारा वर्णित इतिहास का भौतिकवादी व्याख्या के प्रमुख पहलू निम्न हैं—

1. **उत्पादन मानव की सर्वोत्तम क्रिया—** इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का सिद्धान्त इस साधारण सत्य से आरम्भ होता है, कि मानव को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता है, शरीर ढकने के लिए कपड़ों की आवश्यकता है और रहने के लिए मकान आदि की आवश्यकता है। मानव का अस्तित्व इस सफलता पर निर्भर करता है कि प्राकृतिक साधनों से वह अपनी आवश्यकतानुकूल कितना उत्पादन कर सकता। इसलिए उत्पादन मानव की सर्वोत्तम क्रिया है।
2. **समाज हमेशा दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभक्त रहा है—** मार्क्स की धारणा है कि समाज अपने सभी सदस्यों को संतुष्ट करने अर्थात् सभी की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त उत्पादन नहीं कर पाता। निर्धन लोगों में असन्तोष होने के कारण समाज में आन्तरिक दबाव और संघर्ष सदा बना रहता है। धर्म— जो दोषपूर्ण आर्थिक प्रणाली के प्रतिबिम्ब से अधिक कुछ नहीं— का प्रभाव व्यापक रहा और उत्पादक शक्तियों अर्थात् उत्पादन शक्तियों के स्वामियों ने उसका प्रयोग सर्वदा अपने हितों की सुरक्षा के लिए किया है। इसीलिए मार्क्स धर्म को "अफीम की गोली" कहता है। यह उस रूप में अफीम नहीं है कि यह एक ऐसी दवा की खुराक है जिसे शोषक शोषित को पिला देता है, बल्कि उस समाज में जहाँ मानव की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती वहाँ 'धर्म' ही लोगों का अन्तिम सहारा है। परिणामस्वरूप समाज में हमेशा दो वर्ग विद्यमान रहे हैं। एक वह जिसके पास उत्पादन स्रोतों का स्वामित्व होने से सम्पन्न रहा और दूसरा वह जिसके पास उत्पादन के साधनों का अभाव होने से विपन्न रहा। एक शोषक बना गया दूसरा शोषित। मार्क्स कहता है कि उत्पादक वर्ग सर्वदा अपनी अधिमान्य स्थिति को बनाये रखने के लिए सभी संस्थाओं— सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, कानूनी आदि— का प्रयोग किया है।

3. **मानव इतिहास की छः अवस्थाएँ—** जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए मानव जिन अवस्थाओं से गुजरा है मार्क्स ने उन्हें निम्न छः भागों में विभक्त किया है—
- (i) **आदिम साम्यवादी अवस्था—** इसमें उत्पादन की शक्तियाँ बहुत कम थीं। इसमें भोजन प्राप्त करने का मुख्य स्रोत शिकार था। उसके साधन पत्थर, तांबे, कांसे, लोहे के बने हथियार थे। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं था, स्वामित्व सामाजिक होता था। इस अवस्था में न कोई शासक था और न कोई शासित।
 - (ii) **दास अवस्था—** इसे दास पद्धति की अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में कृषि के विकास से दास प्रथा का विकास हुआ, जिससे समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया— स्वामी और दास।
 - (iii) **सामन्तवादी अवस्था—** इसमें मध्यम वर्ग का विकास होने से मानव तीन वर्गों में विभक्त हो गया— उच्च, मध्यम और भूदास। इतिहास में यह अवस्था तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी तक रही।
 - (iv) **पूँजीवादी अवस्था—** यह अवस्था सामन्त अवस्था के पतन और पूँजीवाद के विकास से प्रारम्भ होती है। इसमें भाप, बिजली तथा अन्य तकनीकी ज्ञान में विकास होने से क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और समाज दो वर्गों में, पूँजीवादी और सर्वहारा वर्गों में विभक्त हो गया।
 - (v) **सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की अवस्था—** यह अवस्था पूँजीवाद के पतन से उदय हुई। इस अवस्था में उत्पादन के समस्त साधनों का सामाजीकरण कर दिया गया। इसमें सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद तब तक रहेगा जब तक पूँजीपतियों के अन्तिम अंकुर खत्म नहीं हो जाते। इस अवस्था में वस्तुओं का वितरण आवश्यकता के अनुकूल नहीं होगा बल्कि कार्य की क्षमता के आधार पर होगा। पूर्व के प्रबल वर्गों के अधिनायकवाद की भांति सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद भी उसी प्रकार से दमनकारी होगा। राज्य उसी वर्ग का दमनकारी यन्त्र होगा जिसका नियंत्रण उत्पादन और उत्पादन शक्तियों पर है। इसमें पूँजीपतियों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए तथा पूँजीवाद के अवशेषों को समाप्त करने के लिए सर्वहारा वर्ग राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करेगा। इसमें अल्पमत बहुमत का दमन नहीं करेगा अपितु बहुमत अल्पमत का दमन करेगा।
 - (vi) **साम्यवादी अवस्था—** इस अवस्था का प्रादुर्भाव सर्वहारा की देख-रेख में होगा। इसकी दो विशेषताएँ होंगी। एक, यह समाज वर्ग—विहीन, राज्य—विहीन समाज होगा। इसमें किसी प्रकार के वर्ग नहीं होंगे। इसमें कोई शोषक नहीं होगा और न कोई शोषित। इसमें राज्य का धीरे-धीरे लोप हो जायेगा। दूसरी, इसमें वितरण का सिद्धान्त होगा—“प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार।”
3. **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त—** मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में अतिरिक्त मूल्य का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के मुख्य पहलू निम्नलिखित हैं—

1. **मूल्य का अर्थ—** साधारण भाषा में ‘मूल्य’ के दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ है ‘किसी वस्तु का किसी एक व्यक्ति द्वारा उपयोग।’ जैसे— प्यासे व्यक्ति के लिए पानी उपयोगी वस्तु है उसके लिए इसका मूल्य है। इसका दूसरा अर्थ तब उत्पन्न होता है ‘जब किसी वस्तु को बाजार में बेचा जाता है’ अर्थात् जब कोई क्रेता किसी विक्रेता से कोई वस्तु खरीदता है। जिस मूल्य पर क्रेता विक्रेता से उस वस्तु को खरीदता है उसे उस वस्तु का विनिमय मूल्य कहते हैं।
2. **उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य में अन्तर—** मार्क्स ‘उपयोग मूल्य’ (टंसनम पद नेम) और

विनिमय मूल्य में भेद करता है। 'उपयोग मूल्य' किसी वस्तु के मानव आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में निहित होता है। यदि कोई वस्तु मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है तो उसका मानव के लिए उपयोग मूल्य है और यदि वह वस्तु मानव आवश्यकता की पूर्ति नहीं करती तो उसका मूल्य कुछ भी नहीं। विनिमय मूल्य वह अनुपात है जिसके आधार पर एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणतः यदि एक टन गेहूँ के बदले दो टन लोहा लिया जाता है तो गेहूँ के एक टन का विनिमय मूल्य लोहे के दो टन के बराबर है। जिस व्यक्ति को गेहूँ की आवश्यकता है और जिसको लोहे की आवश्यकता है उनके लिए गेहूँ और लोहा विनिमय मूल्य रखते हैं। यद्यपि दोनों वस्तुएँ मानव के लिए उपयोगी होने पर ही उनका विनिमय मूल्य सम्भव है फिर भी मार्क्स कहता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य उनकी उपयोगिता अर्थात् उपयोग मूल्य पर निर्भर नहीं करता बल्कि उनके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है। किसी भी वस्तु का विनिमय मूल्य इसलिए होता है कि उसमें मानव श्रम खर्च किया गया है या नहीं।

3. **अतिरिक्त मूल्य अर्थात् वस्तुओं के विनिमय मूल्यों और मजदूरों द्वारा प्राप्त मजदूरी में अन्तर—** मार्क्स का कथन है कि जिस प्रकार प्राचीनकाल में दास या कृषक सेवा करते थे उसी प्रकार आज श्रमजीवी अपनी सेवाएँ अर्पित करते हैं जिसके लिए उन्हें कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता और जिसके द्वारा निर्मित मूल्यों को सम्पत्ति के स्वामी हड़प लेते हैं। पूँजीपति उत्पादन के साधनों के स्वामी होते हैं जिन पर मजदूर काम कर सकते हैं। मजदूरों के पास केवल अपना श्रम ही होता है जिसे वे ऐसे दामों में बेच देते हैं जो उन्हें तथा उनके परिवार को केवल जीवित रहने के लिए ही पर्याप्त होता है। श्रमिकों द्वारा उत्पन्न वस्तु के विनिमय मूल्य और उनके द्वारा प्राप्त मजदूरी में जो अन्तर है मार्क्स उसे अतिरिक्त मूल्य कहता है। मार्क्स के शब्दों में, "अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अन्तर है जिसे यह वास्तव में पैदा करता है और वह वास्तव में पाता है।" यह वह मूल्य है जिसे पूँजीपति बिना मुआवजे के और मजदूरों के श्रम से प्राप्त करता है।

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो कि एक मजदूर एक कारखाने में आठ घण्टे काम करके एक वस्तु का उत्पादन करता है। जिसका विनिमय मूल्य 8 रु. है। परन्तु मजदूर को दिन भर की मजदूरी केवल 2 रु. मिलती है। स्पष्ट है कि मजदूर ने अपनी मजदूरी पैदा करने के लिए केवल 2 घण्टे का समय लिया। बाकी 6 घण्टे कार्य करके उसने जो 6 रु. मूल्य का उत्पादन किया उसे उसका मालिक हड़प कर गया। इसी 6 रु. के मूल्य को जिसे मजदूर ने तो उत्पन्न किया और जिसे पूँजीपति ने हड़प कर लिया मार्क्स अतिरिक्त मूल्य कहता है।

4. **वर्ग संघर्ष—** वर्ग संघर्ष मार्क्सवाद का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। मार्क्स यह मानता है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।

वर्ग संघर्ष पर मार्क्स के विचार मुख्यतः निम्न प्रकार से हैं—

1. **वर्ग संघर्ष का अर्थ—** इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का सिद्धान्त यदि सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक सिद्धान्त है तो वर्ग—संघर्ष उस परिवर्तन का आवश्यक यन्त्र है। इसे भौतिकवादी व्याख्या का आवश्यक परिणाम भी कहते हैं। वर्ग—संघर्ष यह बताने का प्रयास करता है कि इतिहास के विकास में समाज का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन कैसे हुआ ? मार्क्स का विश्वास है कि यह विकास दो विरोधी वर्गों के निरन्तर संघर्षों से हुआ है। यह संघर्ष कभी दास का स्वामी से, कभी निर्धन का धनी से और कभी शोषित का शोषक से होता रहा है। इस प्रकार के वर्गों में कोई समझौता या सहयोग नहीं हो सकता। अन्त में यह संघर्ष स्पष्टतः पूँजीपति और सर्वहारा में होता है जिसमें सर्वहारा वर्ग की विजय

अवश्यम्भावी है।

2. **संघर्ष, पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग का अर्थ— संघर्ष—** संघर्ष का अर्थ यह है कि समाज में एक वर्ग ऐसा अवश्य होता है जिसकी आवश्यकताएँ पूरी न होने से वह सर्वदा असन्तुष्ट रहता है। इस असन्तोष को वह वर्ग समय-समय पर कई रूपों में असहयोग द्वारा या हड़ताल या अन्य किसी रूप से अभिव्यक्त करता रहता है और जब असन्तोष असहनीय हो जाता है तो द्वन्द्ववाद के आधार यह संघर्ष क्रान्ति का रूप ले लेता है जिसमें शोषित वर्ग की विजय और शोषक वर्ग का पतन अवश्यम्भावी है।

(अ) **पूँजीपति—** पूँजीपति वह है जो उत्पादन के साधनों— भूमि, कल-कारखाने, कच्चे माल, कार्यशील पूँजी — का स्वामी है। यह वर्ग समाज का शक्तिशाली, ऐश्वर्य तथा विलास में डूबा हुआ वर्ग है। उत्पादन के साधनों का स्वामी होने से यह दूसरों को वैसा करने के लिए बाध्य करता है जैसा वह चाहता है। यह वर्ग नियुक्ति, उत्पादन, निवेश, कीमतों आदि के क्षेत्र में निर्णायक शक्ति रखता है। इस वर्ग का विशेष गुण यह है यह अपने लाभ को बढ़ाने के लिए श्रमिकों के श्रम, समय, उत्पादन और परिवार का शोषण करता है। यह वर्ग अतिरिक्त मूल्य को हड़प करने वाला परजीवी है। यह वर्ग सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि अपने लाभ की वृद्धि के लिए उत्पादन करता है।

(ब) **सर्वहारा वर्ग—** सर्वहारा वर्ग औद्योगिक श्रमिक वर्ग है। यह मजदूरों का वह आधुनिक वर्ग है जिसके पास उत्पादन के अपने साधन या यन्त्र नहीं और जिसे जीवित रहने के लिए अपनी श्रम शक्ति को मजबूरन बेचना पड़ता है। जिस यन्त्र पर या जिस कारखाने में श्रमजीवी कार्य करता है वह उसका नहीं। वह यन्त्र या कारखाना बुर्जुआ वर्ग में से किसी एक बुर्जुआ का है। अतः श्रमजीवी को श्रम के बाजार में अपने आपको मजबूरन फेंकना पड़ता है अर्थात् यदि श्रमजीवी तथा उसके परिवार को जीवित रहना है तो उसे अपने श्रम (या अपनी योग्यता) को बेचना पड़ेगा। यह वर्ग स्पष्टतः बुर्जुआ वर्ग की दया पर निर्भर करता है। श्रमजीवी को वह मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है जो उसे बुर्जुआ द्वारा दी जाती है। उसे अपनी मजदूरी निर्धारित करने का अधिकार नहीं। वह बुर्जुआ की इच्छा और बाजार के मूल्य पर निर्भर करती है। इस तरह श्रमजीवी अपनी पसन्द का जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। उसकी पसन्द तो बुर्जुआ की पसन्द है।

पूँजीवादी की प्रकृति या पूँजीवाद स्वयं अपनी कब्र खोदता है

वर्ग संघर्ष के आधार पर मार्क्स का यह विश्वास है कि पूँजीवाद की प्रकृति आत्मनाशी है। पूँजीवाद की लाभ की प्रवृत्ति, अतिरिक्त मूल्य को अकेले हड़प करने की उसकी अभिलाषा, पूँजी का केन्द्रीकरण (एकाधिकार पूँजी) और वित्त पूँजी, श्रमिक वर्ग की बढ़ती हुई बेरोजगारी, कम रोजगारी, गलत रोजगारी तथा इसके फलस्वरूप उसकी निर्धनता, श्रमजीवियों का शोषण, पूँजीपतियों का श्रमिकों से अन्यायपूर्ण और अत्याचारपूर्ण व्यवहार: माँग से अधिक पूर्ति, जरूरत से अधिक उत्पादन, बाजार का माल से पाटा जाना, आर्थिक संकट, विश्व के बाजारों की माँग, यातायात और संचार साधनों का विकास, श्रमिकों में वर्ग चेतना का विकास तथा उनमें सहयोग की भावना उत्पन्न होना— ये सब तत्त्व पूँजीवाद के आवश्यक परिणाम हैं और ये सब मिलकर पूँजीवाद की कब्र को तैयार करते हैं।

ऐंजिल्स ने लिखा है कि “चूँकि राज्य केवल अस्थायी सस्था है जिसका प्रयोग क्रान्ति में विरोधियों के बलपूर्वक दमन के लिए किया जाता है, इसलिये स्वतन्त्र तथा लोकप्रिय राज्य की बात करना सर्वथा हास्यप्रद होगा। जब तक सर्वहारा वर्ग को राज्य की आवश्यकता है उसे उसकी स्वतन्त्रता के हितों के लिए नहीं, वरन् विरोधियों का दमन करने के लिए है और जब स्वतन्त्रता की बात करना सम्भव हो जाता है तब राज्य का अस्तित्व नहीं रह जाता।”

साम्यवाद का प्रादुर्भाव सर्वहारा की देख-रेख में होगा। मार्क्स ने साम्यवादी व्यवस्था की विस्तृत व्याख्या नहीं की। फिर भी इसकी दो मुख्य विशेषतायें होंगी; एक, यह वर्गविहीन, राज्यविहीन सामाजिक व्यवस्था होगी; इसमें किसी प्रकार के वर्ग नहीं होंगे; इसमें न कोई शोषक होगा न कोई शोषित; इसमें राज्य का धीरे-धीरे लोप हो जायेगा। जब वर्ग नहीं रहेंगे तो राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। दूसरी, इस समाज में वितरण का सिद्धान्त “प्रत्येक से उसकी योग्यतानुकूल और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुकूल” पर आधारित होगा।

9.6.2 गाँधी और मार्क्सवाद

कुछ विचारक गाँधी को मार्क्सवादी मानते हैं क्योंकि गाँधी मार्क्स की तरह, वर्ग विरोध, वर्ग विहीन, शोषण विहीन एक समता मूलक समाज की स्थापना करना चाहते हैं। दोनों के साध्य समान हैं, साधन अलग-अलग हैं।

मार्क्स के समान गाँधी सामाजिक क्रान्ति में विश्वास करते थे और दोनों के विचारों में हमें द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त दिखायी देता है। परन्तु मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद और गाँधीवादी द्वन्द्ववाद में एक मूल अन्तर है। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद घटनाओं के एक ऐतिहासिक क्रम से सम्बन्ध रखता है और मानव से अपेक्षा करता है कि वह उसके अनुसार अपने आपको ढाल ले, गाँधी का द्वन्द्ववाद, इतिहास के विकास के पूर्व निर्धारित नियमों से नहीं व्यक्ति के स्वयं अपने द्वारा निर्धारित कार्यों से सम्बन्ध रखता है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में कार्यान्वित करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि “आदर्श और यथार्थ के बीच चलने वाली क्रियाओं- प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप एक नयी स्थिति का जन्म होता है जिनमें से उन साधनों की उत्पत्ति होती है जिनमें उस स्थिति को बदल डालने का सामर्थ्य है।” मार्क्स ने इसे वर्ग संघर्ष का नाम दिया। गाँधी मार्क्स की इस बात से सहमत नहीं थे कि व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले कार्य इतिहास के द्वारा पहले से निर्धारित कर दिये गये थे, अथवा केवल वर्ग-संघर्ष के रूप में ही उनकी अभिव्यक्ति सम्भव थी, अथवा हिंसा के द्वारा उनका समाधान किया जा सकता था। गाँधी ने अपने द्वन्द्ववाद के द्वारा एक ऐसी प्रक्रिया या तकनीक, का आविष्कार किया जिसका प्रयोग इतिहास के किसी एक युग-विशेष में नहीं परन्तु मानव संघर्ष की किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है और जो एक ऐसी प्रक्रिया है जो मूलतः सृजनात्मक और रचनात्मक है।

मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के समान गाँधीवादी द्वन्द्ववाद भी ‘अस्वीकृति की अस्वीकृति’ (a negation of a negation) के सिद्धान्त पर आधारित है, यद्यपि गाँधी ने इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। 1920-22 के असहयोग आन्दोलन में जब गाँधी ने लोगों से विदेशी कपड़ों का परित्याग करने और उन्हें जला देने को कहा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसे एक नकारात्मक कार्यवाही बताया, तो गाँधी ने उसका उत्तर यह कहकर दिया कि भारत में अंग्रेजी राज्य स्वयं इस देश के लोगों की व्यापक अस्वीकृति पर आधारित था, और इस नकारात्मक सम्बन्ध के स्थान पर जब तक दोनों देशों में स्वेच्छा के सम्बन्ध स्थापित नहीं होंगे, भारत सच्ची स्वतन्त्रता अथवा समानता को प्राप्त नहीं कर सकेगा। उनका कहना था कि सत्य की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए असत्य को अस्वीकार करना आवश्यक होता है।

मार्क्स और गाँधी के विचारों में मतभेद का मूल कारण उद्देश्यों को लेकर नहीं बल्कि उन्हें प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में था।

9.7 सारांश

महात्मा गाँधी आधुनिक मानव समाज के युग निर्माता, समाज सुधारक, राजनीतिक व दार्शनिक विचारक रहे हैं। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से गाँधी के उदारवाद सम्बन्धी विचार आदर्शवाद

सम्बन्धी विचार, अराजकतावाद सम्बन्धी विचार एवं मार्क्सवाद सम्बन्धी विचारों को समझ सकते हैं। गाँधी और अन्य विभिन्न विचारधाराएँ सभी मानव के लिए हैं। मानव का स्वतंत्र और स्वस्थ विकास करना चाहती हैं। मानव का कल्याण करना चाहती हैं। मानव को शोषण, दासता व कष्टों से मुक्ति दिलाना चाहती हैं। गाँधी जी के विचार सम्पूर्ण मानव समाज के लिए पहले से ज्यादा उपयोगी हैं। गाँधी आज मानव समाज के मुक्तिदाता के रूप में जाने जाते हैं।

9.8 अभ्यास प्रश्न

1. महात्मा गाँधी के बहु-आयामी व्यक्तित्व की विलक्षणता का परीक्षण कीजिए।
2. गाँधी और उदारवाद को समझाइए।
3. गाँधी और आदर्शवाद की तुलना कीजिए।
4. गाँधी और अराजकतावाद की समानताओं और असमानताओं पर प्रकाश डालिए।
5. “गाँधी और मार्क्स एक मानव की दो माताएँ हैं” स्पष्ट कीजिए।
6. “गाँधी के विचारों में विभिन्न विचारधाराओं के दर्शन होते हैं।” परीक्षण कीजिए।

9.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. नम्बूदिरिपाद, ई. एम. एस. दी महात्मा एण्ड दी इस्म, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1958
2. गोपीनाथ धवन : दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1990
3. अय्यर, राघवन, द मोरल एण्ड पोलिटीकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1973
4. एन.के. बोस, 'सलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1972
5. सिंह, रामजी गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1986
6. जॉन वी. बोन्दुरा, 'कॉन्वेस्ट ऑफ वायलेंस : द गाँधीयन फिलॉसॉफी ऑफ कान्पिलक्ट, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूजर्सी, 1958
9. दण्डवते, मधु, मार्क्स एण्ड गाँधी, पोपुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1967

गाँधी और भारतीय संविधान

इकाई रूपरेखा

- 10.0 उद्देश्य
- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 गाँधी और संविधान
 - 10.2.1 अहिंसा
 - 10.2.2 ग्राम-स्वराज्य
 - 10.2.3 विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था
 - 10.2.4 धर्मानिपेक्ष राज्य
 - 10.2.5 मताधिकार एवं चुनाव
 - 10.2.6 राष्ट्रभाषा एवं लिपि
 - 10.2.7 खादी और ग्रामोद्योग
 - 10.2.8 नई तालीम
 - 10.2.9 अस्पृश्यता निवारण
- 10.3 गाँधी और भारतीय संविधान
- 10.4 सारांश
- 10.5 अभ्यास प्रश्न
- 10.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :-

- गाँधीजी के संवैधानिक व्यवस्था से सम्बन्धित विचारों से अवगत हो सकेंगे।
- गाँधीजी की आदर्श राजनीतिक व्यवस्था के रूप में ग्राम-स्वराज्य की अवधारणा से परिचित हो पायेंगे।
- मताधिकार, निर्वाचन, अल्पसंख्यकों के अधिकार, दुर्बल वर्गों के हित इत्यादि पर गाँधीय
- भारतीय संविधान में गाँधीवादी सिद्धान्तों को किस प्रकार अभिपुष्ट किया, ये जान पायेंगे।

10.1 प्रस्तावना

भारत में पिछले 65 वर्षों से संसदात्मक लोकतन्त्रीय प्रणाली निरन्तर विकसित हो रही है। विगत कुछ दशकों से हमारे संविधान निर्माताओं द्वारा संस्थापित संसदात्मक शासन प्रणाली के समक्ष अनेक बाधाएं एवं चुनौतियाँ उभरी हैं। इससे यह प्रश्न उभर कर सामने आता है कि क्या स्वतन्त्रता के समय हमारे संविधान निर्माताओं के पास लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का अन्य 3 विकल्प उपलब्ध नहीं था, जिसे वो ग्रहण कर सकते थे? ग्रेनविल ऑस्टिन ने अपनी पुस्तक “Cornerstone of a Nation” में उल्लेखित किया है कि उस समय अन्य विकल्प भी था: देश की जरूरतों को पूरा करने हेतु सक्षम स्वदेशी संस्थानों की खोज करना। इसका लगभग अर्थ है कि गांवों को संविधान का आधार बनाया जाना तथा एक विकेन्द्रिक एवं प्रत्यक्ष प्रकार की शासन प्रणाली स्थापित करना। गाँधीजी ने भारतीय संविधान हेतु 1964 व 1948 में दो योजनाएँ प्रस्तुत कीं। जिसमें दूसरी योजना में उन्होंने कांग्रेस को संसदीय शासन प्रणाली के प्रचार वाहक के रूप में प्रतिबन्धित करने तथा पंचायतों के देशव्यापी नेटवर्क के आधार पर सामाजिक सेवा के यंत्र के रूप में विकसित करने पर बल दिया। किन्तु उनकी दोनों योजनाएँ अस्वीकृत कर दी गईं। नानीजतन हमारी सरकार के वर्तमान स्वरूप में निम्नांकित समस्याएँ प्रतीत होती हैं।

1. नीतियाँ उन लोगों के द्वारा बनायी जाती हैं जिनका सम्पर्क नीतियों से प्रभावित व्यक्तियों से ना के बराबर होता है।
2. नीतियों व कार्यक्रमों का वित्तीय प्रबन्धन उन नौकरशाहों के द्वारा किया जाता है जो उनकी लाभदायकता व सफलता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते हैं।
3. ये नीतियाँ अप्रभावी नियमन, कमजोर क्रियान्वयन और संसाधनों के अकुशल आवंटन से ग्रस्त होती हैं। गाँधीजी ने इन सभी समस्याओं का समाधान स्वयंशासित ग्राम्य शासन में देखा। तथापि गाँधीजी के विचारों और सिद्धान्तों को भारतीय संविधान में प्रमुख स्थान दिया गया विशेषकर राज्य के नीति – निदेशक तत्वों में।

10.2 गाँधी और संविधान

गाँधीजी के अनुसार संविधान का सर्वोत्तम स्वरूप वह है जिसमें राज्य के सबसे कमजोर व्यक्ति को भी सर्वाधिक मजबूत बनने का अवसर प्राप्त हो। उन्नति का यह उत्कृष्ट अवसर लोकतन्त्र में ही संभव है जो कि अहिंसात्मक, विकेन्द्रीकरण, ग्राम-स्वराज्य जैसे नियमों व सिद्धान्तों द्वारा संचालित होता है।

गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित लोकतान्त्रिक संवैधानिक लक्षण निम्नानुसार हैं—

10.2.1 अहिंसा

गाँधीजी के अनुसार लोकतन्त्र केवल अहिंसात्मक राज्य में ही संभव है। लोकतन्त्र आर्थिक समानता व स्वतन्त्रता पर निर्भर है और आर्थिक स्वतन्त्रता बिना लोकतन्त्र के संभव नहीं है। गाँधी कहते हैं कि पूंजीवादी समाज में व्यक्तिगत शोषण होता है जो कि अनेक प्रकार की हिंसा का कारण है। उनका मानना है कि यदि नव-स्वतन्त्र देश अहिंसा नहीं अपनाते हैं तो संवैधानिक लोकतन्त्र उनकी पहुँच से दूर हो जायेगा।

गाँधीजी कहते हैं कि स्वतन्त्रता व आर्थिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने का एक रास्ता समाजवाद भी है। परन्तु यह भी सर्वहारा का अधिनायकवाद है जो कि वर्ग पर हिंसात्मक नियंत्रण है। यह तो बीमारी से भी भयानक उपचार होगा। सर्वाधिकारवादी राज्य अधिनायकतन्त्र का आधुनिक पर्याय है। यहाँ तक कि इसमें अधिनायकतन्त्र की स्वतन्त्रता व लोकतन्त्र को भी सीमित कर दिया जाता है।

गाँधीजी के अनुसार सच्चा लोकतन्त्र या जनसाधारण का स्वराज्य असत्य और हिंसापूर्ण उपायों से कभी नहीं आ सकता। इसका सीधा कारण यह है कि इनको काम में लेने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि विरोधियों का दमन या विनाश करके सास विरोध हटा दिया जाएगा। इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पनप नहीं सकती। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता विशुद्ध अहिंसा के शासन में ही पूरी तरह काम कर सकती है।

10.2.2 ग्राम स्वराज्य

गाँधीजी चाहते थे कि भारत में सच्चे संवैधानिक लोकतन्त्र की स्थापना हो। इसलिए उन्होंने कहा था कि “सच्चा लोकतन्त्र केन्द्र में बैठे हुए बीस व्यक्तियों द्वारा नहीं चलाया जा सकता। उसे प्रत्येक गाँव के लोगों को नीचे से चलाना होगा। गाँधीजी ने आदर्शात्मक लोकतान्त्रिक व्यवस्था को ग्राम स्वराज्य की संज्ञा दी। ग्राम स्वराज्य में गांव सम्पूर्ण सत्ता भोगने वाला एक विकेन्द्रित राजनीतिक घटक होगा। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और आत्मनिर्भरता इस व्यवस्था के आधार होंगे। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी सरकार का निर्माता होगा। गांव का शासन चलाने के लिए प्रतिवर्ष गांव के अल्पमत निर्धारित योग्यता वाले व्यस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा पांच व्यक्तियों की एक पंचायत चुनी जाएगी जो सर्वअधिकार सम्पन्न होगी और यह कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका का कार्य संयुक्त रूप से करेगी।

गाँधी के अनुसार राष्ट्रीय राज्य के रूप में देश ऐसे स्वतन्त्रा ग्राम गणराज्यों का एक संघ होगा। उन्होंने भारत के राजनैतिक ढांचे को ग्राम –गणराज्यों के संघ के रूप में चित्रित करते हुए कहा, “भारत में सात लाख गाँव हैं। प्रत्येक गाँव को उसके निवासियों की इच्छा अनुसार संगठित किया जाएगा। ग्राम जिला प्रशासन के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करेंगे। इस चुनाव में प्रत्येक ग्राम का वोट होगा। जिले के प्रतिनिधि प्रान्तीय प्रशासन का निर्वाचन करेंगे। जो कि राष्ट्र का मुख्य कार्यकारी होगा। गाँधीजी के अनुसार इस राजनीतिक व्यवस्था में प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर की व्यवस्थापिकाएँ और कार्यपालिकाएँ केन्द्रीकृत शक्ति का प्रयोग नहीं करेगी क्योंकि वास्तविक रूप में विधायी और कार्यपालिका शक्तियाँ तो गाँव व जिला स्तर पर प्रयुक्त की जायेंगी। प्रान्तीय और राष्ट्रीय व्यवस्थापिकाएँ तो केवल ऐसे अवशिष्ट विषयों में हस्तक्षेप करेंगी। जो ग्राम गणराज्यों के मध्य

समन्वय और सहयोग के लिए आवश्यक हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से संबंधित हों। ये व्यवस्थापिकाएँ अपनी शक्तियाँ निचले स्तरों से प्राप्त करेंगी तथा अन्ततः जनता में निहित रहेंगी।

ऐसी शासन पद्धति में नागरिक सत्ता नियंत्रित न होकर स्वयं नियंत्रित होंगे। धर्म से निर्दिष्ट होने के कारण प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों से अधिक सामाजिक कर्तव्यों को महत्व देगा। गाँधीजी के शब्दों में, “यह समाज के भीतर एक वृत्तों का एक समूह होगा और सबसे भीतर के वृत्त के केन्द्र में व्यक्ति रहेगा, जो अपने निकटवर्ती वृत्त अर्थात् ग्राम के हित में त्याग करने के लिए तैयार रहेगा। यह ग्राम अपने निकटवर्ती वृत्त अर्थात् कुछ ग्रामों के समूह हेतु त्याग करने को तैयार रहेगा। और अंत में सारा समाज ऐसे व्यक्तियों का बन जायेगा।

अहंकार में आकर किसी पर हमला नहीं करेंगे, बल्कि सदा विनीत रहेंगे और इस विराट वृत्त की गरिमा के हिस्सेदार बनेंगे। जिसके वे अविभाज्य अंग हैं। “इस व्यवस्था में सबसे बाहर का घेरा(विराट वृत्त) अपनी शक्ति का उपयोग भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा अपितु भीतर वाला सबको ताकत पहुँचायेगा और स्वयं उनको बल ग्रहण करेगा।

10.2.3 विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था

गाँधीजी ने भारत में यंत्रीकरण पर आधारित औद्योगिक अर्थव्यवस्था का कडा विरोध किया। उनका मानना था कि औद्योगिककरण के कारण भारत में असमानता तो उत्पन्न होगी ही साथ ही पर्यावरण की भी गंभीर समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी। अतः गाँधीजी ने स्पष्ट किया कि भारत की आर्थिक समस्याओं का हल पश्चिम नमूने पर आधारित औद्योगिक सभ्यता के माध्यम से नहीं अपितु ग्राम-आधारित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही संभव है।

गाँधीजी ने ऐसी आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की जो आत्मनिर्भर और विकेन्द्रित है, जिसमें प्रत्येक श्रम के महत्व को जानता है वह श्रमशील है तथा जिसमें प्रत्येक हाथ को काम प्राप्त है। उन्होंने स्पष्ट किया कि यह ग्राम-प्रधान विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था लघु और कुटीर उद्योगों पर आधारित होगी। इस उत्पादन प्रणाली में पूँजी की तुलना में श्रम की गरिमा स्थापित होगी। अतः उत्पादन शोषण को जन्म नहीं देगा। स्थानीय उत्पादन स्थानीय उपभोग और विवेक सम्मत वितरण अर्थव्यवस्था के निर्णायक सूत्र होंगे। इस व्यवस्था में अधिक उत्पादन की बजाय उत्पादन प्रक्रिया में जनता की अधिकतम भागीदारी पर बल दिया जाएगा। इस व्यवस्था में समाजवादी व्यवस्था के इतर न्यायसम्मत वितरण हेतु राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग नहीं अपितु उपभोग का स्थानीयकरण ही यह सुनिश्चित कर देगा कि उत्पादन का समुदाय की आवश्यकतानुसार वितरण हो। गाँधीजी के अनुसार देश की अधिकांश आबादी गांवों में रहती है अतः गाँव नष्ट हो गए तो हिन्दुस्तान नष्ट हो जाएगा। अतः वे ग्रामीण अर्थव्यवस्था के माध्यम से ऐसे आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी सुसंस्कृत, स्वच्छ, ग्रामीण जीवन की दिशा दिखलाते हैं जिसमें अभावों, कटुता, द्वेष व भौतिक उपलब्धियों के नैतिकता स्थान पर प्रेम, सहयोग, आत्मनिर्भरता, आध्यात्मिकता व नैतिकता से परिपूर्ण जीवन होगा।

10.2.4 धर्मनिपेक्ष राज्य

गाँधीजी ने साम्प्रदायिक एकता एवं सद्भाव स्थापित करने हेतु एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की आवश्यकता पर बल दिया। महात्मा ने स्पष्ट कहा था कि, “बेशक, राज्य धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए। उसमें रहने वाले हर नागरिक को बिना किसी रूकावट के अपना धर्म मानने का हक होना चाहिए। जब तक वह मेरे देश के कानून को मानता है। हुकुमत तो सब लोगों के लिए बनाई है।” उन्होंने कहा कि अपने धर्म पर मेरा अटूट विश्वास है। मैं उसके लिए अपने प्राण दे सकता हूँ। लेकिन वह मेरा निजी मामला है। राज्य को उससे कुछ लेना-देना नहीं है। राज्य हमारे लौकिक कल्याण, स्वास्थ्य, आवागमन, विदेशों से सम्बन्ध, करेंसी(मुद्रा) आदि की देखभाल करेगा। लेकिन हमारे या तुम्हारे धर्म की नहीं धर्म हर एक का निजी मामला है।

गाँधीजी के अनुसार, आजाद हिन्दुस्तान में राज्य हिन्दूओं का नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानियों का होगा और उसका आधार किसी धार्मिक पंथ या सम्प्रदाय के बहुमत पर नहीं बल्कि बिना किसी धार्मिक भेदभाव के समूचे राष्ट्र के प्रतिनिधियों पर होगा। स्वतन्त्र हिन्दुस्तान में लोग अपनी सेवा और योग्यता के आधार पर ही चुने जायेंगे। धर्म एक निजी विषय है जिसका राजनीति में कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

10.2.5 मताधिकार एवं चुनाव

गाँधीजी व्यस्क मताधिकार पर आधारित लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने इस तर्क का विरोध किया कि सभी लोग राष्ट्रीय मुद्दों और समस्याओं को समलने में समान रूप से सक्षम नहीं होते

अतः सभी को मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। गाँधीजी 21 वर्ष या 18 वर्ष से भी ऊपर के सभी बालिका स्त्री-पुरुषों के मताधिकार के पक्ष में थे। लेकिन वे एक लोकतान्त्रिक समाज के सजग सदस्य के रूप में मतदाता से कुछ अपेक्षा रखते थे। उनके मतानुसार मताधिकार के लिए सम्पत्ति, शिक्षा या सामाजिक प्रस्थिति की शर्तों के बजाए श्रम की शर्त लगाना उचित है। उन्होंने व्यस्क मताधिकार को 'चरखे पर आधारित मताधिकार' का नाम दिया जाना उपयुक्त माना ताकि मताधिकार अर्जित करने में, एक अनिवार्य पूर्वशर्त के रूप में, श्रम के महत्त्व को सुनिश्चित किया जा सके।

गाँधीजी ने लोकतान्त्रिक निर्वाचन हेतु प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों पद्धतियों को स्वीकार किया है। ग्राम पंचायत के स्तर पर वे प्रत्यक्ष निर्वाचन पर बल देकर कहते हैं कि, "गांव का शासन चलाने हेतु हर साल गांव के पांच आदमियों की पंचायत गांव के एक खास निर्धारित योग्यता वाले (श्रम) व्यस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा चुनी जायेगी।" वहीं ऊपरी स्तर की व्यवस्थापिकाओं का गठन व्यस्क मताधिकार द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जाएगा। गाँधीजी ने व्यवस्थापिका का आकार बहुत बड़ा बनाए जाने तथा द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का विरोध किया क्योंकि ये अनावश्यक व्यय और समय के अपव्यय का सूचक हैं।

10.2.6 राष्ट्रभाषा एवं लिपि

भारत एक बहुभाषी देश है। गाँधीजी के अनुसार, "अगर हमें एक राष्ट्र होने का दावा सिद्ध करना है तो हमारी अनेक बातें एक सी होनी चाहिए। भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायों को एक सूत्र में बांधने वाली हमारी एक सामान्य संस्कृति है। हमारी त्रुटियों और बाधाएँ भी एक सी हैं। अतः हमारी एक सामान्य भाषा भी होनी चाहिए—देशी भाषाओं की जगह नहीं अपितु अनेक सिवा।" उनके अनुसार हमारी राष्ट्रभाषा में निम्नांकित लक्ष्य होने चाहिए।

- (A) वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए आसान होनी चाहिए।
- (B) उस भाषा के द्वारा भारत का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक कामकाज हो सकता है।
- (C) उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों।
- (D) वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान हो।
- (E) उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या कुछ समय तक रहने वाली स्थिति पर जोर न दिया जाए।

गाँधीजी के अनुसार उपर्युक्त लक्षणों में से अंग्रेजी भाषा में कोई लक्षण नहीं है जबकि हिन्दी में सभी लक्षणों की विद्यमानता है। उन्होंने कहा कि हिन्दी भाषा पहले से ही राष्ट्रभाषा बन चुकी है। उनके अनुसार सम्पूर्ण भारत की लिंगुआ फ्रेंको (सामान्य भाषा) हिन्दी व उर्दू के मिश्रण से निर्मित हिन्दुस्तानी भाषा है। उन्होंने कहा कि, "मेरी विनम्र सम्मति में तमाम अविकसित व अलिखित बोलियों का बलिदान हिन्दुस्तानी बोली की बड़ी धारा में कर देना चाहिए। अगर मेरा बस चले तो जमी हुई प्रान्तीय लिपि के साथ-साथ मैं सभी प्रान्तों में देवनागरी लिपि और उर्दूलिपि सीखना अनिवार्य कर दूँ।"

10.2.7 खादी और ग्रामोद्योग

खादी और ग्रामोद्योग का विचार गाँधीजी के आर्थिक ढाँचे की आधार संरचना है। खादी और ग्रामोद्योग परस्पर अन्तर्सम्बन्धित अवधारणा है। गाँधीजी के अनुसार खादी भारतीय मानव समाज की एकता, उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता का प्रतीक है। खादी मनोवृत्ति का अर्थ है—जीवन के आवश्यक पदार्थों के उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण अर्थात् प्रत्येक गाँव अपनी जरूरत की तमाम चीजें स्वयं पैदा कर ले और शहरों की आवश्यकताओं के लिए उत्पत्ति भी कर ले। इस तरह खादी ग्राम स्वावलम्बन व आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देती है।

ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार गाँधीवादी अर्थव्यवस्था का व्यावहारिक स्वरूप है। गाँधीजी ने गांवों की ऐसी आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की है जो पूर्णतया लघु उद्योग व कुटीर उद्योगों पर आधारित होगी। अर्थात् जो सघन खेती, छोटे पैमाने पर व्यक्तियों द्वारा खाद्य पदार्थ, सब्जियों, फल-फूल उत्पादन और पशुपालन पर आधारित होगी। उनके अनुसार ग्रामोद्योग की वस्तुओं जैसे—हाथ की बनी चीनी, हाथकुटा चावल, हाथ कुटा

अनाज, तेलधाणी का तेल आदि बहुत स्वास्थ्यवर्द्धक होते हैं। और इनके उपभोग से मनुष्य स्वस्थ एवं दीर्घायु होता है। गाँधीजी के अनुसार कुटीर उद्योग-धन्धों में एक खास तादाद में लोगों को मजदूरी दी जा सकती है इसलिए ये उद्योग खादी के मुख्य काम में सहयोग दे सकते हैं। हाथ से पीसना, हाथ के कूटना और पट्टोरना, साबून बनाना, कागज बनाना, चमड़ा बनाना, तेल पेरना और इस तरह के सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक व महत्त्वपूर्ण धन्धों के बिना गांव की आर्थिक रचना सम्पूर्ण नहीं हो सकती अर्थात् गांव स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर नहीं बनेंगे। हर एक आदमी को, हर हिन्दूस्तानी को, इसे अपना धर्म समझना चाहिए कि वह हमेशा गांवों की बनी चीजें ही उपभोग में ले। अगर ऐसी चीजों की मांग पैदा हो जाए तो इसमें जरा भी शक नहीं कि हमारी ज्यादातर जरूरतें गांवों से पूरी हो सकती हैं। जब हम गांवों के लिए सहानुभूति से सोचने लगेंगे और गांव की बनी हुई चीजें हमें पसन्द आने लगेंगी तो ऐसी राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होगी जो गरीबी, भुखमरी और आलस्य या बेकारी से मुक्त एक मेरा हिन्दुस्तान के साथ मेल खाती होगी।

10.2.8 नई तालीम

गाँधीजी ने गांव के बच्चों को गाँव को आदर्श निवासी बनाने हेतु बुनियादी शिक्षा व्यवस्था का सूत्रपात किया। उनके अनुसार बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य बच्चों का शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास करना है। उनके अनुसार जिस देश में लाखों आदमी भूखे मरते हों, वहाँ बुद्धिपूर्वक किया जाने वाला श्रम ही सच्ची प्राथमिक शिक्षा या पौढ़ शिक्षा है। इसलिए गाँधीजी चाहते थे कि बच्चों की शिक्षा का श्रीगणेश उसे काई उपयोगी दस्तकारी सिखाकर और जिस क्षण से वह अपनी शिक्षा आरम्भ करे, उसी क्षण उसे उत्पादन योग्य बना दिया जाये। उनके अनुसार गरीब देश में हाथ की तालीम देने से दो उद्देश्य सिद्ध होंगे—प्रथमतः, बच्चों की शिक्षा का खर्च निकल आयेगा और द्वितीयतः वे ऐसा धंधा सीख लेंगे जिसका अगर वे चाहें तो अन्तर-जीवन में अपनी जीविका के लिए सहारा ले सकते हैं। इस पद्धति से हमारे बालक आत्मनिर्भर अवश्य हो जायेंगे।

10.2.9 अस्पृश्यता – निवारण

गाँधीजी अस्पृश्यता को सामाजिक कलक की संज्ञा देते थे। वे अस्पृश्यता उन्मूलन को राजनीतिक स्वतन्त्रता से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनकी दृढ़ मान्यता था कि, “अस्पृश्यता का उन्मूलन किये बिना, स्वराज्य की प्राप्ति असंभव भी है और निरर्थक भी।” उनके अनुसार अस्पृश्यता वर्तमान रूप में ईश्वर और मनुष्य के खिलाफ भयंकर अपराध है। यह मिथ्या अभिमान व स्वार्थवृत्ति का ही सामाजिक रूप है। और आत्मा का हनन करने वाला घोरतम पाप है।

गाँधीजी के अनुसार यह तर्क गलत है कि अस्पृश्यता के पीछे हिन्दू धर्म की सम्मति है। उन्होंने दावा किया कि हिन्दूधर्म अस्पृश्यता को कोई समर्थन नहीं देता। अपितु अस्पृश्यता तो हिन्दूधर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। उनके अनुसार यह विचार कि मात्र कुछ लोग ऊँचे हैं और अन्य निम्न हैं, ईश्वर का अपमान है। अतः अस्पृश्यता विवेक, धर्म और सत्य के विरुद्ध है। इसके निवारण हेतु गाँधीजी ने सवर्णों द्वारा हरिजनों के लिए हिन्दू-मन्दिर के द्वारा खोल देना, उन्हें सामाजिक आयोजनों और उत्सवों में समान रूप से सम्मिलित होने देना, कुंओं पर नहाने देना इत्यादि को अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम में सम्मिलित किया।

10.3 गाँधी और भारतीय संविधान

गाँधीजी ने भारतीय राजनीति का आधार लोकतन्त्र को बनाया। ऐसा लोकतन्त्र जो अहिंसा द्वारा स्थापित हो तथा जिसमें समान स्वतन्त्रता हो। जहाँ हर कोई अपना स्वामी होगा। गाँधी राजनीतिक सत्ता को साध्य नहीं मानते। उनके अनुसार राजनीतिक सत्ता हैं-राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाये कि वह स्वयं आत्म-नियमन कर ले तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। गाँधीजी की इस व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक संयम के बीच समन्वय स्थापित होता है जो लोकतन्त्र की बुनियाद है। चरखा, ग्रामोद्योग, उद्योग के जरिए प्राथमिक शिक्षा प्रणाली, अस्पृश्यता निवारण, मद्य-निषेध, अहिंसक तरीके से मजदूरों का संगठन जैसे साधन सामुदायिक रूप से लोकतन्त्र की स्थापना के आधार हैं।

गाँधीजी के भारतीय संवैधानिक व्यवस्था से सम्बन्धित विचारों को समेकित कर उनका भारतीय संविधान से तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि भारतीय संविधान में गाँधीवादी आदर्शों, मूल्यों व योजनाओं को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है तथा उनके सिद्धान्तों को आधारभूत बना विचार-विमर्श के

पश्चात् संवैधानिक प्रावधान स्थापित किये गये।

अग्रांकित बिन्दुओं द्वारा भारतीय संविधान पर गाँधीजी के प्रभाव को अभिव्यक्त किया गया है—

(A) गाँधीजी के मानवतावादी चिंतन को हमारे संविधान की प्रस्तावना में प्रमुख रूप से संस्थापित कर स्पष्ट है कि व्यक्ति की गरिमा व विश्वास की संरक्षा की गई है। साथ ही प्रस्तावना में राजनीतिक सत्ता का अंतिम स्रोत जनता को मानना गाँधीजी के जन सम्प्रभुता के विचार को अभिपुष्ट करता है।

(B) गाँधीजी ने अस्पृश्यता को जघन्य अपराध मानकर इसके निवारण हेतु निरन्तर प्रयास किये। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता को समाप्त करने की व्यवस्था और किसी रूप में इसका आचरण निषिद्ध करता है।

(C) गाँधीजी का यह मानना था कि स्वतन्त्र भारत में सभी व्यक्ति समान रूप से अधिकारों और अवसरों का उपभोग करने हेतु स्वतन्त्र होंगे। चाहे वे किसी भी धर्म के हों। उनके अनुसार स्वाधीन भारत एक धर्मनिपेक्ष राज्य होगा। भारतीय संविधान में सभी लोगों की धार्मिक स्वतन्त्रता से सम्बन्धित प्रावधान अनु. 25 से अनु. 25 तक संस्थापित है। जिसमें बिना किसी भेदभाव के सभी व्यक्तियों को अपने धर्म को मानने व प्रचार करने की अबाध स्वतन्त्रता है।

(D) धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ भारतीय संविधान में अनु. 29 व अनु. 30 द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण हेतु संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों का समावेश किया गया है जिसमें अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी संस्कृति को बनाए रखने हेतु शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन का अधिकार है। ये प्रावधान गाँधीजी के अल्पसंख्यकों की समस्या सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति है।

(E) गाँधीजी चाहते थे कि समाज के कमजोर और वंचित वर्गों को विशेष अधिकार मिलें ताकि वह समाज के अग्रणी वर्ग के लोगों के साथ समान रूप से अधिकारों का उपभोग करें। इस अध्येय की पूर्ति भारतीय संविधान के अनु. 15(1)(2)(3)(4) व 16(4) के माध्यम से की गई है। इसमें कहा गया है कि राज्य के समक्ष व नियोजन के सन्दर्भ में बिना किसी भेदभाव के सब समान हैं किन्तु पिछड़े वर्ग व अनुसूचित जाति व जनजाति हेतु आरक्षण का प्रावधान किया गया ताकि यह समाज के अन्य लोगों के समक्ष अवसरों व स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें।

(F) गाँधीजी ने सर्वोदय की संकल्पना में सभी व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास को लक्ष्य समाहित किया था अथात् संसाधनों का उत्पादन व वितरण इस प्रकार हो कि वह समाज में सभी व्यक्तियों के कल्याण को सुनिश्चित करे। उपर्युक्त ध्येय को हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान के भाग-4 के अनु. 38 व अनु. 39 में स्थान दिया और कहा कि राज्य द्वारा लोक कल्याण की अभिवृद्धि हेतु सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक न्याय द्वारा सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित करना तथा धन व उत्पादन के साधनों का संकेन्द्रण रोक समाज में समवितरण सुनिश्चित करना।

(G) भारतीय संविधान के भाग-4 अर्थात् नीति-निदेशक सिद्धान्त गाँधीवादी विचारधारा पर आधारित है। ये गाँधीजी द्वारा पुनर्स्थापित योजनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं :-

- ग्रामीण क्षेत्र में कुटीर उद्योगों व्यक्तिगत या सहकारी आधार पर प्रोत्साहित करना। (अनु. 43)
- अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शैक्षणिक व आर्थिक हितों को प्रोत्साहन व सामाजिक अन्याय व शोषण से सुरक्षा (अनु. 46)
- मादक द्रव्यों के प्रयोग का निषेध (अनु. 47)
- गाय, बछड़ा व अन्य दुधारू पशुओं की बलि पर रोक व कृषि का वैज्ञानिकरण (अनु. 48)
- अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की अभिवृद्धि (अनु. 51)

10.4 सारांश

भारतीय संविधान निर्माताओं ने गाँधीजी के विचारों, व सिद्धान्तों को भारतीय संविधान में आधारभूत मानकर अनेक प्रावधानों को संस्थापित किया। यद्यपि कुछ सिद्धान्तों व योजनाओं को आज भी संविधान में स्थान नहीं दिया गया है। यथा-बुनियादी शिक्षा की योजना, आर्थिक विकेन्द्रीकरण, ग्रामों को गणराज्य के रूप में सभी राजनीतिक शक्तियाँ प्रदत्त करना इत्यादि।

संविधान सम्बन्धी गाँधीजी के विचारों, सिद्धान्तों व योजनाओं के सूक्ष्म विश्लेषण से यह परिलक्षित होता

है कि आदर्श राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण स्वप्नलोकीय नहीं था। उसमें आदर्श व यथार्थ का समुचित समन्वय है। उन्होंने एक व्यवहारिक आदर्श के रूप में जिस ग्राम-स्वराज्य की कल्पना की थी, वह तभी स्थापित हो सकता है जबकि शासन की विद्यमान संस्थाएँ शनैःशनैः विकेन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त करें। यद्यपि 73 वें व 74 वें संविधान संशोधनों के ने इस मार्ग की शुरुआत तो कर दी है किन्तु अभी हमें बहुत आगे जाने की आवश्यकता है।

10.5 अभ्यास प्रश्न

1. गाँधीजी की ग्राम स्वराज्य सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित आर्थिक विकेन्द्रीकरण व खादी की संकल्पना को विश्लेषित कीजिए।
3. भारतीय संविधान किन गाँधीवादी सिद्धान्तों को परिलक्षित करता है, स्पष्ट करो।
4. क्या भारतीय संविधान गाँधीजी द्वारा कल्पित आदर्श राजनीतिक व्यवस्था की अनुकृति है?

10.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. महात्मा गाँधी, मेरे सपनों का भारत, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1960
2. एस.एम. सईद, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2007
3. एम.लक्ष्मीकांत, भारत की राज व्यवस्था, टाटा मैकग्रहिल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
4. दिलीप कुमार चटर्जी, गाँधी एण्ड कान्स्टीट्यूशन मेकिंग इन इण्डिया, एशोसिएटिड पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1984
5. महात्मा गाँधी, ग्राम स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1963

इकाई की रूपरेखा :

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 गाँधी पर रचनाओं का आंकलन
- 11.3 उत्तर आधुनिक विचारधारा एवं गाँधी
- 11.4 आधुनिकता
- 11.5 सत्य
- 11.6 20वीं शताब्दी में गाँधी
- 11.7 सारांश
- 11.8 अभ्यास प्रश्न
- 11.9 संदर्भ ग्रन्थ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे कि –

- गाँधी पर रचनाओं का विवरण
- आधुनिकता का गाँधीवादी दृष्टिकोण से समीक्षा
- उत्तर आधुनिकता एवं गाँधी का सम्बन्ध
- 20वीं सदी में गाँधी की भूमिका

11.1 प्रस्तावना

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, जिनका लोकप्रिय नाम महात्मा गाँधी है, कुछ लोगों के लिये भारत के पर्याय बन चुके हैं और कुछ के लिये पूंजीवाद एवं आधुनिकता की दौड़ की एक वैकल्पिक आवाज हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के एक सच्चे और खरे प्रतिनिधि के रूप में उन्हें सदैव न्याय का व लोगों के अधिकारों का, व व्यक्तिगत व सामुदायिक स्वायत्तता का बड़ा समर्थक माना गया। अनेकों वर्षों तक गाँधी की रचनाओं पर उनका व्यक्तित्व हावी रहा। यही कारण है, कि प्रारम्भिक शोध कार्य गाँधी के व्यक्तित्व के चारों ओर तक सीमित होकर रह गया है। उन्होंने स्वयं अपनी रचनाओं के अकादमिक विश्लेषण को हतोत्साहित किया। उन्होंने तो इस बात से भी इन्कार किया कि उनके द्वारा किसी नये विचार एवं दर्शन को प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने कहा, “मैं यह दावा नहीं करता हूँ कि मैंने किसी सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। मैंने बस अपने तरीके से शाश्वत सत्य को प्रतिदिन के जीवन व समस्याओं पर लागू करने का प्रयास किया है। इसीलिए मनु के समान किसी संहिता को मेरे द्वारा प्रारम्भ करने का प्रश्न ही नहीं उठता मेरे पास संसार को सिखाने हेतु कुछ भी नया नहीं है।”

गाँधी का विचार व उनके कार्य अपृथक् हैं। उनका पूरा जीवन सत्य की खोज पर केन्द्रित रहा और कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने अपनी आत्मकथा को यह नाम दिया, ‘एन एक्सपेरीमेन्ट विद ट्रूथ’। व्यवहारिक राजनैतिक जीवन में परिलिप्तता में उन्हें लिखने से नहीं रोका और परिणामस्वरूप उन्होंने लगभग एक सौ पुस्तकें लिखीं। प्रत्येक पुस्तक में लगभग पांच सौ पृष्ठ हैं। कहा जाता है, कि गाँधी ने पन्द्रह लाख शब्द लिखे हैं य यह एक ऐसा कार्य है जो किसी भी दूसरे राजनैतिज्ञ के द्वारा नहीं किया गया। 1960 के दशक में उनकी समस्त रचनाओं

को जनता को समर्पित किया गया। इन रचनाओं का बदलती हुई परिस्थितियों में, गाँधी पर किये जाने वाले शोधकार्य पर सार्थक असर पड़ा।

11.2 गाँधी की रचनाओं का आंकलन

गाँधी पर किये जाने वाले अध्ययन को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : गाँधी का जीवन व गाँधी का दर्शन। इस परचे में हम अपने विचारों को गाँधी के दर्शन पर सीमित रखेंगे। गाँधी के दर्शन पर लिखी गई रचनाओं को, लेखकों के दृष्टिकोणों के अनुसार पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है। यह वर्गीकरण ऐतिहासिक भी है और दार्शनिक भी। ऐतिहासिक दृष्टि से, गाँधी को सर्वप्रथम राजनीति में अहिंसा का जनक माना गया जिन्होंने अहिंसा को राजनीति में दर्शन तथा सार्वजनिक मूल्य का स्थान दिया। गाँधी पर प्रथम वाचस्पति की उपाधि 1944 में जब गाँधी जीवित थे, बम्बई विश्वविद्यालय के द्वारा दी गई। यह शोध गोपीनाथ धवन ने किया और 1957 में, 'द पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी' के नाम से अपने शोध को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। यह शोध प्रथम वृहद् विश्लेषणात्मक रचना थी जिसने राजनैतिक दर्शन के क्षेत्र में गाँधी के योगदान को उजागर किया। धवन के अनुसार गाँधी ने अहिंसा को एक राजनैतिक वर्ग बनाया जिस प्रकार अधिकार, स्वतंत्रता इत्यादि राजनैतिक वर्ग हैं। गाँधी को एक नैतिक सुधारक माना जाता है जिनके विचार सत्य और अहिंसा के चारों ओर घुमते हैं। उन्हें भारतीय दर्शन के विभिन्न पक्षों का कुशाग्र समन्वयक माना जाता है।

धवन के दृष्टिकोण का अनेकों विद्वानों ने अनुसरण किया और गाँधी को एक ऐसे नैतिक सुधारक के रूप में देखा जिसकी जड़ें भारतीय मिट्टी में गहरी फैली हुई हैं। इन विद्वानों में डी.एम. दत्ता, वी.वी. रमनमूर्ति, सुरेन्द्र वर्मा, राघवन अय्यर व आर.आर. दिवाकर सम्मिलित हैं। विद्वानों के इस समूह का तर्क है कि गाँधी के विचारों में सत्य एवं अहिंसा के द्वारा आधारभूत ढाँचे का निर्माण किया जाता है तथा सर्वोदय, सत्याग्रह, स्वदेशी इत्यादि आर्थिक अवधारणाओं के द्वारा वृहद् ढाँचे का निर्माण किया जाता है। गाँधी के विचारों के आधारभूत ढाँचे में लक्ष्य (सत्य) एवं माध्यम (अहिंसा) के भेद से गाँधी ऊपर उठ गये थे। गाँधी का मानना था कि लक्ष्य एवं माध्यम आपस में बदले जा सकते हैं। सत्य एवं अहिंसा के सम्बन्धों के माध्यम से सभी प्रमुख मुद्दों – पूंजी, श्रम, असमानता, सत्ता का केन्द्रीकरण, शोषण इत्यादि को समझा जा सकता है। विद्वानों ने बताया: "गाँधी के विचारों का सबसे महत्वपूर्ण तत्व यह था कि वे एक सार्वभौमिक राजनैतिक नैतिकता चाहते थे जो कि सत्य और अहिंसा पर आधारित हो।" प्लेटो व हॉब्स के विपरीत, गाँधी ने राजनैतिक सिद्धान्त पर कोई पुस्तक नहीं लिखी ('हिन्द स्वराज' मात्र एक ऐसी पुस्तिका है जो गाँधी के संदेश का सार है)। गाँधी का सक्रिय राजनैतिक जीवन इस कमी की क्षतिपूर्ति के रूप में उपलब्ध है तथा उनका जीवन कभी भी उनके विचारों से पृथक् नहीं हो पाया है।

गाँधी के विश्लेषकों के एक अन्य समूह जो वैज्ञानिक मूल्य पर आधारित है, का तर्क है कि गाँधी के विचारों का अध्ययन सामाजिक वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। इन विद्वानों के द्वारा गाँधी के विचारों का विश्लेषण वैज्ञानिक मूल्य के माध्यम से किये जाने की वकालत की गई है। यह आंकलन आधारित है (1) कोई वस्तु 'मूल्यवान' है या नहीं का उत्तर वैज्ञानिक आधार पर दिया जा सकता है (अ) किसी लक्ष्य व उद्देश्य का अनुसरण करते हुये वह वस्तु उपयोगी है या नहीं या (ब) किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के विचारों के आधार पर की वह मूल्यवान है या नहीं और यह कि परिणामस्वरूप (2) यह वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णरूपेण स्थापित करना कि कौनसे लक्ष्य व उद्देश्य मूल्यवान हैं (अ) वह मूल्य जो अन्य उद्देश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु या (ब) किसी के प्रारम्भिक व अन्तिम लक्ष्यों व उद्देश्यों व विचारों से परे।

माना जाता है कि सामाजिक विज्ञान में गाँधी के योगदान का आंकलन वैज्ञानिक आधार पर किया जाना चाहिए तथा उनकी अवधारणाओं व अवधारणाओं के लागू किये जाने के प्रभाव को वैज्ञानिक मूल्य के दृष्टिकोण से सुनिश्चित किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण के द्वारा पराभौतिक अवधारणाओं की परिभाषा संबंधी समस्याओं को समझने पर बल दिया गया है। गाँधी ने इन पराभौतिक अवधारणाओं को परिवर्तन की युक्तियां बनाये जाने की वकालत की थी। जॉन.वी. बोनडूरेन्ट, एरिक.एच. एरिक्सन व जे.बन्धोपाध्याय इत्यादि विद्वानों ने गाँधी के विचारों का अध्ययन इसी परिप्रेक्ष्य में किया। बन्धोपाध्याय का मानना है कि अहिंसा, स्वतंत्रता, समानता तथा धर्म व राजनीति का समन्वय ही वे परम मूल्य हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र, सरकार, सत्याग्रह इत्यादि मूल्यों व विचारों का आंका जा सकता है। गाँधी के विचारों को दो स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है : लोकतांत्रिक समजवाद

का परम आदर्श एवं व्यवहारिक आदर्श। बन्धोपाध्याय कहते हैं, “अनेकों वर्षों की अवधि में, गाँधी के व्यवहारिक विचारों का, टुकड़ों में तथा स्थिति की आवश्यकतानुसार, विकास किसी भी रूप में अराजकता के आदर्श के प्रथम क्रम के त्यागे जाने का प्रतिनिधित्व नहीं करता है बल्कि वह विकास तो परम आदर्श की दिशा में उठाये गये प्रथम कदम का प्रतिनिधि है।”

एरिकसन ने अपने, ‘इगो-आइडेन्टिटी’ के सिद्धान्त को गाँधी के व्यक्तित्व विश्लेषण पर लागू किया। एरिकसन का तर्क है कि गाँधी में नैतिकता व चेतना का बोध उनके पिता से प्रेम-घृणा के सम्बन्ध के कारण, विकसित हुआ। इंग्लैण्ड में, विद्यार्थी के रूप में, लम्बे समय तक गाँधी अपनी अलग पहचान बनाने के लिये जूझते रहे। यह संघर्ष साउथ अफ्रीका में समाप्त हुआ जहाँ अन्याय व निर्दयता से लड़ते हुये उन्हें उनकी सही पहचान मिल गई। एरिकसन का निष्कर्ष है कि गाँधी का महात्मा बनना उनके व्यक्तित्व का आध्यात्मिक विकास नहीं है बल्कि एक परिणाम है गाँधी के द्वारा अपनी पहचान बनाने के लिये किये गये सजग प्रयास का।

जे.वी. बोन्डूरेन्ट ने अपने उच्च स्तरीय अध्ययन, ‘सत्याग्रह’ में कहा है कि, “गाँधी के अहिंसक कार्य की तकनीक के केन्द्रीय योगदान को समझने के लिए ना तो गाँधी के चारित्रिक परित्यागवाद का समर्थन करना आवश्यक है और न ही उनके धार्मिक अवधारणाओं का।” बोन्डूरेन्ट ने गाँधी की अवधारणाओं को तीन वर्गों में डाला : गाँधी के उद्देश्य जिनमें स्वराज व सर्वोदय सम्मिलित है, गाँधी के सिद्धान्त जिनमें अहिंसा, सत्य व श्रम की महानता सम्मिलित है, गाँधी के साधन जिनमें सत्याग्रह, भूदान व नई तालीम सम्मिलित है। सत्याग्रह वह सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग है जिसमें गाँधी की लगभग सभी अवधारणायें सम्मिलित हैं। इसीलिये सत्याग्रह का अध्ययन गाँधीवाद का अध्ययन है।

एक अन्य प्रमुख समकालीन समूह गाँधी को प्लेटो, रूसो एवं मिल जैसे सर्वमान्य एवं स्थापित विचारकों के समकक्ष मानता है। विभिन्न आलोचकों ने गाँधी की तुलना दूसरे विद्वानों से की है यद्यपि उन विद्वानों का दान दार्शनिक अन्वेषण के कुछ पक्षों तक ही सीमित था। विद्वानों के इस समूह का मत है, कि गाँधी ने उपलब्धसभ्यताओं का विकल्प प्रस्तुत किया। जयप्रकाश नारायण के अनुसार, “गाँधी व्यवस्था निर्माता नहीं थे। उनके मस्तिष्क में अवधारणाओं का एक पूरा ऐसा आधार था, जिसके बल पर आर्थिक व राजनैतिक विकास का समुचित व आधुनिकतम आदर्श तैयार किया जा सकता था।” गाँधी ने समय व रुझान के अभाव में अपने विचारों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं किया। अब यह दायित्व विद्वानों की कलम पर आ पड़ा है, जिन्हें गाँधी के महत्वपूर्ण विचारों को कम महत्वपूर्ण व सार्वभौमिक को तात्कालिक तत्वों से पृथक् कर प्रस्तुत करना होगा।

बी.एन. गांगुली उन प्रारम्भिक विद्वानों में से एक है, जिन्होंने गाँधी के विचारों को इस दृष्टिकोण से देखा। उनका तर्क था कि गाँधी का सामाजिक दर्शन उनके जीवन के कार्यों के समान ही खुलापन लिये हुए था और गाँधी के विचारों की सुदृढ़ता का प्रतीक था। इसीलिये इस दर्शन का आंकलन इसकी संपूर्णता के साथ किया जाना चाहिये। गाँधी का निर्माणकारी सामाजिक दर्शन इतिहास के प्रति एक धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण लिये हुये है। अतः यह मात्र अहिंसा का इतिहास है। कांत की सामाजिक नैतिकता के अनेकों तत्वों से गाँधी सहमत थे तथा एमरसन व थोरयू के समान ही सर्वातिशयवादी भी थे। यहाँ तक कि अराजकतावादियों के भी अनेकों विचारों से गाँधी सहमत थे। उदाहरणार्थ क्रोपोटकिन, जिसके अनुसार उद्देश्यों व माध्यमों की पवित्रता एक स्पष्ट नैतिक बाध्यता है। गांगुली ने गाँधी की विश्वसनीयता को एक मानवतावादी के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया तथा विमुखता की समस्या को भी गाँधी के दृष्टिकोण से देखा।

रामाश्रे रॉय ने गाँधी की आधुनिक सभ्यता की धारणा को स्वीकारा और उसे परिवर्तनवादी अद्वितीय, मानवतावादी और सम्पूर्ण माना। प्रगति की नव परिभाषा में गाँधी ने उसे मानवीय आत्मखोज माना है और यह परिभाषा आधुनिक सभ्यता की पराभौतिकीय आधार को चुनौती देती है तथा सामाजिक संस्थाओं व आर्थिक व्यवस्थाओं की ठोस पुनर्व्यवस्था की वकालत करती है। रॉय कहते हैं, “पश्चिमी बौद्धिक व दार्शनिक विचारों की धारा की पृष्ठभूमि में ही गाँधी का निरालापन पूर्णरूपेण उभरता है।” गाँधी का मानवीय सम्बन्धों व समाज का ज्ञान एक गहरा दार्शनिक प्रभाव लिये हुये है तथा इस ज्ञान का आधार हेतु है। गाँधी द्वारा की गई सत्य की अथक खोज ने उन्हें बहु यथार्थवाद तथा आत्मा की बाहरी संसार से अपृथक्ता का अनुभव कराया। मानव का स्वयं से तथा दूसरों से यह आदान-प्रदान ही गाँधी के विचारों का आधार है।

भीखू पारेख ने, दूसरी ओर, गाँधी को उनके 19वीं शताब्दी के पूर्वजों के साथ जोड़कर देखा है तथा हिन्दु संस्कृति की समृद्धि तथा सीमाओं, तथा दार्शनिक वातावरण से सम्बद्ध पाया है। पारेख का निष्कर्ष है कि गाँधी एक राजनैतिक सिद्धान्त दाता के रूप में उदारवाद से ऊपर उठ चुके थे। पारेख के अनुसार, “गाँधी की दूरदर्शिता ने उन्हें एक प्रभावशाली नैतिक व राजनैतिक सिद्धान्त दे सकने में सक्षम बनाया। यह सिद्धान्त उदारवाद व भाईचारावाद दोनों में गाँधी की अर्न्तदृष्टि प्रदर्शित करता है। उदारवादियों के समान गाँधी ने स्वतंत्रता पर बल दिया परन्तु स्वतंत्रता की अत्यन्त ही भिन्न परिभाषा दी। उन्होंने स्वतंत्रता की अवधारणा को आमूलचूल परिवर्तन के साथ परिभाषित करते हुये समानता की अवधारणा को भी पुनर्परिभाषित किया। गाँधी के अनुसार समानता व्यक्ति विशेष के द्वारा उसके समुदाय के आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक व सांस्कृतिक संसाधनों तक उसकी पहुंच में निहित होती है। वह अपनी निराली क्षमताओं को वास्तविकता में परिवर्तित कर सके और मात्र एक अपूर्ण मानवीय क्षमता पर, जिसे दार्शनिक अवधारणा के द्वारा निर्धारित किया जाता है, निर्भर न हो। वह मनमर्जी के नैतिक स्तरों से संचालित न होकर अपने अद्वितीय, मानवीय क्षमताओं से संचालित हो।”

वी.आर. मेहता का तर्क है कि गाँधी ने सफलतापूर्वक पूर्व व पश्चिम की परम्पराओं का सामंजस्य बनाते हुये राष्ट्रीय पहचान के विचार को विकसित किया। गाँधी की सुस्पष्ट दूरदर्शिता उनके विचारों के दोहरे पक्ष को प्रतिबिम्बित करती है। उनका आधुनिक सभ्यता के प्रति विचार तथा वर्तमान के उपस्थित ढाँचों जैसे राष्ट्र, अभियांत्रिकी एवं सम्पत्ति इत्यादि के विकल्पों की खोज। रूसो का समुदाय के प्रति सम्मान गाँधी के विचारों में भी झलकता है तथा मार्क्स की गरीबों के प्रति चिन्ता भी दिखायी पड़ती है। गाँधी के योगदान को मेहता ने इन शब्दों में साररूप में प्रस्तुत किया: “अपने विचारों के माध्यम से, 20वीं शताब्दी की समस्याओं पर प्रकाश डालकर, गाँधी ने एक प्रमुख योगदान दिया। उन्होंने बलपूर्वक कहा कि राजनीति, उद्योग तथा अभियांत्रिकी को जीवन के आदर्शों के सम्मुख गौण समझना चाहिए।”

टॉमस पेन्थम गाँधी की तुलना कांत तथा हेबरमस से करते हैं। कांत के समान गाँधी भी इस बात से असहमत हैं कि लोगों को औजार या अवरोध के रूप में उपयोग किया जा सकता है। गाँधी के अनुसार लोग न तो हमारी महान तथा विशिष्ट खोज में हमारी सहायता कर सकते हैं और न ही अवरोध उत्पन्न कर सकते हैं। पेन्थम के विचार गाँधी के विचारों के वर्तमान के आकलन के अतिनिकट है। इसमें गाँधी को अतीत का विचारक होने के स्थान पर भविष्य का विचारक माना गया है। पेन्थम गाँधी को, “उत्तर ज्ञानउजागर आधुनिकता के राजनैतिक सिद्धान्त के आधारभूत दोहरे विपक्ष के उत्तर ढांचावादी विखण्डन के वर्तमान समय के पूर्वानुमान के रूप में देखते हैं।”

नरेश दाधीच, इस आम दृष्टिकोण से असहमत हैं कि गाँधी रूढ़िवादी भारतीय परम्परा के प्रतिनिधि थे। दाधीच गाँधी को आधुनिकता के मानवतावादी, उदार व नैतिकतावादी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं तथा गाँधी के विचारों के क्रमिक विकासवादी पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। अस्तित्ववादी रूझान के परिप्रेक्ष्य में दाधीच ने गाँधी की व्यक्तिविशेष, स्वतंत्रता तथा सम्बद्ध विषयों के प्रति चिन्ता का विश्लेषण किया है। दाधीच का निष्कर्ष है: “गाँधी का विचार उपयोगिता व समकालीनता की दृष्टि से अस्तित्ववाद के निकट है।”

नवीनतम टीकाओं में एक अतिश्रेष्ठ रोनाल्ड टरचैक द्वारा लिखी गई है। वे गाँधी को सत्ता व राजनीति के परम्परागत विचारों तथा आधुनिकता व आधुनिकीकरण के विचारक के रूप में देखते हैं। टरचैक ने अपने अध्ययन को व्यक्ति तथा स्वतंत्रता के लिये व्यक्ति के संघर्ष के प्रति गाँधी की कटिबद्धता पर केन्द्रित किया है। व्यक्ति विशेष की यह स्वतंत्रता राज्य, अर्थव्यवस्था तथा समाज के हाथों निरन्तर चुनौती का सामना करती है। 21वीं शताब्दी में, हम उदारवादी विचारों को एक रूप में तथा उदारवाद के अन्य समकालीन जुड़ावों से गाँधी के लगाव को प्रभुत्व अर्जित करते हुये देखेंगे। यद्यपि गाँधी संकुचित व्यक्तिवाद, परम्परा व समुदाय की अनदेखी तथा आर्थिक विकास की नैतिकता से समकक्षता इत्यादि मुद्दों पर प्रश्न उठाते हैं तदपि वे परमावश्यक रूप से एक परिपूर्ण उदारवादी हैं जो सामाजिक स्वतंत्रता, पंथनिरपेक्ष परन्तु नैतिक राजनीति तथा लोकतांत्रिक सरकार के प्रति चिन्तित हैं। गाँधी का उदारवाद उन्मुक्त भी है तथा आधुनिकता की अवश्यम्भाविता तथा उसके परिणामों में विश्वास नहीं करता है। टरचैक का निष्कर्ष है : “अगर गाँधी का इस आधुनिक संसार के लिये कोई संदेश है तो, वह निश्चित रूप से गाँधी के ग्रामीण अर्थव्यवस्था के निर्माण के विशिष्ट प्रस्तावों में उपलब्ध नहीं है। गाँधी

की विरासत उन मुद्दों से जुड़ी है जिन्हें वे लोकतंत्र, आर्थिक सुरक्षा, स्वराज, सामुदायिकता तथा संघर्ष के अहिंसक निराकरण के सम्बन्ध में उठाते हैं। गाँधी के लिये इन मुद्दों को वर्तमान के आधुनिक संसार में घर की आवश्यकता है ताकि वे अनुपयोगी न हो जाये।”

गाँधी पर लिखे गये तुलनात्मक साहित्य में विनीत हकसार की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। वे सार्वजनिक नैतिकता, धार्मिक सुधार, सविनय अवज्ञा, अहिंसा, असहयोग व अलगाव इत्यादि के विषय पर गाँधी के विचारों के प्रमुख पक्षों पर चिन्तन करते हैं। एक उदारवादी के रूप में गाँधी का विश्वास था कि व्यक्ति नहीं बल्कि आधारभूत अर्थ में समूह अधिक पवित्र है तथा समूहों को नैतिक माध्यम माना जा सकता है। समूहों की गतिविधियों में स्वाभाविक मूल्य होते हुये भी वे अपने आप में कांत द्वारा सुझाये गये लक्ष्य नहीं बन सकते हैं। गाँधी के विचारों का यह आकलन पारेख के आकलन से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि पारेख ने गाँधी को उदार समुदायवादी के रूप में देखा है। हकसार बलपूर्वक कहते हैं कि धर्म तथा परम्परागत नैतिकता के प्रति गाँधी का दृष्टिकोण आपस में जुड़ा हुआ था। वे धर्म तथा हेतु के बीच जुड़ाव की वकालत करते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे परम्परागत नैतिकता और धार्मिक विश्वासों के तर्कसंगत विश्लेषण की वकालत करते हैं। धार्मिक रूढ़िवादिता समेत, हर प्रकार की रूढ़िवादिता का गाँधी विरोध करते थे। गाँधी का तो एक ऐसे तालमेल भरे आदर्श में विश्वास था जिसमें सभी मूल्य मिले हो और मिलकर मानवता के मूल्य बन जाये तथा वर्ग, जाति तथा राष्ट्रीयता का कोई भेद न रह जाये। हकसार ने गाँधी के सविनय अवज्ञा, असहयोग तथा अलगाव संबंधी विचारों को विस्तार पूर्वक समझाया है तथा रोल्स, बैरी व सिंगर जैसे उदारवादी विचारकों के विचारों से, गाँधी के विचारों की, तुलना की।

रुडोल्फ एवं रुडोल्फ ने गाँधी को एक उत्तर आधुनिक विचारक के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका विश्वास है कि, “हिन्द स्वराज” (1909) में आधुनिक सभ्यता पर अभिव्यक्त गाँधी के विचार प्रारम्भिकतम उत्तर आधुनिक रचनाओं में से एक हैं। गाँधी की आत्मकथा तथा उनके द्वारा सत्याग्रह का क्रियान्वयन एक उदाहरण है सत्य की उत्तर आधुनिक स्थितिजन्य समझ का। गाँधी का सार्वभौमिक सत्यों के आधार के रूप में आधुनिकता को स्वीकार करने, तथा विशुद्ध ज्ञान इत्यादि के महत्व से इन्कार उन्हें एक उत्तर आधुनिक विचारक के रूप में स्थापित करता है।

यह नवीनतम आकलन गाँधी के विचारों के प्रति आधारभूत समझ स्थापित करता जा रहा है और लोकप्रिय होता जा रहा है। अनेकों अन्य पूर्ववृत्ति आकलन कर्ताओं के आकलन से यद्यपि यह आकलन भिन्न है तदपि अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। सर्वप्रथम, गाँधी एक सारभूतवादी नहीं है एवं उनका विचार क्षेत्र उन्मुक्त है। दूसरे, वे अद्वैतवादी भी नहीं हैं जिनका की विश्वास ज्ञान के सिद्धान्त मात्र में होता। तीसरे, गाँधी का विचार क्रमिक विकासिय है तथा किसी सुदृढ़ ‘वाद’ के स्थान पर मात्र एक दृष्टिकोण है।

1980 के दशक में जब रिचर्ड एटनबोरो की फिल्म गाँधी प्रदर्शित हुई और गाँधी का नाम संयुक्त राष्ट्र अमेरिका व यूरोप के हर घर में लिया जाने लगा तो लोगों की रुचि एक बार फिर गाँधी में हो आई। फिल्म की सफलता ने युवा पीढ़ी का गाँधी की युक्तियों के प्रति सजग हो जाना सुनिश्चित किया। संयोगवश युवा पीढ़ी में उस समय राज्य की तानाशाही के प्रति रोष था तथा समाज के प्रति मोह भंग होने की अवधारणा को मीडिया द्वारा बढ़-चढ़कर प्रस्तुत किये जाने से हिंसक गतिविधियाँ बढ़ रही थी। यूं तो गाँधी 1980 के दशक से पूर्व भी सामाजिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों तथा विकास के वैकल्पिक पथों को खोजने वाले लोगों में लोकप्रिय थे परन्तु अब आमजनता भी गाँधी द्वारा फिल्म में दिखाई गयी तथा मीडिया द्वारा लोकप्रिय बनाई गई, अहिंसात्मक विरोध की शक्ति के प्रति सजग हो उठी।

1990 के दशक के प्रारम्भिक काल में सम्पूर्ण विश्व के हजारों लोगों के प्रेरणा स्रोत के रूप में गाँधी को पहचाना गया। सभी स्वीकारने लगे कि गाँधी का जीवन व विचार औरों से बिल्कुल ही पृथक् थे। सर्वप्रथम, सोवियत ब्लॉक का गमन हुआ तथा दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति हुई। इससे पोलेन्ड के लेशवालेशा, चैकोस्लोवाकिया के वाक्लेव हेवल तथा दक्षिणी अफ्रीका नेल्सन मण्डेला की कहानियाँ लोकप्रिय हुईं। गाँधी से प्रेरणा लेते हुये, गाँधी की युक्तियाँ अपनाते हुए, इन सभी ने जीतने के लिए संघर्ष किया। दूसरे, सोवियत ब्लॉक के पतन ने अमेरिकी साम्राज्य के उदय का मार्ग प्रशस्त किया तथा विश्व द्वैगुटीय न रह गया। अनेकों वे लोग जो इस एकछत्र साम्राज्य के उदय के विरोधी थे, गाँधी की ओर, प्रेरणा प्राप्त करने के लिये मुड़े ताकि

कार्यविधि व आदर्श का दार्शनिक विकल्प खोजा जा सके। अमेरिकी साम्राज्य व सम्बन्धित मित्र राष्ट्रों के खिलाफ विकासशील राष्ट्रों में संघर्ष को गाँधी की युक्तियों पर ढाला जाने लगा। सम्पूर्ण विश्व में गाँधी की युक्तियों को अपनाया गया : डब्ल्यू टी ओ की मीटिंगें, वर्ल्ड इकनॉमिक फोरम की मीटिंगें, खाड़ी युद्ध का विरोध और अब ईराक युद्ध का विरोध इत्यादि उदाहरण हैं। तीसरे, वैकल्पिक सामूहिक पहचान के रूप में विश्व में उभरते हुये नागरिक समाज में गाँधी को एक महत्वपूर्ण युक्तिकार माना गया जिन्होंने नागरिक समाज को दक्षतापूर्ण ढंग से मांगे मनवाना सिखाया, तथा राज्य के हाथों अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करवाई। चौथे, आतंकवाद के उत्थान ने, जिसका की 9/11 की घटना एक ज्वलन्त उदाहरण है, लोगों को बाध्य किया कि वे गाँधी की अहिंसात्मक संघर्ष की युक्ति को अपनाये। एक हिन्दी फिल्म के सफल होने के कारण गैर राजनैतिक व्यक्तिगत झगड़ों को निपटाने की युक्ति— 'गाँधीगिरी' की लोकप्रियता भारत में अत्यधिक फेल गई। समझा जाने लगा कि वर्तमान युवावर्ग व्यक्तिगत झगड़ों निष्पादन हेतु, गाँधी की युक्तियों को अपनाने के लिये तैयार है।

हीगल तथा ग्रामसकी ने सभ्य एवं नागरिक समाज की अवधारणा को जन्म दिया परन्तु गाँधी वे विद्वान है जिन्होंने आधुनिक युग में इस अवधारणा का दोहन किया। नागरिक समाज के संस्थानों की बढ़ती हुई सत्ता व प्रभावशीलता के साथ गाँधी का एक विचारक व युक्तिकार के रूप में पुनर्जन्म हुआ है। 1990 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था के द्वारा खुलेपन की नीति अपनाये जाने, धर्म आधारित राजनीति का प्रभूत्व, नेहरू के योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था व राज्य केन्द्रित सुधारवाद के पतन, इत्यादि कारणों से भारत वर्ष में गाँधी के विचारों के प्रति लोगों का रुझान बढ़ा। अनेकों विद्वान तो गाँधी को उदारीकरण व वैश्वीकरण की समकालीन बुराईयों का विकल्प व हल मानने लगे हैं। समकालीन पश्चिमी विचारकों तथा रुझानों से गाँधी की तुलनात्मकता पर वर्तमान समय के विश्लेषक प्रकाश डालते हैं। यह विचार अत्यन्त प्रभावशाली है कि अनेकों मुद्दों पर प्रस्तुत गाँधी के विचार, स्थापित पश्चिमी विचारकों की तुलना में कहीं ज्यादा भविष्यपरक है।

11.3 उत्तर आधुनिक विचारधारा एवं गाँधी

यह एक महत्वपूर्ण एवं विवादास्पद प्रश्न है कि गाँधी को उत्तर आधुनिक विचारक माना जाये या नहीं। रूडोल्फ बन्धु एवं निकोल्स गियर गाँधी को एक उत्तर आधुनिक विचारक मानते हैं। रूडोल्फ बन्धुओं ने तो दो प्रमुख कारण एवं उदाहरण, इस विचार के समर्थन में, तथा अपने निष्कर्षों को समर्थन देने के लिये प्रस्तुत किये हैं : प्रथम, आधुनिक सभ्यता पर गाँधी के विचार एवं द्वितीय, उत्तर स्वतंत्रता काल में विकास की दिशा के सम्बन्ध में, 1940 की विकेन्द्रीत विकास हेतु गाँधी – नेहरू का विवाद। रोर्नॉल्ड टरचैक, दूसरी और तर्क देते हैं कि आधुनिकता के विषय पर गाँधी के विचार सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि गाँधी ने आधुनिकता के समानता एवं स्वायत्तता जैसे कुछ ही तत्वों का समर्थन किया है। आधुनिकता के विषय में गाँधी के विचारों पर चिन्तन करते समय हें यह सुनिश्चित करना होगा कि क्या गाँधी के विचार 'परम्परा से प्रेम' से जनित हैं, तथा भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत के प्रति अतार्किक लगाव से जन्में हैं या यथार्थ में गाँधी का रुझान उत्तर आधुनिकता की ओर है। इससे पहले कि हम इस विषय पर अधिक चिन्तन करें, आइए उत्तर आधुनिकता की अवधारणा का मूल्यांकन करें।

उत्तर आधुनिकता की परिभाषा ऐतिहासिक एवं अवधारणा आधारित हो सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से, उत्तर आधुनिकता क्रमशः आधुनिकता के बाद आती है परन्तु आधुनिकता के साथ-साथ चलती है। यह वही स्थिति है जैसी संसार के कुछ भागों में है जहाँ पूर्व आधुनिक स्थितियाँ व्याप्त है जबकि कुछ दूसरे भाग उत्तर आधुनिक स्थिति के साक्षी बन रहे हैं। फ्रेडरिक जैम्सन के अनुसार आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता सांस्कृतिक अवधारणायें हैं जिनका सीधा सम्बन्ध पूंजीवाद के विशिष्ट चरणों से है। प्रथम चरण 18वीं और 19वीं शताब्दी के यूरोप व अमरीका का पूंजीवाद है जहाँ भाप से चलने वाली मशीनें तकनीक पर हावी थी तथा यथार्थवाद कला पर हावी था। दूसरा चरण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी के मध्य तक फैला है। यह एकाधिकार पूंजीवाद तथा बिजली और आन्तरिक ज्वलन वाली मशीनों की तकनीक एवं कला में आधुनिकता का समय है। तीसरा एवं वर्तमानकाल बहुराष्ट्रीय एवं उपभोक्ता पूंजीवाद का काल है जिसमें बिक्री पर बल है न कि उत्पादन पर, जहाँ इलेक्ट्रॉनिक एवं आणविक तकनीक सर्वोपरि है।

सामान्यतया, इतिहास के विद्वान सहमत है, कि आधुनिक काल का प्रारम्भ 18वीं शताब्दी के मध्य में हुआ तथा मानवतावाद एवं व्युत्पन्नता के विचार एक दूसरे के पर्याय है। इस युग में तर्क विज्ञान एवं सत्य पर बल दिया गया तथा साथ ही साथ एक स्थिर एवं सुस्पष्ट जानने योग्य 'स्वयं' को महत्व दिया गया। परन्तु, सभी विद्वान उत्तर आधुनिकता की ऐतिहासिकता एवं निरन्तरता से सहमत नहीं है। हैबरमस का पूर्ण विश्वास है कि आधुनिकता का व्युत्पन्नता वाला दायित्व अभी अधूरा है तथा जब तक कि सभी पूर्व आधुनिक (हैबरमस का अर्थ है 'अतार्किक') संस्थाएँ, आचार, आदतें एवं मूल्य समाप्त नहीं हो जाये हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमने आधुनिक युग में प्रवेश पा लिया है। डेरिडा, रिचर्ड रॉरटी, ल्योटार्ड एवं अन्य इस धारणा से सहमत नहीं है। इनका मानना है कि उत्तर आधुनिकता का युग आ पहुँचा है तथा 1980 के दशक में एक विचारणीय मुद्दा बन चुका है।

उत्तर आधुनिकता से आधुनिकता का भेद करना कठिन है क्योंकि उत्तर आधुनिकता की कोई एक स्पष्ट एवं सरल परिभाषा नहीं है। आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता को एक निरन्तरता के रूप में देखा जाता है। अव्यवस्था के रूप में पूर्व आधुनिक (परम्परागत) एवं आधुनिक दोनों ही से उत्तर आधुनिकता बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि प्राचीन यूनान एवं प्राचीन भारत के विद्वानों के विचारों में आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता दोनों ही के अंशबोजे जा सकते हैं। संसार की पूर्व आधुनिक अवधारणा का आधार हैं – परम्पराएँ, कहानियाँ, कर्मकाण्ड इत्यादि जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक विपदाओं का सामना करने में एवं सामाजिक प्रक्रिया के तार्किकरण में व्यक्तियों की सहायता करती हैं समुदाय का नियंत्रण एवं समुदाय से लगाव अत्यधिक तीव्र होता है एवं व्यक्ति एक स्वायत्त इकाई होने के स्थान पर समुदाय के अंग के रूप में ज्यादा मुखरित है। आधुनिकता अपने साथ ज्ञान के रूप में, तर्क, सार्वभौमिकता व्यवस्था, क्रम, स्वायत्तता, समानता, स्वतंत्रता, वास्तविकता एवं विज्ञान को लाती हैं। आधुनिकता, आवश्यक रूप से औद्योगिकरण, शहरीकरण, पश्चिमीकरण से सीधी जुड़ी हुई नहीं है। उत्तर आधुनिकता व आधुनिकता आपस में विरोधी गुण रखते हैं जबकि पूर्व आधुनिकता को पिछड़ेपन, संकीर्णता, सीमित विकास, स्थानीयता, अंधकार एवं जागरूकता के अभाव से जोड़कर देखा जाता है।

आधुनिकता तार्किक आदतों पर आधारित व्यवस्था एवं क्रम का उपदेश देती है तथा व्यवस्था को समाज के विकास का एकमात्र प्रभावशाली एवं उन्नत तरीका मानती है। इस प्रकार, आधुनिक समाज हर उस वस्तु को रोकता है जिससे अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। अगर किसी भी प्रकार की अव्यवस्था न हो तो समाज ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनके कारण अव्यवस्था फैले ताकि उसे कुचला जा सके। समाज में व्यवस्था एवं स्थिरता बनाये रखने के लिये वृहद् वृत्तान्तों का उपयोग किया जाता है। ल्योटार्ड का तर्क है कि अस्तित्व सुनिश्चित करने हेतु समाज का अपना वृहद् वृत्तान्त होता है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, मार्क्सवाद ने पूंजीवाद के पतन की भविष्यवाणी की तथा बाद में फुकियामा ने वृहद् वृत्तान्त, 'एण्ड ऑफ हिस्ट्री' के रूप में प्रस्तुत किया। वृहद् वृत्तान्त बलपूर्वक इस बात को प्रस्तुत करते हैं : व्यवस्था भली होती है तथा तार्किक होती है, अव्यवस्था अराजकता को जन्म देती है और बुरी होती है।

उत्तर आधुनिकतावाद वृहद् वृत्तान्तों को अस्वीकार करती है तथा स्थानीय घटनाओं, लघु आदतों के सम्बन्ध में लघु वृत्तान्तों की वकालत करती है। उत्तर आधुनिकता स्वयं को स्थानीय परिप्रेक्ष्य तक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सीमित स्थितियों तक ही सीमित रखती है। जॉन बोड्रिलर्ड का तर्क है कि कोई भी स्थिर एवं स्थायी वास्तविकता नहीं होती : मात्र 'सिमुलाकरा' की प्रतियाँ ही अस्तित्व में होती हैं। आधुनिकता में ज्ञान को व्यक्ति को सुसभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने वाली शिक्षा के समकक्ष माना जाता है। उत्तर आधुनिकता में ज्ञान को दक्षता पुनश्चरित बनाने पर तथा प्रशिक्षण को किसी विषय विशेष की दार्शनिक समझ से ज्यादा महत्वपूर्ण बनाने पर बल दिया जाता है। हम भली भाँति यह कह सकते हैं कि हर वो बात जिसका कम्प्यूटरीकरण नहीं किया जा सकता वह ज्ञान नहीं है। उत्तर आधुनिक ज्ञान इस प्रकार सुदृढ़ है, लागू किया जाने योग्य है तथा सुनिश्चित स्थानीय लक्ष्यों पर केंद्रित है। उत्तर आधुनिकता की स्थिति को यह नारा भली-भाँति वर्णित करता है, 'वैश्विक स्तर पर सोचिए परन्तु स्थानीय स्तर पर कार्य कीजिए।'

आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता के भेद पर विस्तृत चर्चा के पश्चात् जब हम रूडोल्फ बन्धुओं के इस दावे पर लौटते हैं कि गाँधी एक उत्तर आधुनिक विचारक थे, तो हमारी सोच उलझन में फस जाती है। समकालीन भारत में जागरूक संगठनों द्वारा, (जो बड़े बाँधों, वनकटाव, एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के खिलाफ प्रदर्शन करते हैं) नेहरू

के औद्योगीकरण व वैज्ञानिक विकास के दृष्टिकोण पर गाँधी के विचारों को सहर्ष स्वीकारा जाता है। इन स्रोतों के आन्दोलनों को उत्तर आधुनिकता का अंग माना जाता है। गाँधी एक जटिल विचारक है तथा उन्हें उत्तर आधुनिक विचारक मान लेना उनके तर्कों को अत्यधिक सरल बना डालने के समान है। गाँधी का एक उत्तर आधुनिक के रूप में आकलन करने के लिये गहन अन्वेषण की आवश्यकता है। गाँधी के विचारों के दोनों पक्षों को, (आधुनिकता पर उनका चिन्तन तथा सत्य का सिद्धान्त) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये विश्लेषित किया जा सकता है।

11.4 आधुनिकता

आइये सर्वप्रथम हम आधुनिकता के विपक्ष में प्रस्तुत गाँधी के तर्कों का अध्ययन करें। अपने गुजराती समाचारपत्र, 'इण्डियन ऑपिनीयन' में रस्किन बॉड की पुस्तक, 'अनटू दिस लास्ट' का सार प्रस्तुत करते समय गाँधी ने लिखा, "यह याद रखा जाये कि पाश्चात्य सभ्यता मात्र सौ साल पुरानी है, या यों कहें कि मात्र पचास साल अगर सटीक उम्र तय की जाये। इस पचास साल की अल्प अवधि में पश्चिमी लोग सांस्कृतिक अराजकता की स्थिति तक पहुँच चुके प्रतीत होते हैं।" यहाँ गाँधी पश्चिमी सभ्यता के आधुनिक काल का जिक्र कर रहे हैं और इस सभ्यता की कार्यप्रणाली के प्रति अपनी असहमती दिखा रहे हैं। वे "सांस्कृतिक पतन" का जिक्र कर रहे हैं जो कि आधुनिकता का परिणाम है। इस अर्थ में गाँधी आलोचनात्मक सिद्धान्तवादियों के अग्रज हैं। हॉर्कहीमर व अडोर्नो ने, "सांस्कृतिक उद्योग" की बात की है। उनका तर्क है कि एक औद्योगिक व आधुनिक समाज में संस्कृति एवं मनोरंजन के मिश्रण से सांस्कृतिक पतन हो जाता है। संस्कृति, सामान्यतया, एक सर्वव्याप्त मूल्य है तथा सामूहिक कार्य है। संस्कृति पर आधुनिकता का, तथा आधुनिकता के द्वारा व्यक्ति, स्वायत्ता व हेतु पर दिये जाने वाले बल के कारण विपरीत प्रभाव पड़ता है।

1950 व 1960 के दशकों में संस्कृति पर मँडराता खतरा एक लोकप्रिय विषय था। अनेकों विद्वान सहमत थे कि आधुनिकता ही इस खतरे का प्रमुख कारण था। इस खतरे के कारण गाँधी बहुत चिंतित थे। 1888 व 1891 के बीच, इंग्लैण्ड में, एक छात्र के रूप में, गाँधी ने शिष्टाचार, पोशाक व नृत्य के अधूरेपन के आधुनिकता के अंग के रूप में अनुभव किया था। जीवन को आधुनिक शैली में जीने की ललक में गाँधी ने स्वयं भी पश्चिमी शैली को अपनाने का एक असफल प्रयास किया था परन्तु शीघ्र ही अपनी गलती महसूस कर ली थी। रमाश्रेय रॉय आधुनिकत सभ्यता पर गाँधी के तीन महत्वपूर्ण गुण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम, गाँधी का विश्वास था कि हिंसा आधुनिक सभ्यता का एक प्राकृतिक गुण है तथा भारत को आत्मरक्षा के लिए, एक ज्यादा श्रेष्ठ और बिल्कुल भिन्न माध्यम की आवश्यकता है। दूसरे, गाँधी एक नैतिकतावादी के रूप में आधुनिक सभ्यता की बुराईयों के खिलाफ प्रतिक्रिया दिखा रहे थे तथा उन्होंने सघन सामाजिक विश्लेषण के माध्यम से परिणाम निकालने का प्रयास नहीं किया। तीसरे, आधुनिक सभ्यता पर गाँधी के विचार परिपूर्ण है। अधिकतर आलोचक आधुनिकता के आधारभूत दर्शन पर कोई प्रश्न नहीं उठाते हैं और मात्र आधुनिकता के कुछ स्वरूपों को परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप वे आधुनिकता के ही किसी एक स्वरूप के पक्षधर बन अपने चिन्तन के अन्त तक पहुँच जाते हैं और आधुनिकता का कोई विकल्प नहीं दे पाते हैं। रॉय के अनुसार गाँधी का मत बिल्कुल भिन्न है: 'आधुनिक सभ्यता के सामान्य अर्थों एवं केन्द्रीय अनुमानों को गाँधी पूरी तरह अस्वीकारते हैं। आधुनिक सभ्यता का अतिमहत्वपूर्ण केन्द्र क्या हो सकता है इसके सम्बन्ध में गाँधी की अपनी अलग अवधारणा है। वे एक बिल्कुल ही भिन्न महत्वपूर्ण केन्द्र के प्रति कटिबद्ध हैं और यही सोच गाँधी के विचारों को पूर्ण तथा अन्य आलोचकों के द्वारा अस्वीकार कर दिये जाने को निश्चित बनाती है।'

यह स्वीकारना कठिन है कि आधुनिकता पर गाँधी के विचार पश्चिम की सामाजिक स्थितियों की समझ पर आधारित नहीं है तथा मात्र नैतिकतावादी एवं गाँधी की स्वयं की ही सोच से जनित हैं। मानव की मशीनों पर बढ़ती हुई निर्भरता, अमानवीकरण व विमुखता के कारण गाँधी ने आधुनिकता के विद्वंसकारी परिणामों को जाना। जीवन के पश्चिमी तौर-तरीकों का गाँधी को वास्तविक अनुभव ही नहीं था बल्कि पश्चिमी रचनाओं के सम्पर्क में आने से गाँधी को बढ़ावा भी मिला। वे पश्चिमी संस्थाओं व संस्थानों के सम्पर्क में भी आये तथा इनसे आधुनिकता की सर्वव्याप्त विचारधारा के खिलाफ विरोध करना सीखा क्योंकि इन संस्थानों ने आधुनिकता के हाथों मानवता के विद्वंसकारी परिणामों का भौंप लिया था।

दार्शनिक आधार पर आधुनिकता को स्वार्थसिद्धिवाद से समर्थन मिलता है जो स्वयं भौतिकवादी विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। बेन्थम के स्वार्थसिद्धिवाद पर गाँधी की आलोचनात्मकता का आधार मानव के सम्बन्ध में गाँधी की दार्शनिक समझ है। अगर हम यह माने कि इन्द्रियजन्य आनन्द तथा भौतिक प्राप्ति ही इन्सानी जीवन का एकमात्र उद्देश्य है तब तो समाज को स्वार्थसिद्धि के सिद्धान्त पर व्यवस्थित किया जा सकता है और राज्य को कल्याणकारी राज्य बनाया जा सकता है जो अपने नागरिकों की भौतिकतावादी इच्छाओं की पूर्ति कर सके। परन्तु गाँधी के समान, हम भी यह विश्वास करें कि मानवीय जीवन का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है तो स्वार्थसिद्धिवाद राज्य की एक अच्छी नीति नहीं कही जा सकती है।

इंग्लैण्ड में, अपने विद्यार्थी काल में गाँधी मतभेद के स्वरो से परिचित हो चुके थे। गाँधी ने बेन्थम की, 'थ्योरी ऑफ यूटिलिटी' को नकारा तथा हैनरी सॉल्ट के, 'प्ली फोर वेजिटेरियन्जिज़्म' को सराहा। यह गाँधी के आधुनिकता विरोधी सोच का पहला चिन्ह था। गाँधी ने होवर्ड विलियम्स की रचना, 'द एथिक्स ऑफ डाईट', डॉक्टर आना किंग फोर्ड की रचना, 'द परफैक्ट वे इन डाइट' तथा डॉक्टर एलिनसन् की अनेकों रचनायें पढ़ी। यह सभी पुस्तकें शाकाहारिता के सम्बन्ध में गाँधी की सोच का समर्थन करती हैं। उस समय मांस का भक्षण प्रचलित था तथा किसी न किसी तरीके से समाज के उच्चतम वर्ग से जुड़ा हुआ था और इस प्रकार आधुनिक कहा जा सकता था। गाँधी का शाकाहार के प्रति रुझान (जिसे अब उत्तर आधुनिक माना जाता है) आधुनिकता विरोधी था क्योंकि गाँधी ने आधुनिकता को हिंसा से जोड़कर देखा था और शाकाहार में हिंसा बिल्कुल नहीं है या बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ती। आधुनिकता पर गाँधी की आलोचनात्मक रचनायें इस अर्थ में पूर्ण नहीं कही जा सकती कि आधुनिकता के कुछ स्वरूपों को गाँधी ने सराहा : उदाहरणार्थ गाँधी द्वारा व्यक्ति, स्वायत्ता, समानता पर दिया गया बल।

गाँधी ने इस शब्द, 'आधुनिकता' का उपयोग नहीं किया परन्तु उन्होंने पश्चिमीकरण और सभ्यता जैसे शब्दों का प्रयोग किया क्योंकि ये दोनों शब्द उस समय के विद्वानों द्वारा प्रयोग में लिये जाते थे। विद्वानों का विश्वास था कि विज्ञान एवं तकनीकी उन्नति के परिणामस्वरूप होने वाले सामाजिक-राजनैतिक एवं सांस्कृतिक-आर्थिक मूल्य, संस्थाएँ, एवं प्रक्रियाएँ ही सभ्यता का निर्माण करती हैं। गाँधी के अनुसार वह सभ्यता जो आधुनिक सिद्धान्तों पर निर्मित हो, शैतानी सभ्यता होगी। सभ्यता की वह परिभाषा जो गाँधी ने दी है वह बहुत रुचिकर है : 'सभ्यता आचरण का वह तरीका है जो इन्सान को कर्तव्य का पथ दिखलाता है। कर्तव्य पूर्ति एवं नैतिक आचरण आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। नैतिक आचरण का अर्थ है अपने मस्तिष्क, भावनाओं एवं इच्छाओं पर विजय। ऐसा करते हुये हम स्वयं को जान जाते हैं। सभ्यता शब्द का गुजराती भाषा में अगर अनुवाद करें तो वह है, "अच्छा आचरण।" इसके ठीक विपरीत, वह सभ्यता जो आधुनिकता पर आधारित हो, एक बيمारी है क्योंकि, "वह न तो नैतिकता की ओर ध्यान देती है और न ही धर्म की ओर। उसके समर्थक शान्तचित्त से यही कहते हैं कि धर्म की शिक्षा देना उनका दायित्व नहीं है। कुछ तो इसे अन्धविश्वास रूपी शाखा भी मानते हैं। कुछ अन्य धार्मिक चोगा धारण कर नैतिकता के सम्बन्ध में बकवास करते हैं। सभ्यता तो बस शारीरिक आराम को बढ़ावा देने का प्रयास करती हुई प्रतीत होती है परन्तु इस कार्य में भी बुरी तरह से असफल हो जाती है।" इस प्रकार गाँधी आधुनिकता की सीमाओं की ओर इशारा करते हैं और सुझाते हैं कि अन्ततः वह अपने ही लक्ष्य की पूर्ति में असफल हो जाती है।

आधुनिकता की नास्तिकता के सम्बन्ध में भी गाँधी ने आलोचना की। गाँधी का प्रभू, नैतिकता, धर्म में विश्वास था एवं एक ऐसे समाज में रहना जो समाज इन सब आदर्शों में विश्वास न रखता हो, व्यर्थ था। उनके अनुसार प्रभू एक पराभौतिक इकाई नहीं है बल्कि एक नैतिक बिम्ब है एवं एक वास्तविकता है। इस्लामिया महाविद्यालय के एक प्रोफेसर से साक्षात्कार में गाँधी ने प्रभू पर अपने विश्वास को इन शब्दों में समझाया : "प्रभू के अस्तित्व के सम्बन्ध में मेरा विश्वास अडिग है और मैं इससे भी ज्यादा निश्चितता के साथ उसके अस्तित्व के बारे में कह सकता हूँ जितनी की निश्चितता इस बात की है कि मैं और आप इस कमरे में एक साथ बैठे हैं। मैं हवा और पानी के बिना रह सकता हूँ परन्तु प्रभू के बिना नहीं। अगर आप मेरी आँखें भी निकाल ले और नाक भी काट डालें तो भी मैं नहीं मरूंगा परन्तु मुझसे मेरा प्रभू के प्रति विश्वास छीन लिया जाये तो तुरन्त मर जाऊँगा।" गाँधी के लिये धर्म विभाजनवाद या धार्मिक कर्मकाण्डों का पर्याय नहीं है। गाँधी ने धर्म को नैतिकता का पर्याय माना है : "नैतिक शिक्षा के बिना धर्म मात्र एक प्राक्थन है जिसे तुरन्त एवं तेजी से पढ़कर समाप्त

कर देना चाहिए।" यद्यपि गाँधी राज्य समर्थित धर्म के पक्ष में नहीं थे एवं पंथनिरपेक्ष राज्य (यह एक आधुनिक अवधारणा है) में उनका विश्वास था तदपि वे ऐसी राजनीति के जो सरलता, नैतिकता, सार्वजनिक जीवन में स्वैच्छिक अपरिग्रह का समर्थन करती हो के आध्यात्मिकरण के पक्षधर थे।

1939 में अपनी रचना, 'हरिजन' में अपनी दूसरी रचना, 'हिन्द स्वराज' का हवाला देते हुये गाँधी ने पाठको को चेताया कि इस पुस्तक में आधुनिकता की आलोचना को परम्परावाद की ओर वापसी का तर्क नहीं माना जाना चाहिए : "इस पुस्तक को समझना अत्यधिक सरल है परन्तु यह महसूस करना भी जरूरी है कि यह पुस्तक अज्ञान, अंधकारमयी युगों में लौटने का प्रयास नहीं है परन्तु स्वैच्छिक सरलता, गरीबी एवं धीमेपन में सौन्दर्य को देखने का प्रयास है। मैंने उसे अपने आदर्श के रूप में देखा है मैं तो कभी भी स्वयं उस तक नहीं पहुँच पाऊंगा और इसीलिये राष्ट्र से उस तक पहुँचने की आशा भी नहीं कर सकता हूँ। विविधता की चाह, हवा में ऊपर उड़ना, इच्छाओं का आधिक्य इत्यादि वे चीजें जिनके लिये हर आधुनिक बेचैन रहता है, यह सब मेरे लिये व्यर्थ है और कोई आकर्षण नहीं है।" यह कथन स्पष्ट दर्शाता है कि गाँधी सजग थे कि आधुनिकता के उनके आलोचनात्मक विचारों को पूर्व आधुनिक युग की ओर लौटने का तर्क मानने की गलती पाठक कर सकते हैं। इस आरोप को कि वे हर पूर्व आधुनिक वस्तु की प्रशंसा करते हैं, गाँधी ने खारिज किया है। पारेल के अनुसार, "यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि आधुनिक सभ्यता के प्रति गाँधी का दृष्टिकोण पूरी तरह नकारात्मक नहीं है। आलोचना के विषय (आधुनिक सभ्यता) में सुधार किये जाने की सिफारिश गाँधी ने की। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता के अनेकों योगदानों का— नागरिक स्वतंत्रता, समानता, अधिकार, जीवन की आर्थिक स्थिति को सुधारने की संभावना, परम्परा से स्त्रियों की मुक्ति, धार्मिक सहनशीलता इत्यादि का गाँधी ने स्वागत किया है। साथ ही साथ यह स्वागत विशिष्ट स्थितियों में ही लागू है जैसे कि स्वतंत्रता को स्वराज के साथ तालमेल बनाना होगा, अधिकारों को कर्तव्यों के साथ सांसारिक ज्ञान को नैतिक अर्न्तदृष्टि के साथ आर्थिक विकास को आध्यात्मिक उन्नति के साथ, धार्मिक सहनशीलता को धार्मिक विश्वास के साथ तथा स्त्रियों की स्वतंत्रता को मानवता की विस्तृत अवधारणा की मांगों के साथ।"

अगर गाँधी आधुनिकता को सुधारना चाहते थे तो उन्हें उत्तर आधुनिक कहा जा सकता है। उन्हें सुधरे हुये आधुनिकतावादी का नाम भी दिया जा सकता है। उन्होंने हिन्दुत्व को, इस सीमा तक जिसकी कि रूढ़िवादी हिन्दुओं ने कभी आशा नहीं की थी, सुधारा। हिन्दु धर्म को आधुनिक बनाने के गाँधी के प्रयास का यह अच्छा उदाहरण है। हिन्दु धर्म को समकालीन बनाते हुये तथा धर्म के कर्मकाण्डी स्वरूप से आध्यात्मिक स्वरूप को भिन्न बनाते हुये गाँधी ने धर्म की अपनी अवधारणा में कुछ आधुनिक गुण जोड़े। 'धर्म' की गाँधी की अवधारणा यह थी कि वह कर्तव्य एवं दायित्व की पूर्ति करना सिखाये। गाँधी ने कहा, "मेरे लिये नैतिकता और धर्म आपस में पर्याय है। धर्म की पृष्ठभूमि के बिना एक नैतिक जीवन ऐसे है जैसे रेत पर बना हुआ बिना नींव का घर। नैतिकता विहीन धर्म मात्र एक पीतल का घण्टा है जिसे बजाया जा सकता है और लोगों का सर फोड़ा जा सकता है। नैतिकता में सत्य, अहिंसा एवं संयम सम्मिलित है। हर वो गुण जिसे मानवता परखती आई है, इन्हीं तीन आधारभूत गुणों से जन्में हैं। अहिंसा एवं संयम दोनों सत्य से जन्में हैं और सत्य ही मेरे लिये प्रभू है।" धर्म को नैतिकता के रूप में देखने पर दिया गया गाँधी द्वारा बल तथा धर्म के सार को प्रेम, करुणा, सेवा, बलिदान एवं भ्रातृत्व के सार्वभौमिक सिद्धान्तों के रूप में देखना इंगित करता है कि गाँधी ने नास्तिक न बनकर भी धर्म को पंथनिरपेक्ष बनाया। धर्म को पूरी तरह नैतिकता बना देना एक आधुनिकतावादी प्रयास है। गाँधी का अन्वेषणवादी विचार तथा व्यक्ति विशेष पर बल देने वाला नैतिक ज्ञान, व्यक्ति का अस्तित्व एवं सत्य की अनुभवजनित धारणायें, स्वतंत्रता, विश्वास, करुणा एवं प्रेम व्यक्ति को समान मुद्दों की याद दिलाते हैं जिन्हें अस्तित्वतावादियों (आधुनिक विचार की एक और शाखा) के द्वारा अनुभव किया गया।

आधुनिक लोकोक्तियों व मुहावरों को गाँधी ने अपनाया। इस कारण कुछ विद्वानों ने यह कहा कि गाँधी आधुनिकता के कहीं ज्यादा ऋणी हैं जितना कि उनके बारे में सोचा जाता है। गाँधी की अर्न्तदृष्टि ने उन्हें बढ़ते हुये मशीनी उपयोग के कारण मानव श्रम के परित्याग से जनित आधुनिकता के खतरों के सम्बन्ध में सजग बनाया। उनका विश्वास था कि मशीनें अपने चारित्रिक गुणों को इन्सानों पर थोपती है और इस प्रकार मशीनें चलाते-चलाते इन्सान का भी अमानवीकरण हो जाता है तथा कलात्मक व सप्लनात्मक क्षमताएँ नष्ट हो जाती हैं। बढ़ते हुये मशीनी उपयोग के खिलाफ गाँधी ने आर्थिक दृष्टि से विरोध किया। परन्तु इस उपयोग के खिलाफ

गाँधी के नैतिक विरोध ज्यादा बलशाली थे खास तौर पर अगर हम वैश्वीकरण के इस युग के परिप्रेक्ष्य में सोचें तो। उन्होंने चेताया कि बढ़ता हुआ औद्योगीकरण एवं मशीनीकरण मानव के नैतिक विकास में अवरोध है। किसी भी सभ्यता के विकास का पैमाना उसकी नैतिक गुणवत्ता पर आधारित होता है न कि भौतिक। उन्होंने कहा “सभ्यता गुणात्मक वृद्धि में निहित नहीं है बल्कि इच्छाओं व मांगों की स्वैच्छिक एवं सूझबूझपूर्ण कमी में।”

आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण गुण है हेतुवाद। बारम्बार गाँधी ने बल दिया कि विश्वास के माध्यम से वे अपनी अनेकों समस्याओं को सुलझा पाये तथा महत्वपूर्ण निर्णय ले पाये। तर्क की अपनी ही सीमाएँ हैं और इसीलिए जीवन में सही निर्णयों के लिये प्रभू में जीवन्त विश्वास परमावश्यक है। गाँधी ने कहा, “कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनके सम्बन्ध में तर्क बहुत ज्यादा प्रभावी साबित नहीं होता है तथा विश्वास पर निर्भर करना पड़ता है। ऐसा करते समय विश्वास तर्क का विरोधी नहीं बनता बल्कि तर्क से ऊपर उठते हुये उससे बड़ा बन जाता है। विश्वास तो एक प्रकार से छठी इन्द्रि है जो उन मुद्दों में काम में लिया जा सकता है जो मुद्दों तर्क से परे हो।”

विश्वास की परिभाषा दृष्टिकोण के आधार पर उत्तर आधुनिक है। वह अंधविश्वास की ओर लौटने के समान नहीं है। विलियम जेम्स ने विश्वास को उचित ठहराया है क्योंकि वह कष्ट को अर्थ एवं कष्ट के परिणाम दे सकता है। गाँधी स्वीकारते थे कि तर्क एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है जो मानव को दूसरे प्राणियों से भिन्न बनाता है। फिर भी गाँधी के अनुसार तर्क मात्र एक सेवक के रूप में उपयोगी है स्वामी के रूप में नहीं। उन्होंने इस तथ्य को स्वीकारा कि अनुभव ने उन्हें पर्याप्त रूप से विनम्र बना दिया है और वे तर्क की विशिष्ट सीमाओं को जान गये हैं। सामाजिक सुधारों के सम्बन्ध में, स्वामी दयानन्द सरस्वती के खिलाफ विवाद से बचने के लिए लोगों से याचना करते समय गाँधी ने, ‘यंग इण्डिया’ (1926) में लिखा, “हेतुवादी लोग प्रशंसनीय होते हैं। हेतुवाद एक भयानक दैत्य बन जाता है जब वो सर्वशक्तिमान बनने का प्रयास करता है। तर्क को सर्वशक्तिशाली होने का गुण प्रदान करना उसी प्रकार बुरा है जिस प्रकार पत्थर या लकड़ी के टुकड़े को प्रभू मानकर पूजना कृकृ। मैं तर्क को कुचलने की वकालत नहीं करता परन्तु हमारे आत्मा की उस शक्ति को जो तर्क को पवित्र बनाती है, एक उचित पहचान मिले।” टॉमस अक्विनस के समान गाँधी भी विश्वास को तर्क का विकल्प नहीं बताते हैं बल्कि तर्क की पूर्णता मानते हैं। सांसारिक मामलों में एक सीमा तक ही तर्क सहायक हो सकता है परन्तु अनेकों ऐसी स्थितियाँ बन जाती हैं जहाँ तर्क भी निर्णय लेने में असफल हो जाता है।

गाँधी के विचारों में तर्क से परे उठ जाना वेसे ही है जैसे आधुनिकता से ऊपर उठ जाना। आमतौर पर गाँधी की तुलना आधुनिकता की आलोचना के आधार पर जॉन रस्किन एवं लियो टॉल्स्टॉय से की जाती है। यह जानना बहुत रुचिकर है कि आधुनिकता पर आक्रमण करते समय गाँधी रूसो के अतिनिकट पहुँच जाते हैं। रूसो ने, “द डिस्कोर्सेज़ ऑन द ओरिजन ऑफ़ इनइक्वेलिटी” में सभ्यता का विश्लेषण किया है। दोनों ने स्वतंत्रता, समानता, नैतिकता की आवश्यकता पर बल दिया है और बलपूर्वक कहा है कि समाज में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विकास से भी ज्यादा महत्वपूर्ण मानव स्वयं है। इस प्रकार गाँधी उत्तर आधुनिक समाज के लिये एक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करते हैं परन्तु वे स्वयं अपनी बाध्यताओं के कारण तर्कपूर्वक वहाँ नहीं पहुँच पाये।

11.5 सत्य

आधुनिकता भी उस सत्य का समर्थन करती है जो सार्वभौमिक होता है तथा वैज्ञानिक दृष्टि से जिस तक पहुँचा जा सकता है। वह सत्य मानवीय तर्क के द्वारा समझा जा सकता है तथा आधारभूत ज्ञान देता है जिसे सार्वभौमिक एवं वास्तुनिष्ठ बनाया जा सकता है। गाँधी का सत्य का सिद्धान्त जटिल है तथा अनेकों अर्थों को और कई बार तो आपस में विरोधी अर्थों को जन्म देता है। सत्य का यह सिद्धान्त गाँधी के दर्शन हेतु उनके अहिंसा के सिद्धान्त से भी ज्यादा आधारभूत है। हर मानवीय गतिविधि का लक्ष्य सत्य तक पहुँचना होता है तथा सत्य सर्वव्याप्त है। सत्य नामक यह शब्द संस्कृत के, ‘सत्’ से लिया गया है जिसका अर्थ होता है वास्तविकता या वास्तविकता का होना। इस प्रकार गाँधी ने बलपूर्वक कहा कि सत्य के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं होता है। सत्य का अस्तित्व किसी पदार्थ विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है परन्तु हर पदार्थ के अस्तित्व से है।

गाँधी के सत्य के सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुये सुरेन्द्र वर्मा कहते हैं, “हम यह घोषणा नहीं कर सकते हैं कि सत्य उसी प्रकार अस्तित्व में रहता है जिस प्रकार कोई वस्तु अस्तित्व में रहती है। सत्य कोई घटना भी

नहीं है। वह कोई सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि हर सम्बन्ध पूर्ववर्ति सम्बन्धों के अस्तित्व को मानकर चलता है। सभी वस्तुओं के अस्तित्व के पुर्वानुमान के रूप में सत्य को किसी प्रस्ताव के रूप में भी नहीं देखा जा सकता है क्योंकि वह कायम रहता है और असत्य नष्ट हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि इनमें से किसी भी वास्तविकता को सत्य का नाम नहीं दिया जा सकता है। वह तो सत्य की वास्तविकता है जो वस्तुओं को अस्तित्व में लाती है, घटनाओं को घटित करवाती है, सम्बन्ध बनते हैं और प्रस्तावों को वास्तविकता में बदला जा सकता है।”

गाँधी के लिये सत्य एक परम मूल्य है एवं अपरिवर्तनीय नियम है जो ब्रह्माण्ड पर शासन करता है और क्रम एवं व्यवस्था बनाता है। सत्य के अंश के बिना कोई भी मानव जीवित नहीं रह सकता है। संभव है कि व्यक्ति असत्य विचारों और गतिविधियों में लिप्त रहे परन्तु सत्य का अंश सदैव उसमें रहेगा और इस प्रकार सत्य की खोज तर्कसंगत एवं स्वाभाविक है। परम सत्य एवं निर्भर सत्य में गाँधी स्पष्ट भेद करते हैं। परम सत्य वह सम्भू सिद्धान्त है जो अपने अन्दर अनेकों सिद्धान्तों को समेटे हुये है। यह सत्य न केवल हमारी अवधारणा का वह निर्भर सत्य है बल्कि शाश्वत सिद्धान्त है। यह मानव के आचरण की रूपरेखा है जिसे एक जीवन में पूरी तरह प्राप्त कर लेना लगभग असम्भव है। गाँधी कहते हैं, “जब तक मैं परम सत्य को न पा लू तब तक मुझे निर्भर सत्य को पकड़े रखना होगा। वह निर्भर सत्य इस अवधि में मेरा मार्गदर्शक, मेरी ढाल एवं कवच बनकर कार्य करेगा।”

सत्य को केवल तर्क और बुद्धि के बल पर नहीं समझा जा सकता है इसीलिये गाँधी ने, सत्य के विभिन्न पक्षों को स्वीकारते समय, सहनशीलता की वकालत की है। जोन बोन्डुरेन्ट की टिप्पणी है, “गाँधी ने सत्य को परम अर्थ में जान लेने का कभी दावा नहीं किया। उन्होंने दूसरों को बारम्बार याद दिलाया कि इन्सान सत्य को पूरी तरह जान लेने में अक्षम है और इसीलिये उन लोगों के दृष्टिकोणों को समझना परमावश्यक है जो विचारों के आधार पर मतभेद रखते हैं।”

सत्य के प्रति गाँधी का दृष्टिकोण व्यापक है, बहुआयामी है, सर्वव्याप्त है एवं प्रेम, प्रभू एवं अहिंसा का दूसरा रूप है। उनके सभी विचार केवल सत्य की अवधारणा के आधार पर अर्थपूर्ण एवं सुग्राह्य बन जाते हैं। वे कहते हैं, “मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं सत्य के सिद्धान्त को अहिंसा के सिद्धान्त से भी ज्यादा भली-भाँति समझता हूँ तथा मेरे अनुभव मुझे बताते हैं कि अगर मैं सत्य की पकड़ ढीली कर दूँ तो मैं अहिंसा की पहेलियों को कभी भी सुलझा नहीं पाऊँगा।”

गाँधी के सत्य का सिद्धान्त, किसी भी दूसरे सिद्धान्त के समान अनेकों अर्थों के आधार पर खुला है। फिर भी, अनेकों ऐसे तर्क हैं जो इस निर्धारण में हमारी सहायता करते हैं कि गाँधी के सत्य का सिद्धान्त विषयवस्तु के आधार पर उत्तर आधुनिक है। प्रथम, गाँधी स्वयं सत्य की उस अवधारणा से असन्तुष्ट थे जो दर्शन की उस शाखा से सम्बन्ध रखती है जो ज्ञान के अध्ययन से सम्बन्धित है तथा जो तर्कसंगत एवं बखान से परे है। सत्य के आधारभूत और परमावश्यक चारित्रिक गुण गाँधी को सन्तुष्ट नहीं करते हैं। गाँधी इस तार्किक समझ को नहीं स्वीकारते कि इस ब्रह्माण्ड का पहचान करने योग्य एवं स्वाभाविक एवं प्राकृतिक सत्य है। वे, इसके ठीक विपरीत, सत्य की उस वास्तविकता में अधिक रूचि लेते हैं जो परम वास्तविकता वह अस्तित्व से जुड़ी है और मानवीय वास्तविकता एवं बहुआयामी स्वरूप को समेटे हुये है। सत्य की वस्तुपरकता एवं चेतना विशिष्ट रूप से गाँधी के विचारों के समतुल्य है।

दूसरे, परमसत्य के अस्तित्व को स्वीकारते हुये, गाँधी कुछ शंकालु हो उठते हैं: क्या मानवीय जीवन में परम सत्य को पाया जा सकता है? सत्य तो वह सितारा है जो मानवीय मुद्दों में इन्सान को मार्ग दिखाता है एवं स्वार्थसिद्धि का मूल्य रखता है। गाँधी का विश्वास था कि सत्य को एक विषय की आवश्यकता होती है, जिसके बिना सत्य का कोई अर्थ नहीं है। वह विषय जो सत्य को परिभाषित करता हो उसे अनुभव किया जा सकता है तथा जीवन में उतारा जा सकता है। इसके लिये स्वयं से एवं दूसरों से निरन्तर आदान-प्रदान की आवश्यकता पड़ती है। एक व्यवहारिक इन्सान के रूप में गाँधी ने अक्सर स्वीकारा है कि वे, “सत्य से सत्य तक बढ़ते गये।” सत्य की उनकी खोज ने वस्तुओं के प्रति अनिरन्तरता का गुण दिया। वे स्वीकारते हैं, “जब मैं लिखता हूँ तो यह कभी नहीं सोचता कि मैंने पहले क्या कहा है। मेरा लक्ष्य यह नहीं है कि मैं अपने पूर्ववर्ती कथनों के प्रति किसी निश्चित मुद्दे पर निष्ठा बनाये रखूँ परन्तु सत्य के प्रति निष्ठा बनाये रखूँ। परिणामस्वरूप

में सत्य से सत्य तक निरन्तर बढ़ता रहा हूँ।" गाँधी हिडीगर के इस कथन से सहमत होते कि सत्य का जन्म तब होता है जब मानव संसार की प्रक्रियाओं में खुलकर भागीदारी निभाता है। हिडीगर के अनुसार, "न्यूटन के सिद्धान्त, विरोध का सिद्धान्त, कोई भी सत्य तब तक ही सत्य है जब तक कि मानवीय वास्तविकता अस्तित्व में है।"

तीसरे, गाँधी के लिये सत्य प्रेम, प्रभू अहिंसा इत्यादि वे सभी तत्वों का, जो सत्य के अस्तित्व वाले पक्ष को उजागर करते हैं, का पर्याय है। सत्य का लचीला स्वरूप गाँधी को स्वीकार्य था और इसीलिये एक उत्तर आधुनिक के रूप में गाँधी को देखा जा सकता है।

11.6 20वीं शताब्दी में गाँधी

गाँधी अनेकों आलोचकों के आंकलन के प्रति खुले हैं तथा गाँधी का सार्वभौमिक आकर्षण नये दृष्टिकोणों को आमंत्रित करता रहता है और उनके विचारों के नये क्षितिजों की खोज को बढ़ावा देता है। आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की सीमाओं को तोड़ते हुये गाँधी पूर्वी दर्शन का केन्द्र बिन्दु बन चुके हैं। ऐतिहासिक व अन्य विश्लेषण कोई स्पष्ट निर्णय नहीं दे पाते कि गाँधी को आधुनिक कहा जाये या उत्तर आधुनिक। गाँधी के विचारों में ऐसे तत्व भी हैं जिनसे लगता है कि वे भारतीय समाज को सुधारने का प्रयास कर रहे थे तथा बुराईयों अंधविश्वासों, दुःखदायी आदतों के साथ किसी आधुनिकतावादी के समान जोश के साथ जूझना चाहते थे। छूआछूत, बालविवाह, जातिवाद, के खिलाफ उनकी लड़ाई दरअसल एक परम्परावादी समाज में समानता, न्याय (दोनों आधुनिक अवधारणायें हैं) की लड़ाई थी।

गाँधी ने सदा कहा, "व्यक्ति उनके लिये सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है।" अगर व्यक्ति को सुधार एवं योजना का लाभ न मिले तो समाज सुधार के सभी प्रयास व्यर्थ हैं। गाँधी ने किसी भी कृत्य के सही या गलत होने की कसौटी उस कष्ट का गरीबों में सबसे गरीब व्यक्ति के प्रति लाभ देना माना है। रोल्सन की शब्दावली में वह व्यक्ति जो समाज में सबसे गरीब है उसे कहा जा सकता है, "सबसे कम प्राप्त व्यक्ति।" व्यक्ति विशेष की स्वतंत्रता, स्वायत्तता दोनों ही आधुनिक अवधारणायें हैं। धर्म पर गाँधी के विचार (और खासतौर से हिन्दु धर्म पर) धर्म के तार्किक आधार पर बल देते हैं। उन्होंने कहा, "मैं हर उस धार्मिक सिद्धान्त को अस्वीकार करता हूँ जो तर्कसंगत नहीं होता और नैतिकता का विरोधी होता है। मैं अतार्किक धार्मिक भावना को भी तब स्वीकार कर लेता हूँ जब वह अनैतिक नहीं होती है।"

गाँधी ने कहा कि वे हिन्दु शास्त्रों से किसी भी विचार को तब तक स्वीकार नहीं करेंगे जब तक कि वे सार्वभौमिक स्तर पर स्वीकार्य नैतिकता के अनुरूप न हो। गाँधी हिन्दु शास्त्रों में वर्णित छूआछूत की प्रथा पर कटाक्ष कर रहे थे। धर्म के परिप्रेक्ष्य में, गाँधी का यह सुधारवादी साँचा उन्हें एक आधुनिक विचारक बनाता है।

11.7 सारांश

गाँधी को उत्तर आधुनिक कहने के भी अनेकों कारण हैं। आधुनिकता पर उनकी आलोचनात्मक रचनाएँ एवं उनका सत्य का सिद्धान्त इस दावे का समर्थन करते हैं कि गाँधी एक उत्तर आधुनिक थे। परन्तु गाँधी का व्यक्ति विशेष का सिद्धान्त एवं स्वायत्तता की ओर रुझान उन्हें एक आधुनिक बनाता है। गाँधी का दर्शन खुला है और प्रकृति से अन्वेषणवादी है। यह दर्शन गाँधी को किसी भी एक ज्ञात दार्शनिक धारा का प्रतिनिधि बनने से रोकता है। गाँधी ने स्वयं इन्कार किया कि उनके पास कुछ नया सिखाने के लिये है। उन्होंने दावा किया कि वे किसी भी 'वाद' को नवसृजित नहीं करेंगे और न ही उनके विचारों को प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है। उन्होंने कहा, "गाँधीवाद नामक कोई वाद नहीं है मेरा सारा दर्शन अगर उसे दर्शन कहा जा सके, मेरी बातों में निहित है। आप इसे गाँधीवाद कहकर बिल्कुल नहीं पुकारेंगे क्योंकि इसमें कोई वाद है ही नहीं। किसी भी प्रकार के विस्तृत साहित्य या प्रचार-प्रसार की आवश्यकता मेरे विचारों को फेलाने के लिये नहीं है।" इसीलिये यह निष्कर्ष निकालना सही होगा कि गाँधी के विचारों के कुछ तत्व आधुनिक हैं तथा कुछ उत्तर आधुनिकता के निकट हैं। परन्तु उस परम्परागत परिप्रेक्ष्य में, जिसमें गाँधी जिये, गाँधी को निश्चित रूप से विचारों एवं कृत्य के आधार पर, एक क्रांतिकारी एवं योजनाकार माना जा सकता है। वे किसी भी दृष्टि से एक रूढ़िवादी नहीं थे।

11.8 अभ्यास प्रश्न

1. उत्तर आधुनिकता एवं गाँधी की सम्बन्धता की व्याख्या कीजिये।
2. गाँधी पर हुये अध्ययन कार्यो की समीक्षात्मक विवेचना कीजिये।
3. आधुनिकता की गाँधीवादी आलोचना कीजिये।
4. 20वीं सदी में गाँधी की प्रासंगिकता का उल्लेख कीजिये।
5. गाँधी पर हुये अध्ययन कार्यो की समीक्षात्मक विवेचना कीजिये।

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एंथोनी जे. परेल : गाँधी, फ्रीडम एण्ड द सेल्फ रूल, विस्तार, नई दिल्ली, 2002
2. एंथोनी कुप्ले एण्ड जार्ज पक्टन (सम्पादित) गाँधी एण्ड दी कन्टेम्प्रेरी वर्ड, इण्डो ब्रिटिश हिस्टोरिकल सोसाइटी, चेन्नई, 1997
3. भूखू पारीख : गाँधी : ए वेरी शार्ट इन्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड, नई दिल्ली, 1997

गाँधी एवं समाजवाद

इकाई रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 गाँधी का सामाजवादी चिन्तन

12.3 गाँधीवादी सामाजवाद के सिद्धान्त

12.3.1 गरीबी उन्मूलन और आत्म विश्वास का विकास

12.3.2 आर्थिक समानता

12.3.3 समान वितरण

12.3.4 अहिंसक अर्थ-व्यवस्था

12.3.5 जोते उसकी जमीन

12.3.6 संरक्षता का सिद्धान्त

12.3.7 समाजवाद में सत्य और अहिंसा

12.3.8 अहिंसक पृष्ठबल-सत्याग्रह

12.3.9 अहिंसक राज्य

12.3.10 शान्ति सेना

12.4 सारांश

12.5 अभ्यास प्रश्न

12.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन पश्चात निम्नलिखित के बारे में विद्यार्थी आपना समझ विकसित कर सकेंगे :-

- गाँधीजी चिन्तन में समाजवादी तत्व।
- समाजवादी चिन्तन और गाँधीजी के चिन्तन में अन्तर।

12.1 प्रस्तावना

भारतीय महाकाव्यों के पारायण की समाप्ति स्वास्तिक वाक्यों से होती है लोकः समस्ताः सुखिनो भवन्तु और सर्वे जनः सुखिनो भवन्तु। (अर्थात् सारी दुनिया होवे, सभी लोग सुखी होवे) विश्व बन्धुत्व की भावना, दूसरे मनुष्यों के कल्याण की विशेष चिन्ता इन भावनाओं से हिन्दुओं का सामाजिक ढाँचा परिचालित होता है और भारतीय समाज की नींव राष्ट्रीयता की जगह समाजवाद ही है।

समाजवाद न तो कोई कवच है जिसे धनी गरीबों के हमले से अपनी रक्षा करने के लिए धारण किए रहता है और न भिक्षा-पात्र है जिसे गरीब धनी से सहायतार्थ मिलने वाले टुकड़े ग्रहण करने के लिए चारों ओर लिए फिरता है। पाश्चात्य देशों में यह पूँजीशाही के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जो कल-कारखानों के अभ्युदय द्वारा सामन्तशाही की अवस्था को पहुँचने में समर्थ हो सकी हो। भारत में पाश्चात्य देशों की तरह पूँजीवाद का आक्रमण भीषण न हो सका होगा, किन्तु सामन्तशाही का प्रभाव कम भयानक नहीं है। भारतीय सभ्यता, जो युगों से सम्पत्ति और प्रभुता के यथेष्ट संतुलित नियन्त्रण द्वारा प्रतिपालित होती आयी थी, दो हजार वर्षों के विदेशी शासन और पाश्चात्य सभ्यता के यांत्रिक बल पर आधारित औद्योगिकवाद के चरम उत्कर्ष के समय में उसके

दो शताब्दियों के सम्पर्क से हम देशवासी विचारशील स्त्री-पुरुष के सामने इतनी गम्भीर समस्याएँ आ खड़ी हुईं जितनी किसी भी पूँजीवादी देश के बिल्कुल सामने खड़ी हों। इसके कारण चाहे जो हों— और वे अत्यधिक हैं भी — हम लोगों के सामने खड़ी हुई अर्थशास्त्र की समस्याएँ एक भौतिकवादी सभ्यता की सभी जटिलताएँ और समाज के कमजोर सामाजिक-धार्मिक आधारों की बुराइयाँ प्रकट करती हैं।

12.2 गाँधी का सामाजवादी चिन्तन

जब किसी युग में कोई महान पुरुष उत्पन्न होता है तो इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं हो सकता कि उस पुरुष ने युग को बनाया या युग ने उस पुरुष को बनाया। कथाचित् सत्य उन दोनों के मध्य स्थित होता है या दोनों में। और समाज की परिस्थिति ने गाँधीजी के प्राण और मानस की पुनर्चना की है। गाँधीजी ने भारतीय समाज पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी है। उन्होंने एक नए धर्म को जन्म दिया है जो हिन्दु समाज के चारों वर्णों और चारों आश्रमों के पृथक-पृथक धर्मों का सम्मिश्रण है। गाँधीजी ने अपने व्यक्तिवाद में कृषक और जुलाहे, व्यापारी और व्यावसायी, युद्ध करने वाले और रक्षक योद्धा, अन्ततः जनता के सेवक के गुणों का संयोग किया है और अपनी सेवा तथा प्रेम भावना से उच्च बनकर स्मृतिकार का पद प्राप्त किया। उन्होंने अपने जीवन में ब्रह्मस्थ, वनप्रस्थ और सन्यासी के धर्मों का भी समावेश है। जीवन के आदर्शों के, जो एकांगिक माने जाते थे, सामंजस्य और समन्वय स्थापित कर दिया और वे व्यापक और सर्वांगीण बना दिए गए हैं।

गाँधीजी इस बात पर बल देते थे कि विश्वास करते हों उनका कर्तव्य है कि पवित्रता और आत्मसंयम के महान सिद्धान्तों द्वारा वर्ण व्यवस्था पुनर्स्थापन करें। इस प्रकार उन्होंने प्रयत्न किया है कि हिन्दू समाज के स्वर्ण धातु पर जमी हुई मैल दूर की जाय और प्रेम तथा सेवा के आधार पर उसकी एक बार फिर पुनर्चना की जाय। 'सर्वे जनः सुखिते भवन्तु' (सब लोग सुखी हो) इस प्रार्थना का आदर्श एक बार फिर लोगों में संचारित किया जा रहा है जो इस मंत्र का उच्चारण तो दिन में तीन बार करते हैं, किन्तु इसका अभिप्राय नहीं समझते। इस दृष्टि से गाँधीजी ने स्वराज्य का अर्थ शक्ति और सत्ता का उपयोग नहीं बतलाया बल्कि प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त के प्रचार द्वारा सबके लिए भोजन और वस्त्र की प्राप्ति बतलाया। भोजन और वस्त्र के लिए परिश्रम और प्रयत्न करना पड़ता है। इस उद्देश्य के लिए गाँधीजी ने शारीरिक श्रम और उसके आदर्श स्वरूप सूत कातने के सिद्धान्त का प्रचार किया है और प्रत्येक पुरुष स्त्री तथा बच्चे के लिए समान रूप से कताई का दैनिक यज्ञ निर्धारित किया है। इस प्राचीन भूमि की जनसंख्या के लिए उन्होंने एक ऐसे धन का शक्ति-स्रोत ढूँढ़ निकाला है जो सारे संसार में अभूतपूर्व है। वह वास्तव में ऐसा शक्ति स्रोत है जो व्यापार के सन्तुलन, विक्रय क्षेत्र, साम्राज्यवाद, सैनिकवाद विनिमय अथवा मुद्रा के दर की घटती-बढ़ती, वैज्ञानिक आविष्कारों और अनुसन्धानों पर निर्भर नहीं करता। यन्त्रों की प्रतिस्पर्धा इस प्रबल शक्ति के धनों को खतरे में नहीं डाल सकती, क्योंकि वे सादा जीवन और उच्च विचार, कठिन परिश्रम और ईमानदारी की कोई के सरल आदर्श पर अवलम्बित रहते हैं।

समाजवाद के स्वरूप के बारे में 1937 में गाँधीजी ने 'हरिजन' में लिखा कि सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है जो हमें यह सिखा गये हैं : "सब भूमि गोपाल की है: इसमें कहीं मेरी और तेरी की सीमाएँ नहीं हैं। ये सीमाएँ आदमियों की बनायी हुयी हैं और इस लिए वे इन्हें तोड़ भी नहीं सकते। "गोपाल यानी कृष्ण यानी भगवान। राज्य सम्पत्ति के हिंसक अपरहण की जगह ले सकने वाला अत्यन्त प्रभावकारी साधन है। जमीन और दूसरी सारी सम्पत्ति उसकी है जो उसके लिए काम करें। समाजवाद का जन्म उस वक्त नहीं हुआ था जब यह पता लगा कि पूँजीपति पूँजी का दुरुपयोग करते हैं। समाजवाद ही नहीं साम्यवाद भी ईषोपनिषद् के पहले मंत्र में स्पष्ट है सच बात तो यह है कि कुछ सुधारकों का विचार-परिवर्तन की पद्धति में विश्वास नहीं रहा, तब जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं, उसका जन्म हुआ। गाँधीजी की पद्धति सदा से एकमात्र शुद्ध अहिंसा की रही है। वह असफल हो सकती है। ऐसा हुआ तो उसका कारण अहिंसा की कला का मेरा अज्ञान होगा। मैं उस सिद्धान्त का एक अकुशल प्रतिपादक हो सकता हूँ, जिसमें मेरा विश्वास दिनोंदिन बढ़ रहा है। चरखा-संघ और ग्रामोद्योग-संघ वे संगठन हैं, जिनके द्वारा अहिंसा की कला की अखिल भारतीय पैमाने पर परीक्षा हो रही है। ये स्वतन्त्र संस्थाएँ कांग्रेस ने खास तौर पर इसलिए कायम की है कि नीति के उन उतार-चढ़वों के बंधन में जो कांग्रेस जैसी सर्वथा लोकतांत्रिक संस्था में हमेशा होते रह सकते हैं, फँसे बिना मैं अपने प्रयोग करता रह सकूँ।

समाजवाद की चर्चा चलने पर गाँधीजी ने एक बार यह बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा था कि समाजवाद एक सुन्दर शब्द है और जहाँ तक मुझे मालूम है, समाजवाद में समाज के सभी सदस्य बराबर होते हैं – न कोई नीचा होता है और न ऊँचा। किसी व्यक्ति के शरीर में सिर सबसे ऊपर होने से उँचा नहीं होता है। और न पैर के तलवे जमीन को छूने के कारण नीचे होते हैं जैसे व्यक्ति के शरीर के सब अंग बराबर होते हैं, वैसे ही सामंजस्यपूर्ण शरीर के सारे अंग भी बराबर होते हैं। यही समाजवाद है।

गाँधीवादी समाजवाद में राजा और प्रजा, अमीर और गरीब मालिक और मजदूर सब एक स्तर पर होते हैं। धर्म की भाषा में रहे तो समाजवाद में द्वैत या भेदभाव नहीं होता। सर्वत्र एकता अद्वैत का प्रभुत्व होता है, संसार भर के समाज को देखें तो द्वैत या अनेकता के सिवा कुछ नहीं दिखायी देता। एकता या अद्वैत का नाम-निशान नहीं दिखायी देता। यह आदमी ऊँचा है, वह नीचा है, वह मुसलमान है, तीसरा ईसाई है, चौथा पारसी है, पाँचवाँ सिक्ख है और छठा यहूदी है। इनमें भी बहुत सी उपजातियाँ हैं। इस प्रकार गाँधीजी की कल्पना की एकता या अद्वैतवाद में सब एक हो जाते हैं, एकता में समा जाते हैं। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए हम एक-दूसरे क तरफ देखते नहीं रह सकते। जब तक सारे लोग समाजवादी न बन जायें, तब तक हम कोई हलचल न करें, अपने जीवन में कोई फेरफार न करके भाषण देते हैं, पार्टियाँ बनाते रहें और बाज पक्षी की तरह जहाँ शिकार मिल जाय वहाँ उस पर झटपट पड़े, यह समाजवाद नहीं है। समाजवाद जैसी शानदार चीज झपट्टा मारने से हमसे दूर ही जाने वाली है।

गाँधीजी से एक बार जब यह प्रश्न किया गया कि सच्चे समाजवादी से उनका क्या तात्पर्य है तो उन्होंने जवाब दिया कि समाजवाद पहले समाजवादी से शुरू होता है। अगर ऐसा एक भी समाजवादी हो तो आप उस पर शून्य बढ़ा सकते हैं, पहले शून्य से उसकी ताकत दस गुनी हो जायेगी। उसके बाद हर एक शून्य का अर्थ पिछली संख्या से दस गुना होगा। परन्तु यदि आरम्भ करने वाला स्वयं ही शून्य हो, दूसरे शब्दों में कोई भी आरम्भ नहीं करे, तो कितने कितने ही शून्यों के बढ़ जाने पर भी परिणाम शून्य ही होगा। शून्यों के लिखने में जितना समय और कागज खर्च होगा वह भी व्यर्थ ही जायेगा। यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है। इसलिए उसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध होना चाहिए। अशुद्ध साधनों से प्राप्त होने वाला साध्य भी अशुद्ध ही होता है। इसलिए राजा का सिर काट डालने से राजा और प्रजा बराबर नहीं हो जायेंगे और न मालिक का सिर काटने से मालिक और मजदूर बराबर हो जायेंगे। हम असत्य से सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते। सत्यमय आचरण द्वारा ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। क्या अहिंसा और सत्य दो चीजें हैं? हरगिज नहीं। अहिंसा सत्य में और सत्य अहिंसा में छिपा हुआ है। इसीलिए मैंने कहा है कि वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक-दूसरे से अभिन्न हैं। सिक्के को किसी भी तरफ से पढ़ लीजिये। केवल पढ़ लीजिये। केवल पढ़ने में ही फर्क है— एक तरफ अहिंसा है, दूसरी तरफ सत्य। दोनों का मूल्य एक ही है। सम्पूर्ण शुद्धता के बिना यह दिव्य स्थिति अप्राप्य है। मन या शरीर की अशुद्धि रखी और आप में असत्य और हिंसा आयी। इसीलिए सत्य-परायण, अहिंसक और शुद्धहृदय समाजवादी ही भारत और संसार में समाजवादी समाज स्थापित कर सकेंगे। जहाँ तक मैं जानता हूँ, संसार में कोई भी देश ऐसा नहीं है जो शुद्ध समाजवादी हो। उपरोक्त साधनों के बिना ऐसे समाज का अस्तित्व में आना असम्भव है।

12.3 गाँधीवादी सामाजवाद के सिद्धान्त

12.3.1 गरीबी उन्मूलन और आत्म विश्वास का विकास

रोज की आवश्यकता के अनुकूल ही नित्य पैदा करने का ईश्वरीय विधान के बारे में गाँधीजी कहते हैं कि या तो हम इसे जानते नहीं अथवा जानकर भी उससे अनजान ही बने रहते हैं। यही कारण है कि जगत में असमानता और उससे पैदा होने वाले दुःख हम भुगतते हैं। अमीर व्यक्तियों के यहाँ ऐसी सभी वस्तुएँ जो उसे नहीं चाहिए वे चीजें भी भरी पड़ी होती हैं जो लापरवाही से खो जाती है, बिगड़ जाती है: जबकि इन्हीं जीजों की कमी के कारण करोड़ों लोग यहाँ-वहाँ भटकते हैं, भूखों मरते हैं, ठंड से ठिठुर जाते हैं। सभी यदि अपनी आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं का उपभोग करें तो किसी को भी तंगी महसूस न हो और सभी संतुष्ट रहें। परन्तु गाँधीजी कहते हैं, “आज तो दोनों ही तंगी महसूस करते हैं। करोड़पति अरबपति होना चाहता है, फिर भी उसको सन्तोष नहीं होता है। कंगाल करोड़पति होना चाहता है। कंगाल को भरपेट ही मिलने से सन्तोष होता तो ऐसा नहीं देखा जाता। फिर भी उसे उतना (भरपेट) पाने का अधिकार है और उसे उतना पाने योग्य बनाना समाज

का कर्तव्य हैं। इसलिए उसके (गरीब के) और अपने संतोष के खातिर अमीर को इस दिशा में पहल करनी चाहिये। अगर वह अपने जरूरत से ज्यादा परिग्रह छोड़े तो कंगाल को अपनी जरूरत का आसानी से मिल जाय और दोनों पक्ष संतोष का सबक सीखें।

गाँधीजी ने जायदाद (सम्पत्ति) रखने पर कभी आपत्ति नहीं की, बल्कि आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति रखना ही उनकी दृष्टि में नैतिक अपराध था। यही कारण है कि हिन्दी नवजीवन में उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि हम सब लोगों को जायदाद क्यों रखनी चाहिए? हम जायदाद को कुछ समय तक रखने के पश्चात् छोड़ क्यों न दें? धर्माधर्म का जिन्हें ख्याल नहीं होता ऐसे व्यापारी अनीतिपूर्ण हेतुओं के लिए ऐसा करते हैं, तो फिर हम एक बड़े और नीतियुक्त हेतु को हासिल करने के लिए ऐसा क्यों न करें? गाँधी का विचार था कि हिन्दुओं के लिए एक खास अवस्था में अवस्था में पहुँचने के बाद ऐसा करना मामूली बात थी। प्रत्येक हिन्दू से यह आशा रखी जाती है कि एक अरसे तक गृहस्थाश्रम में रहने के बाद वह वैसा ही जीवन अपनाए जिसमें जायदाद पास नहीं रखी जाती। यह पुरानी सुन्दर प्रथा हम फिर से ताजी क्यों न करें? परिणाम में इसका मतलब केवल इतना ही होता है कि हम जीवन निर्वाह के लिए उनकी दया पर निर्भर रहते हैं, जिन्हें हमने अपनी सारी जायदाद सौंप दी है। गाँधी का कहना है कि यह विचार मेरे दिल को बड़ा आकर्षक मालूम होता है। ऐसे विश्वास के लाखों उदाहरणों में ऐसा एक भी दृष्टांत मुश्किल से ही मिलेगा, जिसमें विश्वास का दुरुपयोग हुआ है।-----
अप्रमाणिक व्यक्तियों को इसका दुरुपयोग करने का मौका न देकर यह प्रथा किस तरह व्यवहार में लायी जा सकती है, इसका निर्णय तो एक बड़े अरसे के अनुभव के बाद ही हो सकता है। फिर भी इस ख्याल से कि उसका दुरुपयोग होगा, किसी को इसका प्रयोग करने के प्रयत्न से रूकना न चाहिए। गीता के दिव्यकर्ता 'दिव्य गीता' का संदेश देने से न रूके, यद्यपि शायद वे जानते थे कि सब प्रकार की बुराईयों को—यहाँ तक कि हत्या को न्यायसंगत ठहराने के लिए भी—इस सन्देश को खूब तोड़ा — मरोड़ा जायेगा। गाँधीजी जमाखोरी के पूर्णतया विरुद्ध थे यही कारण है कि एक बार 1924 में ही एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था:— हम सब एक तरह से चोर हैं, अगर मैं कोई ऐसी चीज लेता हूँ और रखता हूँ, जिसका मुझे अपने किसी तात्कालिक उपयोग के लिए जरूरत नहीं है तो मैं किसी दूसरे से उसकी चोरी ही करता हूँ—यह प्रकृति का एक निरपवाद नियम है कि वह रोज केवल उतना ही पैदा करती है जितना हमें चाहिए और यदि हर एक व्यक्ति भूखा न मरे।-----मैं समाजवादी नहीं हूँ और जिनके पास सम्पत्ति का संचय है उनसे मैं उसे छीनना नहीं चाहता हूँ, लेकिन इतना जरूर कहता हूँ कि हममें से जो लोग व्यक्तिगत रूप से प्रकाश की खोज में लगे हुए हैं, उन्हें इस नियम का पालन करना चाहिए। मैं किसी से उसकी संपत्ति छीनना नहीं चाहूँगा, क्योंकि वैसा करूँ तो मैं अहिंसा के नियम से च्यूत हो जाऊँगा। यदि किसी के पास मुझसे ज्यादा सम्पत्ति है तो भले रहे, लेकिन यदि मुझे अपना जीवन इस नियम के अनुसार गढ़ना है तो मैं ऐसी कोई चीज अपने पास नहीं रख सकता जिसकी मुझे जरूरत नहीं है। भारत में लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें दिन में केवल एक बार ही खाकर संतोष कर लेना पड़ता है: और उनके उस भोजन में भी सूखी रोटी और चुटकी भर नमक के सिवा और कुछ नहीं होता। हमारे पास जो कुछ भी है उस पर हमारा और आपका तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक इन लोगों के पास पहनने के लिए पूरा कपड़ा और खाने के लिए पूरा अन्न नहीं जाता। हममें और आपमें ज्यादा समझ होने का आशा की जाती है। अतः हमें अपनी जरूरतों का नियमान करना चाहिए और स्वेच्छापूर्वक अमूक अभाव भी सहना चाहिए, जिससे उन गरीबों का पालन—पोषण हो सके, उन्हें पूरा कपड़ा और अन्न मिल सके।

गाँधी के अनुसार सुनहला नियम तो यह है कि जो चीज लाखों लोगों को नहीं मिल सकती, उसे लेने से हम भी दृढ़तापूर्वक इनकार कर दें। त्याग की यह शक्ति हमें कहीं से एकाएक नहीं मिल जायेगी। पहले तो हमें ऐसी मनोवृत्ति पैदा करनी चाहिए कि हमें उन सुख—सुविधाओं का उपयोग नहीं करना जिनसे लाखों लोग वंचित हैं और उसके बाद तुरन्त ही अपनी इस मनोवृत्ति के अनुसार हमें अपना जीवन बदलने में शीघ्रता से लग जाना चाहिए। गाँधी का यह विचार था कि प्रत्येक महल, अट्टालिका या बहु मंजिली ईमारतें जिसे हम भारत में देखते हैं, भारत की दौलत का चिन्ह नहीं है। वह उस सत्ता के मद का चिन्ह है, जो दौलत कुछेक लोगों को देती है। इन कुछेक लोगों के हाथ में वह दौलत भारत के लाखों गरीबों की उस कड़ी मेहनत के बल पर आती है, जिसका उन्हें बहुत कम बदला चुकाया जाता है।

गाँधीजी ने सदैव इस बात को निःसंकोच स्वीकार किया कि आम तौर पर धनवान ही क्यों—ज्यादातर

लोग इस बात पर विचार नहीं करते कि वे पैसा किस तरह कमाते हैं? अहिंसक उपाय का प्रयोग करते हुए यह विश्वास तो होना ही चाहिए कि कोई आदमी कितना ही पतित क्यों न हो, यदि कुशलता और सहानुभूति से उसके साथ व्यवहार किया जाय तो उसे सुधारा जा सकता है। हमें मनुष्यों में रहने वाले दैवी अंश को प्रभावित करना चाहिए और यह अपेक्षा रखनी चाहिए कि उसका अनुकूल परिणाम निकलेगा। यदि समाज का हर एक व्यक्ति, हर एक सदस्य अपनी शक्तियों का उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थ साधने के लिए नहीं बल्कि सबके कल्याण के लिए करें, तो क्या इससे समाज की सुख समृद्धि में वृद्धि नहीं होगी? हम ऐसी जड़-समानता का निर्माण नहीं करना चाहते, जिसमें कोई आदमी अपनी योग्यताओं का पूरा-पूरा उपयोग कर ही न सके। ऐसा समाज अन्ततोगत्वा नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता है। इसलिए मेरी वह सलाह बिल्कुल सही है कि धनवान लोग चाहे करोड़ों रुपये कमायें (बेशक ईमानदारी से ही) लेकिन उनका उद्देश्य सारा पैसा सबके कल्याण में समर्पित कर देना ही होना चाहिए। 'तेन व्यक्तेन भुंजीथा' मंत्र में असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है। आज की जीवन पद्धति की जगह, जिसमें हर एक आदमी पड़ोसी की परवाह किए बिना केवल अपने ही लिए जीता है, सबका कल्याण करने वाली नयी जीवन-पद्धति का विकास करना हो तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है। ऐसा हम गरीबी को समाज से मिटाकर अर्थात् आर्थिक समानता का सूत्रपात करके तथा गरीब को दरिद्र नारायण बनाकर अर्थात् उसमें आत्म विश्वास पैदा करके ही किया जा सकता है।

12.3.2 आर्थिक समानता

समाज के सन्दर्भ में अपने विचार प्रकट करते हुए एक बार गाँधीजी ने कहा था कि समाज की मेरी कल्पना यह है कि हम पैदा तो समान होते हैं, अर्थात् हम सबको समान अवसर पाने का हक है, परन्तु हम सबकी क्षमता या शक्ति एक सी नहीं होती। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि क्षमता एक सी हो ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए सबकी एक सी ऊँचाई एक सा रंग या सबमें बुद्धि आदि की एक सी मात्रा नहीं हो सकती। इसलिए कुदरतन ही कुछ लोगों की कमाने की योग्यता अधिक होगी और दूसरों की थोड़ी बुद्धिशाली लोगों की योग्यता अधिक होगी और वे अपनी बुद्धि का इस काम के लिए उपयोग करेंगे। यदि वे उपकार की भावना रखकर अपनी बुद्धि का उपयोग करें तो राज्य का ही काम करेंगे। ऐसे लोग संरक्षक बनकर रहते हैं और किसी भी रूप में नहीं। बुद्धिमशाली आदमी को अधिक कमाने दूँगा, उसकी बुद्धि को कुंठित नहीं करेंगे। परन्तु उसकी अधिकांश कमायी राज्य की भलाई के लिए वैसे ही काम आनी चाहिए, जैसे कि बापके कमाऊ बेटों की आमदनी परिवार के कोश में जमा होती है। वे अपनी कमाई के संरक्षक बनकर ही रहेंगे।

गाँधीजी ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। मजदूरी करने वाले वर्गों को सैकड़ों वर्षों से सभ्य समाज से अलग रखा गया है और उन्हें नीचा दरजा दिया गया है। उन्हें शूद्र कहा गया है और इस शब्द का यह अर्थ किया गया कि वे दूसरे वर्गों से नीचे हैं। गाँधीजी का कहना था कि मैं बुनकर, किसान और शिक्षक लड़कों में कोई भेद नहीं होने दूँगा।

आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है कि पूँजी और मजदूरी के बीच झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। रचनात्मक काम का यह अंग अहिंसापूर्ण स्वराज की मुख्य चाबी है। जिसका अर्थ यह होता है कि एक आर से जिन मुट्ठी भर पैसे वाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना, और दूसरी ओर से जो करोड़ों लोग आधा पेट खाते हैं और नग्न रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्ठी भर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच भारी अन्तर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राजव्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आजाद हिन्दुस्तान में देश के बड़े धनवानों के हाथ में हुकूमत का जितना रहेगा, उतना ही गरीबों के हाथ में होगा, और तब नई दिल्ली के महलों, बम्बई के अट्टालिकाओं और उनकी बगल में बसी हुयी गरीब मजदूर बस्तियों के टूटे झोपड़ों के बीच जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है, वह एक दिन को भी नहीं टिकेगा। अगर धनवान लोग अपने धन को खुसी से छोड़कर और सबके कल्याण के लिए सबके साथ मिलकर बरतने को तैयार न होंगे तो यह है कि हमारे देश में हिंसक और खूनी क्रान्ति हुए बिना न रहेगी।

ट्रस्टीशिप या सरपरस्ती के गाँधीजी के सिद्धान्त की कुछ लोगों द्वारा माखौल उड़ाये जाने के बाद भी गाँधीजी उस सिद्धान्त पर दृढ़ता के साथ अहिंसक रहे। उनका यह कहना था कि यह सत्य है कि उस तक पहुँचने

यानी उसका पूरा-पूरा अमल करने का काम कठिन है। क्या अहिंसा की भी यही हालत नहीं है? फिर भी 1920 में हमने यह सीधी चढ़ाई चढ़ने का निश्चय किया था।

अपने रचनात्मक कार्यक्रमों तथा समाज में हिंसा के जरिये होने वाले परिवर्तन के सन्दर्भ में गाँधीजी का यह विचार था कि इस तरह के प्रयोग अभी चल रहे हैं और उनकी तफसील तैयार हो रही है। इन प्रयोगों में प्रत्यक्ष दिखाने जैसा तो कोई खास या बड़ा काम हमने किया नहीं है। मगर यह तय है कि चाल चाहे कितनी ही धीमी क्यों न हो फिर भी इस तरीके पर समानता की दिशा में काम तो शुरू हो चुका है और चूँकि अहिंसा का रास्ता हृदय परिवर्तन का रास्ता है, इसलिए उसमें जो भी हेर फेर होते हैं। वे कायमी होते हैं। यह (अहिंसक स्वराज्य) किसी अच्छे मुहूर्त में अचानक आसमान से नहीं टपक पड़ेगा। बल्कि जब हम सब मिलकर एक साथ अपनी मेहनत से एक-एक ईंट चुनते चलेंगे, तभी स्वराज्य की ईमारत खड़ी हो सकेगी। इस दिशा में हमने काफी लम्बी और अच्छी मंजिल तय की है। लेकिन स्वराज्य की संपूर्ण शोभा और भव्यता का दर्शन करने से पहले हमको अभी इससे भी ज्यादा लम्बा और थकाने वाला रास्ता तय करना है।

गाँधीजी इस बारे में पूर्णतया विश्वस्त थे कि किसी भी बड़े अन्तर को यह कहकर उचित नहीं मान लेना चाहिए कि आवश्यकताएँ या जरूरतें दूसरों की अपेक्षा अधिक है। यह बेकार की दलील और कुर्तक है। गाँधीजी को अमीर-गरीब के भेद से आन्तरिक क्लेश पहुँचता था जिसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन वह समय-समय पर अपने लेखों व भाषणों में किया करते थे। श्री प्यारेलाल ने 'गाँधीजी का साम्यवाद' नामक लेख में गाँधीजी के इस बेचैनी को स्पष्टतः प्रकट किया है। उनका कहना है कि गाँधीजी ने न सिर्फ अमीर-गरीब के बड़े अन्तर को ही प्रकट किया है वरन् उनका यह भी कहना है कि विदेशी नौकरशाही और देश के रहने वाले शहरी लोग-गाँव के लोगों का शोषण करते हैं। गाँव वाले अन्न पैदा करते हैं और खुद भूखों मरते हैं। वे दूध पैदा करते हैं और उनके बच्चों को दूध की एक बूँद भी मयस्तर नहीं होती। यह कितना शर्मनाक है। हर आदमी को पौष्टिक भोजन, रहने के लिये अच्छा मकान, बच्चों की शिक्षा के लिए हर तरह कि सुविधाएँ और दवा-दारु की मदद मिलनी चाहिए। गाँधीजी की आर्थिक समानता की यही कल्पना है। वे जरूरत से ज्यादा किसी भी चीज को रखने का विरोध नहीं करते। मगर उसका नम्बर तभी आता है जबकि गरीबों की जरूरतें पूरी हो जाये। जो काम पहले करने लायक है, वह पहले किया जाना चाहिए।

इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता रहा है कि आर्थिक समानता के ध्येय को हासिल करने के लिए आपके तरीके और साम्यवादी या समाजवादी तरीके में क्या फर्क है? जहाँ तक इस सन्दर्भ में साम्यवादी और समाजवादियों का प्रश्न है उनका कहना है कि वे आर्थिक समानता हेतु कुछ भी नहीं कर सकते हैं सिवाय प्रचार के। इसके लिए लोगों में द्वेष या वैर पैदा करने और उसे बढ़ाने में उनका विश्वास है। उनका कहना है कि राजसत्ता पाने पर वे लोगों से समानता के सिद्धान्त पर अमल करवायेंगे। गाँधीजी आगे अपनी योजना का प्रारूप बतलाते हुए कहते हैं कि राज्य प्रजा की इच्छा को पूरी करेगा न कि लोगों का आज्ञा देगा या अपनी आज्ञा जबरन उन पर लादेगा। मैं घृणा से नहीं, प्रेम की शक्ति से लोगों को अपनी बात समझाऊँगा और अहिंसा के द्वारा आर्थिक समानता पैदा करूँगा। मैं सारे समाज को अपने मत का बनाने तक रूकूँगा नहीं बल्कि अपने पर ही यह प्रयोग शुरू कर दूँगा। इसमें जरा भी शक नहीं ताकि अगर मैं 50 मोटरों का तो क्या 10 बीघा जमीन का भी मालिक होऊ तो मैं अपनी कल्पना की आर्थिक समानता को जन्म नहीं दे सकता। उसके लिये मुझे गरीब बन जाना होगा। यही मैं पिछले 50 सालों से या उससे भी ज्यादा समय से करता आया हूँ। इसीलिए मैं पक्का कम्युनिष्ट होने का दावा करता हूँ। अगर मैं धनवानों द्वारा दी गयी मोटरों या दूसरे सुविधाओं से फायदा उठाता हूँ, मगर मैं उनके वश में नहीं हूँ। अगर आम जनता के हितों का वैसा तकाजा हुआ, तो बात ही बात में मैं उनको अपने से दूर हटा सकता हूँ।

एक बार दूसरे अवसर पर ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि मुझे इसमें कोई शंका नहीं कि अगर हिन्दुस्तान को आजादी का दूसरों के सामने उदाहरण पेश करने वाला जीवन बिताना हो जो दुनिया के लिये ईश्या की चीज बन जाय, तो भांगियों, डाक्टरों, वकीलों, शिक्षकों, व्यापारियों और दूसरे सब लोगों को दिनभर ईमानदारी से काम करने के लिये एक सा वेतन मिलना चाहिये। भारत का समाज भले ही इस लक्ष्य-मकसद-तक न पहुँच सके लेकिन अगर हिन्दुस्तान को एक सुखी देश बनना हो तो हर हिन्दुस्तानी का यह फर्ज है कि वह इसी लक्ष्य की ओर अपने कदम बढ़ाता चले। गाँधीजी आगे कहते हैं कि आज देश में भंयकर आर्थिक असमानता

है। समाजवाद की जड़ में आर्थिक समानता है। थोड़े लोगों को करोड़ और बाकी सब लोगों को सूखी रोटी भी नहीं, ऐसी भयानक असमानता में राम राज्य का दर्शन करने की आशा कभी नहीं रखी जा सकती।

12.3.3 समान वितरण

गाँधीजी ने यह स्वीकार किया है कि भारत की जरूरत यह नहीं है कि चंद लोगों के हाथ में बहुत सारी पूँजी इकट्ठी हो जाय। पूँजी का ऐसा बँटवारा होना चाहिये कि वह इस 1900 मील लम्बे और 1400 मील चौड़े विशाल देश को बनाने वाले साढ़े सात लाख गाँवों को आसानी से मिल सके। जिससे आर्थिक समानता लायी जा सके। आर्थिक समानता लायी जा सके। आर्थिक समानता का अर्थ ही है कि जगत के सब मनुष्यों के पास समान सम्पत्ति हो अर्थात् सबके पास इतनी ही शक्ति हो जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। कुदरत ने ही एक आदमी का हाजमा अगर नाजुक बनाया हो और वह पाँच ही तौला खा सके और दूसरे को बीस तौला अन्न खाने की आवश्यकता हो तो दोनों को अपनी-अपनी पाचन शक्ति के अनुसार अन्न मिलना चाहिए। सारे समाज की रचना इस आदर्श के आधार पर होनी चाहिये। अहिंसक समाज की आदर्श नहीं रखना चाहिये। पूर्ण आदर्श तक हम शायद कभी नहीं पहुँच सकते, मगर उसे नजर में रखकर हम विधान बनायें और व्यवस्था करें। जिस हद तक हम इस आदर्श को पहुँच सकेंगे, उसकी हद तक हम सुख और संतोष प्राप्त करेंगे और उसी हद तक सामाजिक अहिंसा सिद्ध हुयी कही जा सकेगी।

इस आर्थिक समानता के धर्म का पालन कोई अकेला मनुष्य भी कर सकता है। दूसरों के साथ की उसे आवश्यकता नहीं रहती। अगर एक आदमी इस धर्म का पालन कर सकता है। तो जाहिर है कि एक मण्डल भी कर सकता है। यह कहने की जरूरत इसलिए है कि किसी भी धर्म के पालन में जब तक दूसरे उसका पालन न करने लगें तब तक हमें रुके रहने की आवश्यकता नहीं और फिर जब तक आखिरी हद तक न पहुँच सके तब कुछ भी त्याग न करने की वृत्ति बहुधा देखने में आती है। यह वृत्ति भी हमारी गति को रोकती है।

अब अहिंसा द्वारा आर्थिक समानता कैसे लायी जा सकती है इसका हम विचार करें। पहला कदम यह है कि जिसने इस आदर्श को अपनाया हो वह अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन करें। हिन्दुस्तान की गरीब प्रजा के साथ अपनी तुलना करके वह अपनी आवश्यकतायें कम करे, अपनी धन कमाने की शक्ति को अंकुश में रखे, जा धन कमाये उसे ईमानदारी से कमाने का निश्चय करे, सट्टे की पृत्ति हो तो त्याग करे, घर भी अपनी सामान्य आवश्यकता पूरी करने जैसा ही रखे, और जीवन को हर तरह से संयमी बनाये। अपनी जीवन में सारे संभव सुधार कर लेने के बाद वह अपने मिलने जुलने वालों और पड़ोसियों में समानता के आदर्श का प्रचार करे।

आर्थिक समानता की जड़ में धनिक ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज्यादा रखने का अधिकार नहीं है। तब उसके पास जो ज्यादा है वह क्या उससे छीन लिया जाय? ऐसा करने के लिये हिंसा पास जो ज्यादा है वह क्या उससे छीन लिया जाय? ऐसा करने के लिये हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा और हिंसा के द्वारा ऐसा करना संभव हो, तो भी समाज को उससे कुछ फायदा नहीं होगा। क्योंकि धन इकट्ठा करने की शक्ति रखने वाले एक आदमी की शक्ति को समाज खो बैठेगा। इसलिए अहिंसक मार्ग यह है कि जितनी उचित मानी जा सकें उतनी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाय। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा, तो जो पैसा पैदा करेगा उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज के खातिर धन कमायेगा और समाज के कल्याण के लिये उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमायी में शुद्धता आयेगी उसके साहस में भी अहिंसा होगा। इस प्रकार की कार्यप्रणाली का आयोजन किया जाय, तो समाज में बगैर संघर्ष के मूक क्रान्ति पैदा हो सकती हैं।

यह प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार मनुष्य-स्वभाव में परिवर्तन होने को उल्लेख इतिहास में कहीं देखा गया है? व्यक्तियों में तो ऐसा हुआ ही है। लेकिन बड़े पैमाने पर समाज में परिवर्तन हुआ है यह शायद सिद्ध न किया जा सके। इसका अर्थ इतना ही है कि व्यापक अहिंसा का प्रयोग आज तक नहीं किया गया। हम लोगों के हृदय में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा सकती है, और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। दरअसल बात ऐसी नहीं है। अहिंसा सामाजिक धर्म है। सामाजिक धर्म के तौर पर उसे विकसित किया जा सकता है, यह मनवाने का प्रयत्न और प्रयोग चल रहा है। यह नई

चीज है इसलिए झूठ समझकर फेंक देने की बात तो इस युग में तो कोई नहीं कहेगा। यह कठिन है इसलिए असंभव है, यह भी उस युग में कोई नहीं कहेगा। क्योंकि बहुत सी चीजें अपनी आँखों के सामने नयी-पुरानी होती हमने देखी हैं। जो असंभव लगता था उसे संभव बनते हमने देखा है। मेरी यह मान्यता है कि अहिंसा के क्षेत्र में इससे बहुत ज्यादा साहस संभव है, और विविध धर्मों के इतिहास इस बात के प्रमाणों से भरे हैं। समाज में से धर्म को निकाल कर फेंक देने का प्रयत्न बाँझ के घर पुत्र पैदा करने जितना ही निष्फल है, और अगर कहीं वह सफल हो जाये तो समाज का उसमें नाश है। धर्म के रूपान्तर हो सकते हैं। उसमें रहे प्रत्यक्ष वहम, सड़न और अपूर्णताएँ दूर हो सकती है, हुयी हैं और होती रहेंगी। मगर धर्म तो जब तक जगत है तब तक चलता ही रहेगा, क्योंकि जगत का धर्म ही एक आधार है। धर्म की अन्तिम व्याख्या है ईश्वर का कानून। ईश्वर और उसका कानून—अलग चीजें नहीं हैं। ईश्वर अर्थात् अचलित, जीता—जागता कानून। उसका पार कोई नहीं पा सकता। मगर अवतारों ने और पैगम्बरों ने तपस्या करके उसके कानून की कुछ—कुछ झाँकी जगत को करायी है।

किन्तु भारी प्रयत्न करने पर भी धनिक संरक्षक न बनें और भूखों मरते हुए करोड़ों को अहिंसा के नाम से और अधिक कुचलते जायें तब क्या किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने में ही अहिंसक असहयोग और सविनय कानून—भंग प्राप्त हुए। कोई धनवान गरीबों के सहयोग के बिना धन नहीं कमा सकता। मनुष्य को अपनी हिंसक शक्ति का भान है, क्योंकि वह तो उसे लाखों वर्षों से विरासत में मिली हुयी है। जब उसे चार पैर की जगह दो पैर और दो हाथ वाले प्राणी का आकार मिला, तब उसमें अहिंसक शक्ति भी आयी। हिंसा शक्ति का तो उसे मूल से ही भान था, मगर उसका अहिंसा शक्ति का भान भी धीरे—धीरे अचूक रीति से रोज बढ़ने लगा। यह भान गरीबों में फैल जाये तो वे बलवान बनें और आर्थिक असमानता को जिसके वे शिकार बने हुए हैं, अहिंसक तरीके से दूर करना सीख लें।

दूसरी ओर अगर विधान सभाएँ किसानों के हितों की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध होती है, तो उनके पास सविनय अवज्ञ आन्दोलन और असहयोग का अचूक इलाज तो हमेशा होगा ही। लेकिन—अन्त में अन्याय या दमन से जो जीज प्रजा की रक्षा करती है, वह कागजों पर लिये जाने वाले कानून, वीरतापूर्ण शब्द या जोशीले भाषण नहीं हैं, बल्कि अहिंसक संगठन, अनुशासन और बलिदान से पैदा होने वाली ताकत है।

अब प्रश्न यह उठता है कि धनी लोगों को गरीबों के प्रति उनका कर्तव्य महसूस कराने में सत्याग्रह का क्या स्थान है? गाँधीजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि “वही जो विदेशी हुकूमत के खिलाफ आजादी की लड़ाई लड़ने में है। सत्याग्रह ऐसा कानून है जो सर्वत्र लागू किया जा सकता है। परिवार से आरम्भ करके दूसरे किसी भी क्षेत्र तक उसके उपयोग का विस्तार किया जा सकता है। भान लिजिये जमीन—मालिक अपने किसानों का शोषण करता है और उनके परिश्रम का फल अपने ही काम में लेकर उन्हें उससे वंचित रखता है। जब वे उसे उलाहना देते हैं तो वह उनकी सुनता नहीं और जबाब देता है कि मुझे इतना अपनी पत्नी के लिए चाहिए, इतना अपने बच्चों के लिए चाहिए, इत्यादि, इत्यादि। ऐसी हालत में किसान या उनकी हिमायत करने वाले और असर रखने वाले लोग उसकी पत्नी से अपील करेंगे कि वह अपने पति को समझाये। शायद वह ऐसा कहेगी कि मुझे अपने लिए तो यह शोषण का रूपया नहीं चाहिए। बच्चे भी इसी तरह कहेंगे कि हमें जितना चाहिये उतना हम खुद कमा लेंगे। अब भान लिजिये कि वह किसी की नहीं सुनता या उसके पत्नी—बच्चे किसानों के विरुद्ध एक हो जाते हैं, तो भी किसान सिर नहीं झुकायेंगे। उन्हें कहा जायेगा तो वे जमीन छोड़कर चले जायेंगे, मगर यह स्पष्ट कर देंगे कि जमीन उसी क है जो उसे जोतता है। मालिक खुद तो सारी जमीन को जोत नहीं सकता और उसे उनकी न्यायपूर्ण माँगों के आगे झुकना पड़ेगा। परन्तु यह संभव है कि इन किसानों की जगह पर दूसरे किसान आ जायें। तब हिंसा किये बिना आन्दोलन तब तक जारी रहेगा, जब तक इनका स्थान लेने वाले काश्तकारों को अपनी भूल महसूस हो जाय और वे बेदखल किये गये काश्तकारों के साथ जमींदार के खिलाफ मिल न जाय।

सत्याग्रह लोकगत को शिक्षा देने की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो समाज के समस्त तत्त्वों के प्रभावित करके अन्त में अजेय बन जाती है। हिंसा से उस प्रक्रिया में बाधा पड़ती है और सारे समाज की सच्ची कान्ति में विलम्ब होता है।

सत्याग्रह की सफलता कि लिए जरूरी शर्तें ये हैं : (1) विरोधी के प्रति सत्याग्रही के हृदय में घृणा नहीं

होनी चाहिए,(2) मुद्दा सच्चा और ठोस होना चाहिये,(3) सत्याग्रही को अपने कार्य के लिये अन्त तक कष्ट-सहन करने की तैयारी रखनी चाहिए।

12.3.4 अहिंसक अर्थ-व्यवस्था

गाँधीजी ने अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में किसी भी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इस बारे में स्पष्ट रूप से कहा मुझे स्वीकार करना चाहिये कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में सिर्फ स्पष्ट भेद नहीं करता, बल्कि कोई भी भेद नहीं करता। जिस अर्थशास्त्र से व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण को नुकसान पहुँचता हो उसे मैं अनीतिपूर्ण और इसलिए पापपूर्ण कहूँगा। हरण के लिए जो अर्थशास्त्र किसी देश की दूसरे देश का शोषण करने की अनुमति देता है वह अनीतिपूर्ण है। जो मजदूरों को उचित मेहनताना नहीं देते और उनके परिश्रम का शोषण करते हैं, उनसे वस्तुएँ खरीदना या उन वस्तुओं का उपयोग करना पापपूर्ण है।

गाँधीजी का ऐसा मानना था कि सिर्फ भारत की बल्कि सारी दुनिया की अर्थ रचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को भी अन्न और वस्त्र की तंगी न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में हर एक को इतना काम अवश्य मिल जाये कि वह अपने खाने-पहनने की जरूरतें पूरी कर सके और यह आदर्श हर जगह तभी व्यवहार में उतारा जा सकता है जब जीवन क प्रथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साथ जनता के नियंत्रण में रहें। वे हर एक को बिना किसी बाधा के उसी प्रकार प्राप्त होना चाहिए, जिस प्रकार भगवान की दी हुयी हवा और पानी हमें प्राप्त हैं या होने चाहिए, किसी भी हालत में वे दूसरों के शोषण के लिए चलाये जाने वाले व्यापार का वाहन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर एकाधिकार होना अन्यायपूर्ण माना जायेगा। हम आज न केवल अपने इस दुःखी देश में बल्कि दुनिया हिस्सों में जो गरीबी देखते हैं, उसका कारण इस सरल सिद्धान्त की उपेक्षा ही है।

जिस तरह सच्चे नीति धर्म में और अच्छे अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता,उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीति धर्म के ऊँचे आदर्श का विरोधी नहीं होता। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानों को दुर्बलों का शोषण करके धन का संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। वह तो एक झूठी चीज है जिससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे अपनाकर अपनी ही मृत्यु को बुलाते हैं। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय की हिमायत करता है। वह स्वभाव से सबकी भलाई का—जिनमें कमजोर भी शामिल है—प्रयत्न करता है और सभ्य तथा सुन्दर जीवन के लिए अनिवार्य है।

गाँधीजी का यह कहना था कि मैंने अपने कई देश बन्धुओं को यह कहते सुना है कि हम अमेरिका का धन तो प्राप्त करेंगे, परन्तु उसकी पद्धतियों को नहीं अपनायेंगे। मैं यह कहने की हिम्मत करता हूँ कि अगर ऐसा प्रयत्न किया गया तो वह जरूर असफल रहेगा। हम एक ही क्षण में बुद्धिमान, शान्त व क्रोधी नहीं हो सकते। मैं चाहूँगा कि हमारे नेता हमें नैतिक दृष्टि से दुनिया में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने की शिक्षा दें। हमसे कहा जाता है कि हमारी यह भारत-भूमि एक समय देवों का वास स्थान थी, परन्तु ऐसी भूमि में देवों के निवास की कल्पना नहीं की जा सकती, जो मिलों और कारखानों के धुएँ और शोरगुल से नफरत के लायक बना दी गयी है और जिसके मार्ग पर मुसाफिरों की भीड़ से भरी बेशुमार मोटर गाड़ियों को खींचने वाले ईंजन हमेशा तेजी से दौड़ते रहते हैं। ये मुसाफिर ऐसे होते हैं जो अधिकतर यह नहीं जानते कि उन्हें जीवन में क्या करना है, जो हमेशा असावधान रहते हैं और जिनके स्वभाव में इसलिए कोई सुधार नहीं होता कि उन्हें सन्दूकों में भरी हुयी मछलियों की तरह मोटर-गाड़ियों में बुरी तरह दूस दिया जाता है, और ये ऐसे अजनबी लोगों के बीच अपने को पात हैं, जो बस चले तो इन्हें गाड़ी से बाहर निकाल देंगे जिन्हें ये भी बदले में इसी तरह निकाल देंगे। मैं इन बातों का जिक्र इसलिए करता हूँ कि ये सब चीजें भौतिक प्रगति की निशानियाँ मानी जाती हैं। लेकिन वास्तव में ये हमारे सुख को रत्ती भर भी नहीं बढ़ाती।

तब पूछा जाय तो कोई प्रवृत्ति और कोई उद्योग, चाहे कितना ही छोटा हो, थोड़ी बहुत हिंसा के बिना संभव नहीं। कुछ हिंसा के बिना जिंदा रहना भी असंभव है। हमें करना यही है कि हम उसे यथा संभव ज्यादा से ज्यादा घटायें। वास्तव में अहिंसा शब्द का जो नकारात्मक है, अर्थ यही है कि जीवन में जो हिंसा अनिवार्य है उसे छोड़ देने का वह प्रयत्न है। इसलिए जो कोई भी अहिंसा में विश्वास करता है, वह ऐसे धन्धों में लगेगा जिसमें कम से कम हिंसा हो। इस प्रकार उदाहरण के लिए वह कल्पना नहीं की जा सकती कि अहिंसा में विश्वास रखने वाला कोई आदमी कसाई का धंधा करेगा। यह बात नहीं है कि मांसाहारी अहिंसक नहीं हो

सकता। परन्तु अहिंसा में विश्वास रखने वाला मांसाहारी भी शिकार नहीं करेगा और न वह युद्ध की तैयारियाँ करेगा। इस प्रकार अनेक प्रवृत्तियाँ और धन्धे ऐसे हैं, जिनमें हिंसा अवश्य होती है और जिनसे अहिंसक मनुष्य को बचना चाहिए। परन्तु खेती ऐसी प्रवृत्ति है जिसके बिना जीवन असंभव है, और उसमें कुछ न कुछ हिंसा होती ही है। इसलिए निर्णायक तत्व यह है क्या धन्धे की बुनियाद हिंसा पर है? परन्तु चूँकि प्रवृत्ति मात्र में कुछ न कुछ हिंसा होती ही है, इसलिए हमारा काम इतना ही है कि उसमें होने वाली हिंसा की हम कम से कम करने का प्रयत्न करें। अहिंसा में हार्दिक विश्वास हुए बिना यह असंभव है। मान लीजिये एक ऐसा मानव है जो प्रत्यक्ष हिंसा नहीं करता, और अपनी रोजी के लिए श्रम करता है वस्तु दूसरों के धन या वैभव पर सदा ईर्ष्या से चलता है। वह अहिंसक नहीं है। इस प्रकार अहिंसक धन्धा व है जो बुनियादी तौर पर हिंसा से मुक्त हो और जिसमें दूसरों का शोषण या ईर्ष्या नहीं हो।

गाँधीजी का कहना है कि मेरे पास इसका ऐतिहासिक सबूत तो नहीं है, परन्तु मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष में एक समय ऐसा था जब ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का संगठन इस तरह के अहिंसक धन्धों के आधार पर मनुष्य के अधिकारों के आधार पर नहीं परन्तु मनुष्य के कर्तव्यों के आधार पर होता था। जो इन धन्धों में लगते थे वे अपनी रोजी बेशक कमाते थे, परन्तु उनके श्रम से समाज की भलाई होती थी। उदाहरणार्थ, एक बड़ई गाँव के किसान की जरूरतें पूरी करता था, उसे कोई नकद मजदूरी नहीं मिलती थी, परन्तु गाँव वाले उस अपनी पैदावार में हिस्सा देते थे। इस अवस्था में भी अन्याय हो सकता है, परन्तु वह अत्यन्त कम किया जा सकता है। गाँधीजी अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर यह कहते हैं कि उस समय लोगों में आज की अपेक्षा अधिक तेज था, उनके हाथ पैर आज की अपेक्षा अधिक मजबूत थे, उस जीवन का आधार अहिंसा थी, यद्यपि लोगों को मान न था।

शरीर श्रम इन अद्योगों व धन्धों की जान था और बड़े पैमाने पर कोई कल कारखाने नहीं थे। कारण, जब मनुष्य उतनी ही जमीन रखकर संतोष कर लेता है जिसे वह खुद मेहनत करके जोत सके, तब वह दूसरों का शोषण नहीं कर सकता। दस्तकारियों में शोषण और गुलामी की गुंजाईश नहीं होती। बड़े पैमाने पर चलने वाले कारखाने एक आदमी के हाथों में धन इकट्ठा कर देते हैं और वह बाकी लोगों पर, जो उसके लिए गुलामों जैसे काम करते हैं, प्रभुत्व जमा लेती हैं। संभव है वह अपने मजदूरों के लिए आदर्श स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा हो, परन्तु फिर भी वह शोषण ही है, और शोषण हिंसा का एक रूप है। वही कारण है कि गाँधीजी का ऐसा मानना था कि एक समय ऐसा जब समाज का आधार शोषण पर नहीं बल्कि न्याय पर था, तब मैं यह सुझाना चाहता हूँ कि सत्य और अहिंसा उस समय ऐसे सदगुण नहीं थे जिनका आचरण व्यक्तियों तक ही सीमित था, बल्कि सारे समाज के लोग उनका आचरण करते थे। मेरी दृष्टि में ऐसा सदगुण कोई मूल्य नहीं रखता जो व्यक्तियों तक ही सीमित रहे या व्यक्ति ही जिसका आचरण कर सकें।

12.3.5 जोते उसकी जमीन

गाँधीजी का ऐसा विचार था कि यदि भारतीय समाज को शान्तिपूर्ण मार्ग पर सच्ची प्रगति करनी है, तो अनेक वर्ग को निश्चित रूप से स्वीकार कर लेना होगा कि किसान के भीतर भी वैसी ही आत्मा है जैसी जापान के उमरावों ने किया उसी तरह उन्हें भी अपने आपको संरक्षक मानना चाहिए। उनके पास जो धन है और यह समझकर रखना चाहिये कि उसका उपयोग उन्हें अपने संरक्षित किसानों की भलाई के लिए करना है। उस हालत में वे अपने परिश्रम के कमीशन के रूप में वाजिब रकम से ज्यादा नहीं लेंगे। इस समय धनिक वर्ग के सर्वथा अनावश्यक दिखावे और फिजूलखर्ची में तथा जिन किसानों के बीच वे रहते हैं उनके गंदगी भरे वातावरण और कुचल डालने वाले दारिद्र्य में कोई अनेपात नहीं है। इसलिये एक आदर्श जमींदार किसानों का बहुत कुछ बोझा, जो वे अभी उठा रहा है, एकदम घटा देगा। वह किसानों के गहरे संपर्क में आयेगा और उनकी आवश्यकताओं को जानकर उस निराशा के स्थान पर, जो उनके प्राणों को सुखाये जा रही है, उनमें आशा का संचार करेगा। वह किसानों में फैले सफायी और तन्दुरुस्ती के नियमों के अज्ञान को दर्शक की तरह देखता नहीं रहेगा, बल्कि इस अज्ञान को दूर करेगा। किसानों के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये वह स्वयं अपने को दरिद्र बना लेगा। वह अपने किसानों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करेगा और ऐसे स्कूल खोलेगा, जिनमें किसानों के बच्चों के साथ-साथ अपने खुद के बच्चों को भी पढ़ायेगा। वह गाँव के कुओं और तालाब को साफ करायेगा। वह किसानों को अपनी सड़कें और अपने पाखाने खुद आवश्यक परिश्रम करके साफ

करना सिखायेगा। वह किसानों के लिए अपने बाग-बगीचे निःसंकोच भाव से खोल देगा, ताकि वे स्वतन्त्रता से उनका उपयोग करें या कर सकें। जो गैर-जरूरी इमारतें वह अपनी मौज के लिये रखता है, उनका उपयोग अस्पताल, स्कूल या ऐसी ही अन्य बातों के लिए करेगा। यदि पूँजीपति वर्ग काल का संकेत समझकर सम्पत्ति के बारे में अपने इस विचार को बदल डालें कि उस पर उनका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, तो जो सात लाख पूरे आज गाँव कहलाते हैं आनन फानन में शान्ति, स्वास्थ्य और सुख के धाम बनाया जा सकता है। मेरा दुःख विश्वास है कि यही पूँजीपति जापान के उमरावों का अनुसरण करें, तो वे सचमुच कुछ खोयेंगे नहीं और सब कुछ पायेंगे। केवल दो मार्ग हैं जिनमें से उन्हें अपना चुनाव कर लेना है। एक तो यह कि पूँजीपति अपना अतिरिक्त संग्रह स्वेच्छा से छोड़ दें और उसके परिणाम स्वरूप सबको वास्तविक सुख प्राप्त हो जाय। दूसरा यह कि अगर पूँजीपति समय रहते न चेतें तो करोड़ों जाग्रत किन्तु अज्ञान और भूखे लोग देश में ऐसी गडबड मचा दें, जिसे एक बलशाली हुकूमत की फौजी ताकत भी नहीं रोक सकती। मैंने यह आशा रखी है कि भारतवर्ष इस विपत्ति से बचने में सफल रहेगा। उत्तर प्रदेश के कुछ नौजवान ताल्लुकदारों से हुयी भेंट के आधार पर गाँधीजी ने ये विचार प्रकट किये और आशान्वित हुये।

गाँधीजी का ऐसा विचार था कि वे जमींदारों और दूसरे पूँजीपतियों का अहिंसा के द्वारा हृदय परिवर्तन करना चाहते थे। यही कारण है वर्ग युद्ध की अनिवार्यता स्वीकार नहीं करते। कम से कम संघर्ष का रास्ता ही गाँधीजी के अहिंसा के प्रयोग का एक आवश्यक हिस्सा है। जमीन पर मेहनत करने वाले तथा अपने पसीने की बूँद बहाने वाले कृषक तथा मजदूरी क्यों ही अपनी ताकत(अन्तः व वाह्य) पहचान लेंगे, त्यों ही यह निश्चित है कि जमींदारी की बुराई का बुरापन दूर हो जायेगा। अगर वे लोग कह दें कि उन्हें सभ्य जीवन की आवश्यकता के अनुसार बच्चों के भोजन-वस्त्र और शिक्षा आदि के लिये जब तक काफी मजदूरी नहीं दी जायेगी। जब तक ते जमीन को जोतेंगे-बोंयेंगे ही नहीं तो जमींदार बेचारा कर ही क्या सकता है? सच तो यह है कि मेहनत करने वाला जो कुछ पैदा करता है उसका वहीं मालिक है। यदि मेहनत करने वाले बुद्धिमत्ता पूर्वक एक हो जायें तो एक ऐसी ताकत बन जायेंगे जिसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। इसीलिये गाँधीजी वर्ग-युद्ध की कोई जरूरत नहीं देखते हैं। उनका ऐसा मानना था कि यदि वे उसे अनिवार्य मानते तो उसका प्रचार करने में और लोगों को उसकी तालीम देने में मुझे कोई संकोच नहीं होता।

किसानों का वे भूमिहीन मजदूर हों या मेहनत करने वाले जमीन-मालिक हों-स्थान पहला है। उनके परिश्रम से ही पृथ्वी उपजाऊ और समृद्ध हुयी है और इसलिये सच कहा जाय तो जमीन उनकी ही है या होनी चाहिये, जमीन से दूर रहने वाले जमींदारों की नहीं। लेकिन अहिंसक पद्धति में मजदूर या किसान इन जमींदारों से उनकी जमीन बलपूर्वक नहीं छीन सकता। उसे इस तरह काम करना चाहिये कि उसका शोषण करना जमींदार के लिये असंभव हो जाय। किसानों में आपस में घनिष्ट सहकार होना नितान्त आवश्यक है। इस हेतु की पूर्ति के लिये जहाँ वैसी समितियाँ न हों वहाँ आवश्यक होने पर उनका पुनर्गठन होना चाहिये। किसान ज्यादातर अनपढ़ हैं। स्कूल जाने की उमर वालों को और बालिगों को शिक्षा दी जानी चाहिये। शिक्षा पुरुषों और स्त्रियों दोनों को ही दी जानी चाहिये। भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की मजदूरी इस हद तक बढ़ायी जानी चाहिये कि वे निश्चित रूप से सभ्य जीवन बिता सकें। यानी उन्हें संतुलित भोजन और आरोग्य की दृष्टि से जैसे चाहिये वैसे घर और कपड़े मिल सकें।

12.3.6 संरक्षता का सिद्धान्त

“हरिजन सेवक” नामक पत्रिका में जून 39 में गाँधीजी का एक लेख छपा, जो उनके संरक्षकता के सिद्धान्त को उजागर करता है। “फर्ज कीजिए कि विरासत के या उद्योग व्यवसाय के द्वारा मुझे काफी बड़ी सम्पत्ति मिल गयी। तब तुझे यह जानना चाहिये कि वह सब सम्पत्ति मेरी नहीं है, बल्कि मेरा तो उस पर इतना ही अधिकार है कि जिस तरह दूसरे लाखों आदमी गुजर करते हैं उसी तरह मैं भी इज्जत के साथ अपना गुजर करूँ। मेरी शेष सम्पत्ति पर राष्ट्र का हक है और उसी के हित के लिए उसका उपयोग होना आवश्यक है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मैंने तब किया था, जबकि जमींदारों और राजाओं की सम्पत्ति में समाजवादी सिद्धान्त देश के सामने आया था। समाजवादी विशेष सुविधाएँ पाये हुये इन वर्गों को खत्म कर देना चाहते हैं, जब कि मैं यह चाहता हूँ कि वे (जमींदार और राजा) अपने लोभ और परिग्रह की भावना को छोड़े और उन लोगों के समकक्ष बन जाय जो मेहनत करके रोटी कमाते हैं। मजदूरों को भी यह महसूस करना होगा कि मजदूर का काम करने

की शक्ति पर जितना अधिकार है, मालदार आदमी का अपनी सम्पत्ति पर उससे भी कम अधिकार है। यह दूसरी बात है कि इस तरह के सच्चे ट्रस्टी कितने हो सकते हैं। अगर सिद्धान्त ठीक हो तो यह बात गौण है कि उसका पालन अनेक लोग कर सकते हैं या केवल एक ही आदमी कर सकता है। यह प्रश्न आत्म-विश्वास का है। अगर आप अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करें, तो आपको उसके अनुसार आचरण करने की कोशिश करनी चाहिए, चाहे उसमें आपको सफलता मिले या असफलता। आप यह तो कह सकते हैं कि इस पर अमल करना मुश्किल है, लेकिन इस सिद्धान्त में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके लिए यह कहा जा सके कि वह बुद्धिग्राह्य नहीं है।

दि मार्डन रिव्यू में अपने विचार प्रकट करते हुए गाँधीजी ने स्पष्ट रूप से कहा था “आप कह सकते हैं कि ट्रस्टीशिप तो कानून शास्त्र की एक कल्पना मात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन यदि लोग उस पर सतत विचार करें और उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें, तो मनुष्य जाति के जीवन की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना काम करता है उससे कहीं अधिक काम करेगा। बेशक पूर्ण ट्रस्टीशिप तो युक्लिड की बिन्दु की व्याख्या की तरह एक कल्पना ही है और उतनी ही अप्राप्य भी हैं। लेकिन यदि उसके लिए कोशिश की जाय तो दुनिया में समानता की स्थापना की दिशा में हम दूसरे किसी उपाय से जितनी दूर तक जा सकते हैं उसके बाजाय इस सिद्धान्त से ज्यादा दूर तक जा सकेंगे। मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि राज्य ने पूँजीवादी को हिंसा के द्वारा दबाने की कोशिश की तो वह खुद ही हिंसा के जाल में फँस जायेगा और फिर कभी भी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसा का एक केन्द्रित और संगठित रूप ही है। व्यक्ति में आत्मा होती है, परन्तु चूँकि राज्य एक जड़ यन्त्र मात्र है इसलिए उसे हिंसा से कभी नहीं छूड़ा जा सकता, क्योंकि हिंसा से ही उसका जन्म होता है। इसीलिए मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को तरजीह देता हूँ। यह डर हमेशा रहता है कि कहीं राज्य इन लोगों के खिलाफ, जो उससे मतभेद रखते हैं, बहुत ज्यादा हिंसा का उपयोग न करें। लोग यदि स्वेच्छा से ट्रस्टियों की तरह व्यवहार करने लगे तो मुझे सचमुच बड़ी खुशी होगी, लेकिन यदि वे ऐसा न करें तो मेरा ख्याल है कि राज्य के द्वारा भरसक कम हिंसा का आश्रय लेकर उनसे उनकी सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी।—) यह कारण है कि मैंने गोलमेज परिषद में कहा था कि सभी निहित हितवालों की जाँच होनी चाहिए और जहाँ आवश्यक मालूम हो वहाँ—— मुआवजा देकर या मुआवजा दिए बिना ही, जहाँ जैसा आवश्यक हो, वहाँ उनकी सम्पत्ति राज्य को अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। व्यक्तिगत तौर पर मैं यह चाहूँगा कि राज्य के हाथों में शक्ति का ज्यादा केन्द्रीकरण होने के बजाय ट्रस्टीशिप की भावना का विस्तार हो, क्योंकि मेरी राय में राज्य की हिंसा की तुलना में वैयक्तिक मालिकी की हिंसा कम हानिकारक है। लेकिन यदि राज्य की मालिकी अनिवार्य ही हो तो मैं भरसक राज्य की कम से कम मालिकी की सिफारिश करूँगा।

गाँधीजी का कहना है कि आजकल यह कहना एक फैशन हो गया है कि समाज को अहिंसा के आधार पर न तो संगठित किया जा सकता है और न चलाया जा सकता है। मैं इस कथन का विरोध करता हूँ। परिवार में जब पिता अपने पुत्र को अपराध करने पर थप्पड़ मार देता है, तो पुत्र उसका बदला लेने की बात नहीं सोचता। वह अपने पिता की आज्ञा इसलिए स्वीकार कर लेता है कि इस थप्पड़ के पीछे वह अपने पिता के प्यार को आहत हुआ देखता है, इसलिए नहीं कि थप्पड़ के कारण वह वैसा अपराध दुबारा करने से डरता है। मेरी राय में समाज की व्यवस्था इसी तरह होनी चाहिये, यह उसका एक छोटा रूप है। जो बात परिवार के लिए सही है वही समाज के लिए भी सही है, क्योंकि समाज एक बड़ा परिवार ही है।

इसी विषय पर बोलते हुए गाँधीजी ने जनवरी 39 में कहा था, “मेरी धारणा है कि अहिंसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं हैं वह एक सामाजिक गुण भी है और अन्य गुणों की तरह उसका भी विकास किया जाना चाहिये। यह तो मानना होगा कि समाज के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन बहुत हद तक अहिंसा के द्वारा होता है। मैं इतना चाहता हूँ। मैं इतना हूँ कि इस सिद्धान्त का बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रिय पैमाने पर, विस्तार किया जाये।

अन्त में ट्रस्टीशिप के बारे में गाँधीजी के 16 दिसम्बर, 1939 को ‘हरिजन’ में कहे ये शब्द उनके अर्न्तमन की बात को प्रकट करते हैं। गाँधीजी का कहना है कि ‘मेरा ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त कोई ऐसी चीज नहीं है जो काम निकालने के लिये आज धड़ लिया गया हों। अपनी मंशा को छिपाने के लिए खड़ा किया गया आवरण तो वह हरगिज नहीं है। मेरा विश्वास है कि दूसरे सिद्धान्त जब नहीं रहेंगे तब भी वह रहेगा। उसके पीछे

तत्वज्ञान और धर्म के समर्थन का बल है। धन के मालिकों ने इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं किया है, इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि वह सिद्धान्त झुठा है, इससे धन के मालिकों की कमजोरी—मात्र सिद्ध होती है। अहिंसा के साथ किसी दूसरे सिद्धान्त का मेल ही नहीं बैठता। अहिंसक मार्ग की खूबी यह है कि अन्यायी यदि अपना अन्याय दूर नहीं करता तो वह अपना नाश खुद ही कर डालता है। क्योंकि अहिंसक असहयोग के कारण या तो वह अपनी गलती देखने और सुधारन के लिए मजबूर हो जाता है, या वह बिल्कुल अकेला पड़ जाता है।

12.3.7 समाजवाद में सत्य और अहिंसा

समाजवादी को सत्य और अहिंसा की मुर्ति होना चाहिये और इसके लिए ईश्वर में उसकी जीती-जागती श्रद्धा होनी चाहिये। सत्य और अहिंसा का यन्त्र की तरह पालन करना कसौटी के वक्त काम नहीं देता। इसलिए मैंने (गाँधीजी ने) कहा कि सत्य ही परमेश्वर है।

यह परमेश्वर चेतनामय शक्ति हैं। जीव इसी शक्ति से बना है। यह जीवन शरीर में रहता है, मगर वह खुद शरीर नहीं है। इस महान शक्ति के अस्तित्व से इनकार करने वाला व्यक्ति अपने में रहने वाला इस अटूट शक्ति से वंचित रहकर अंपग बनता है। वेपतवार की नाव की तरह वह इधर-उधर टकराता है और आखिर में कहीं भी पहुँचे बिना बरबाद हो जाता है। यह हालत हममें से बहुतों की होती है। ऐसे लोगों का समाजवाद कहीं भी नहीं पहुँचता। करोड़ों मनुष्यों तक उसके पहुँचने की बात ही दूर है।

यह सारी बात अगर सच हो तो क्या ईश्वर में श्रद्धा रखने वाला कोई समाजवादी नहीं होगा? अगर हो तो उसने प्रगति क्यों नहीं की? ईश्वर-भक्त तो बहुत से हो गये। उन्होंने क्यों नहीं समाजवाद कायम किया?

इन दो शंकाओं का सचोटे जबाब देना मुश्किल है। फिर भी मैं जानता हूँ कि ईश्वर को मानने वाले समाजवादी को ऐसा कभी नहीं लगा होगा कि समाजवाद का अस्तिकता से कोई सीधा सम्बन्ध है। शायद ईश्वर-भक्तों को समाजवाद की जरूरत ही न रही हों। ईश्वर भक्तों के मौजूद रहते हुये भी दुनिया में वहम कहाँ नहीं देखने में आते। हिन्दू धर्म में ईश्वर-भक्तों के होते हुए भी छुआछूत जैसे महान कलंक ने क्या समाज पर राज्य नहीं किया?

ईश्वर तत्व क्या है, उसमें कितनी शक्ति छिपी हुई है, यह हमेशा खोज का विषय रहा है। मेरा यह दावा रहा है कि उसी खोज में से सत्याग्रह की खोज हुयी है। यही नहीं कहा जा सकता कि सत्याग्रह से सम्बन्ध रखने वाले सारे कायदे-कानून बन गये हैं। मैं यह भी नहीं कहता कि इसके सारे कायदे मैं जानता हूँ। मगर इतना मैं दृढ़ता से कह सकता हूँ कि सत्याग्रह से जो कुछ भी पाने जैसा है वह सब पाया जा सकता है। सत्याग्रह बड़े से बड़ा साधन है, हथियार है। मेरी राय में समाजवाद तक पहुँचने का इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

सत्याग्रह के जरिये समाज के सारे राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक रोगों को मिटाया जा सकता है।

12.3.8 अहिंसक पृष्ठबल—सत्याग्रह

अगर विधा-सभायें किसानों के हितों की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध होती हैं, तो उनके पास सविनय अवज्ञा और असहयोग का अचूक इलाज तो हमेशा ही होगा। लेकिन ————— अन्त में अन्याय या मन से जो चीज प्रजा की रक्षा करती है, वह कागजों पर लिखे जाने वाले कानून, वीरतापूर्ण शब्द या जोशीले भाषण नहीं हैं, बल्कि अहिंसक, अनुशासन और बलिदान से पैदा होने वाली ताकत है।

प्र० — धनी लोगों को गरीबों के प्रति उनका कर्तव्य महसूस कराने में सत्याग्रह का क्या स्थान है?

उ० — वही जो विदेशी हुकूमत के खिलाफ आजादी की लड़ाई लड़ने में है। सत्याग्रह ऐसा कानून है जो सर्वत्र लागू किया जा सकता है। परिवार से आरम्भ करके दूसरे किसी भी क्षेत्र तक उसके उपयोग विस्तार किया जा सकता है। मान लीजिये कि कोई जमीन-मालिक अपने किसानों का शोषण करता है और उनके परिश्रम का फल अपने ही काम में लेकर उन्हें उससे वंचित रखता है। जब ते उसे ऊलाहना देते हैं तो वह उनकी सुनता नहीं और जवाब देता है कि मुझे इतना अपनी पत्नी के लिए चाहिये, इतना अपने बच्चों के लिए चाहिये, इत्यादि—इत्यादि। ऐसी हालत में किसान या उनकी हिमायत करने वाले और असर रखने वाले लोग उसकी पत्नी से अपील करेंगे कि वह अपने पति को समझायें। शायद वह ऐसा कहेगी कि मुझे अपने लिए तो यह शोषण का रूपया नहीं चाहिये। बच्चे भी इसी तरह कहेंगे कि हमें जितना चाहिये उतना हम खुद कमा लेंगे। अब मान

लीजिये कि वह किसी की नहीं सुनता या उसके पत्नी-बच्चे किसानों के विरुद्ध एक हो जाते हैं, तो भी किसान सिर नहीं झुकाएंगे। उन्हें कहा जायेगा तो वे जमीन छोड़कर चले जायेंगे, मगर यह स्पष्ट कर देंगे कि जमीन उसी की है जो उसे जोतता है। मालिक स्वयं तो सारी जमीन को जोत नहीं सकता और उसे उनकी न्यायपूर्ण मांगों के आगे झुकना पड़ेगा। परन्तु यह संभव है कि इन किसानों की जगह पर दूसरे किसान आ जायें। तब हिंसा किये बिना आन्दोलन तब तक जारी रहेगा, जब तक इनका स्थान लेने वाले काश्तकारों को अपनी भूल महसूस न हो जाय और वे बेदखल किये गये काश्तकारों के साथ जमींदार के खिलाफ मिल न जायें।

सत्याग्रह लोकमत को शिक्षा देने की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो समस्त तत्वों को प्रभावित करके अन्त में अजेय बन जाती है। हिंसा से उस प्रक्रिया में बाधा पड़ती है और सारे समाज की सच्ची क्रान्ति में विलम्ब होता है।

सत्याग्रह की सफलता के लिए जरूरी शर्तें ये हैं:

- (1) विरोध के प्रति सत्याग्रही के हृदय में घृणा नहीं होनी चाहिये।
- (2) मुद्दा सच्चा और ठोस होना चाहिये।
- (3) सत्याग्रही को अपने कार्य के लिये अन्त तक कष्ट-सहन की तैयारी रखनी चाहिये।

12.3.9 अहिंसक राज्य

महात्मा गाँधी की दृष्टि में अहिंसा का वही स्थान है जो मानव जीवन में प्राण-वायु (आक्सीजन) का है। जैसे मानव बिना आक्सीजन के जीवित नहीं रह सकता, वैसे ही गाँधी का विचार-क्रम बिना अहिंसा के आधारभूमि के खड़ा ही नहीं हो सकता। इस संबंध में एक बार स्वयं ही महात्मा गाँधी ने कहा था “ मुझसे कितने ही लोगों ने संदेह से सिर दुलाते हुये कहा है, ‘लकिन आप सामान्य जनता को अहिंसा नहीं सिखा सकते। अहिंसा का पालन केवलन व्यक्ति की कर सकते हैं, सो भी विरले व्यक्ति। मेरी राय में यह धारणा एक बड़ी भूल है। यदि मनुष्या जाति स्वभाव से अहिंसक नहीं होती तो उसने युगों पहले अपने हाथों अपना नाश कर लिया होता। लेकिन हिंसा और अहिंसा के पारस्परिक संघर्ष में अन्त में अहिंसा ही सदा विजयी सिद्ध हुयी है। सच तो यह है कि हमने रजनीतिक उद्देश्य प्राप्त के लिये लोगों में अहिंसा की शिक्षा के प्रसार की पूरी कोशिश करने जितना धीरज कभी प्रकट नहीं किया।

यंग इण्डिया में 2 जुलाई, 1931 में इसी विषय पर चर्चा करते हुए गाँधीजी ने कहा था, “मेरी दृष्टि में राजनीतिक सत्ता कोई साध्य नहीं है, परन्तु जीवन के प्रत्येक विभाग में लोगों के लिए अपनी हालत सुधार सकने का एक साधन है। राजनीतिक सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वयं आत्म-नियमन कर लें, तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय ज्ञान पूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में हर एक अपना राजा होता है। वह इस ढंग से अपने पर शासन करता है कि अपने पड़ोसियों के लिये कभी बाधक नहीं बनता। इसलिए आदर्श अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि कोई राज्य नहीं होता। परन्तु जीवन में आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं होती। इसलिए थोरो ने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे वही उत्तम सरकार है।

दि माडर्न रिव्यू में छपे उनके विचार इस प्रकार हैं: “मैं राज्य की सत्ता की वृद्धि को बहुत ही भय की दृष्टि से देखता हूँ। क्योंकि जाहिर तौर पर तो वह शोषण को कम से कम करके लाभ पहुँचाती है: परन्तु मनुष्य के व्यक्तित्व को नष्ट करके वह मानव-जाति को बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाती है, जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ हैं।

मुझे जो बात नापसन्द है वह है बल के आधार पर बना हुआ संगठन: और राज्य ऐसा ही संगठन है। स्वेच्छापूर्वक संगठन जरूर होना चाहिये।

समाज की अहिंसक रचना के साथ केन्द्रिकरण एक प्रणाली के रूप में अंसगत है। अब सवाल यह है कि आदर्श समाज में कोई राज्यसत्ता रहेगी या वह एक बिल्कुल अराजकता समाज बनेगा? मेरे ख्याल में ऐसा सवाल पूछने से कुछ फायदा नहीं हो सकता। अगर हम ऐसे समाज के लिए मेहनत करते रहें, तो वह किसी हद तक धीरे-धीरे बनता रहेगा, और उस हद तक लोगों को उससे फायदा होगा। युक्लड ने कहा है कि लकीर (रेखा)

वही हो सकती है जिसमें चौड़ाई न हो, लेकिन ऐसी लकीर ऐसी न तो आज तक कोई बना पाया और न बना पायेगा। फिर भी आदर्श लकीर को ख्याल में रखने से ही प्रगति हो सकती है और जो लकीर के बारे में सच है वही हर एक आदर्श के बारे में भी सच है।

हाँ, इतना याद रखना चाहिये कि आज दुनिया में कहीं भी अराजक समाज मौजूद नहीं है। अगर कभी कहीं बन सकता है, तो उसका प्रारम्भ हिन्दुस्तान में ही हो सकता है। क्योंकि हिन्दुस्तान में ऐसा समाज बनाने की काशिश की गयी है। आज तक हम आखिकी दरजे की बहादुरी नहीं दिखा सके: मगर उसे दिखाने का एक ही रास्ता है और वह यह रास्ता है और वह यह है कि जो लोग उसमें विश्वास रखते हैं वे उसे दिखावें। ऐसा करने के लिए जिस तरह हमने जेल के डर को छोड़ दिया है, उसी तरह मृत्यु के डर को भी पूरी तरह छोड़ देना होगा।

12.3.10 शान्ति सेना

गाँधीजी, सर्वोदयी विचारधारा के समर्थक रहे हैं, उन्होंने बल प्रयोग का सदैव विरोध किया, उनका मानना था कि समाज में आपसी सम्बन्ध भ्रातृत्व, समानता आदि गुणों पर अवलिम्बित होना चाहिए, न कि राज्य के पाश्विक बल प्रयोग पर। इस संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए हरिजन सेवक में कहा, मेरी राय है कि भारत को अहिंसा के रास्ते में चलकर विकास करना हो, तो उसे बहुत बातों में सत्ता का बटवारा करना पड़ेगा। काफी सेना रखे बिना न तो एक जगह सारी सत्ता केन्द्रित हो सकती है और न उसकी रक्षा हो सकती है। सीधे साधे घरों में चारी जाने के लिए कुछ होता ही नहीं, तो वहां पुलिस को क्या जरूरत है? हां अमीरों के महलों को डकतों से बचाने के लिए जरूर मजबूत पहरे चाहिये। हिन्दुस्तान का संगठन गांवों की दृष्टि से होगा तो उसे बाहर के हमले का इतना डर नहीं रहेगा जितनी शहरी ढंग से संगठित होने पर रहेगा। फिर चाहे वह जल, थल और हवायी सेना से कितना सुज्जित क्यों क्यों न हो।

गाँधीजी कोरे सिद्धान्तवादी न थे। उनके विचार हवाई किले मात्र न थे वरन् व्यावहारिकता के धरातल पर भी उतने ही खरे थे, जितना उनका एक सिद्धान्त के रूप में मूल्य था। यही कारण है कि उन्होंने कहा, “सरकार को पूरी तरह अहिंसक रहने में कामयाबी नहीं हो सकती, क्योंकि वह सारी जनता की प्रतिनिधि होती है। इस तरह के सतयुग की मैं आज में कल्पना नहीं कर सकता। मगर मुझे भरोसा अवश्य है कि अहिंसा-प्रधान संभव हो सकता है और मैं उसी के लिए काम रहा हूँ। आगे उन्होंने कहा, “अहिंसक राज्य में भी पुलिस की जरूरत हो सकती है। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह मेरी अपूर्ण करने का सांहत नहीं नहीं है कि हम पुलिस की ताकत के बिना काम चला सकते हैं। अवश्य ही मैं ऐसे राज्य की कल्पना कर सकता हूँ और करता हूँ, जिसमें पुलिस की जरूरत नहीं होगी, परन्तु यह कल्पना सफल होगी या नहीं, यह तो भविष्य ही बतलायेगा। “परन्तु मेरी कल्पना की पुलिस आजकल की पुलिस से बिल्कुल भिन्न होगी। उसमें सभी सिपाही अहिंसा मानने वाले होंगे। वे जनता के मालिक नहीं उसके सेवक होंगे। लोग स्वाभाविक रूप में ही उन्हें हर प्रकार की सहायता देंगे और आपस के सहयोग से दिन-दिन घटने वाले दंगों का आसानी से सामना कर लेंगे। पुलिस के पास किसी न किसी प्रकार के हत्यार तो होंगे परन्तु उन्हें कदाचित ही काम में लिया जाएगा। असल में तो पुलिस वाले सुधारक बन जायेंगे। उनका काम मुख्यतः चोर डाकुओं तक सीमित रह जाएगा। मजदूरों और पूजिपतियों के झगडे और हड़ताल अहिंसक राज्य में यदा-कदा ही होंगे। क्योंकि अहिंसक बहुमत का असर इतना अधिक रहेगा कि समाज के मुख्य तत्व उसका आदर करेंगे। इसी तरह साम्प्रदायिक दंगों की भी गुंजाइश नहीं रहेगी।

12.5 सारांश

गाँधीजी का समाजवादी विचार भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति तथा भारतीय परिस्थितियों पर आधारित है। इसमें पाश्चात्य समाजवादी मूल्यों को समाहित करते हुए भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को सर्वोपरी रखा गया है। इन सभी मूल्यों और विचारों के द्वारासर्वोदय के विचार का प्रतिपादन किया गया है। यही विचार गाँधीजी का समाजवादी विचार कहलता है। परन्तु, यह भौतिक जगत के सत्य को स्वीकार करते हुए भी, मार्क्स से प्रथक, भौतिक तत्व को प्रधान्य निर्णायक शक्ति के रूप में अस्वीकार करता है और सत्य, अहिंसा एवं अन्य नैतिक मूल्यों को व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन और सर्वोदय समाज के लिए अपरिहार्य मानता है। यही गुण गाँधी के चिन्तन को समाजवाद से भिन्न भी बनाती हैं।

12.5 अभ्यास प्रश्न

1. गाँधीजी के समाजवादी विचारों को स्पष्ट समझाइये।
2. गाँधीजी के समाजवादी विचारों में सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
3. आर्थिक समानता और विकास के संबंध में गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत समाजवादी व्यवस्था को स्पष्ट कीजिए।

12.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. देव, नरेन्द्र, समाजवाद का मूल आधार मानवता, पद्मा पब्लिकेशन्स, बम्बई, 1946
2. धर्माधिकारी, दादा, सर्वोदय दर्शन, अखिल भारतीय सेवा संघ, काशी, 1957
3. लोहिया, राम मनोहर, मार्क्स गाँधी एण्ड सोशलिज्म, नवहिन्द, हैदराबाद, 1938.
4. नम्बूदरीपाद, ई.एम., द महात्मा एण्ड इज्म, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, 1959
5. प्रसाद, उपेन्द्र, गाँधीवादी समाजवाद, नमन प्रकाशन, दिल्ली, 2007

महात्मा गाँधी और राष्ट्रवाद

इकाई की रूपरेखा

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 13.3 भारतीय राष्ट्रवाद
- 13.4 गाँधी का दृष्टिकोण
 - 13.4.1 'समायोजन' पर आधारित
 - 13.4.2 यूरोपीय दृष्टिकोण से भिन्न
 - 13.4.3 सर्ववर्गीय समावेश पर आधारित
 - 13.4.4 वह धर्मनिरपेक्षता पर आधारित
 - 13.4.5 वह अन्तर्राष्ट्रीयता के समकक्ष
 - 13.4.6 वह समुदाय व बाहुल्यवादी
 - 13.4.7 वह जन आधारित धारणा
- 13.5 सारांश
- 13.6 अभ्यास प्रश्न
- 13.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 उद्देश्य

- महात्मा गाँधी और राष्ट्रवाद नामक इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को यह बतलाना है कि –
- राष्ट्रवाद का अर्थ समझाना
 - भारतीय राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या रही है
 - राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में गाँधी का दृष्टिकोण क्या था
 - गाँधी के राष्ट्रवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण का महत्व

13.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद एक आधुनिक विचार है जिसका उदय 18वीं शताब्दी में हुआ। इसी समय राज्य नाम की अवधारणा का विकास हुआ तथा राजनीतिक रूप से अपनी एक अलग पहचान स्थापित की। राष्ट्रवाद के उदय के फलस्वरूप राजनीतिक सरोकरों का केन्द्र बिन्दु राज्य में निहित हो गया। धीरे-धीरे इस विचार ने अपनी एक व्यापक पहचान स्थापित की। विश्व स्तर पर राष्ट्रवाद के प्रचार-प्रसार से गैर-आधुनिक से गैर-आधुनिक समाजों का यूरोपीयकरण तथा आधुनिकीकरण हुआ। इसके उदय के साथ अनेक नये सिद्धांतों का उदय हुआ जैसे-संप्रभुता की उत्पत्ति, शासितों के सक्रिय सहयोग से शासन का सिद्धांत, धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक या जातीय सामाजिक मानसिकता का विघटन। साथ ही साथ शहरीकरण, औद्योगिकीकरण तथा संचार सेवाओं का प्रचार-प्रसार।

इस प्रकार राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए यह कहा गया कि, "राष्ट्रवाद एक राजनीतिक विचार है जो आधुनिक विचारों के साथ आधुनिक समाज की स्थापना करता है। यह बहुसंख्यक लोगों की असीम श्रद्धा, विश्वास व राष्ट्र के प्रति भक्ति है। यह राज्य को केवल राजनीतिक संगठन के रूप में तैयार नहीं करता बल्कि सांस्कृतिक

व आर्थिक गतिविधियों का एक नया रूप भी प्रदान करता है।" यूरोपीय राष्ट्रवाद के संदर्भ में सामान्य रूप से यह विचार दिया जाता है कि यह जैविक एकता, एक खास क्षेत्रफल, एक समान अर्थव्यवस्था, समान भाषा, राष्ट्र के प्रति समान सोच, सांस्कृतिक समानता जैसे तत्वों को समाहित करने वाला है।

प्रख्यात इतिहासकार ई.एच.कार ने राष्ट्रवाद की व्याख्या निम्न शब्दों में की—

- i. एक सर्वमान्य सरकार की व्यवस्था जो वर्तमान या भूत की वास्तविकता हो या भविष्य की आकांक्षी;
- ii. एक निश्चित क्षेत्रफल तथा इसके सभी व्यक्तिगत सदस्यों के बीच आपसी तालमेल;
- iii. कम या ज्यादा मात्रा में एक निश्चित सीमा हो;
- iv. दूसरे राष्ट्रों व गैर-राष्ट्रीय समूहों से भिन्न कुछ ऐसे मौलिक तत्व हों, जो एक राष्ट्र को अलग पहचान दें। जिसमें भाषा को प्रमुखता दी जाये;
- v. व्यक्तिगत सदस्यों के हित सामूहिक हों;
- vi. जनसमूह में राष्ट्र के प्रति भावनात्मक झुकाव हो।

यद्यपि ये सारे तत्व तीसरे विश्व के देशों के राष्ट्रवाद के रूप में अपनी जगह नहीं बना सकें। इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद को उन राज्यों के साथ जोड़कर देखा जाता है जिनकी पहचान राजनीतिक इकाई के रूप में हो चुकी है। लेकिन इस भावना का उदय उन समुदायों में भी हो सकता है जिनका न तो सामाजिक व सांस्कृतिक ढांचे का विकास हुआ हो और न ही राजनीतिक इकाई के रूप में कोई पहचान हो तथा जो अन्य राज्यों के प्रभुत्व में हो।

13.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

18वीं शताब्दी के आरंभ से लेकर वर्तमान तक राष्ट्रवाद ने विभिन्न रूपों में अपनी मंजिल तय की। 18वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा 19वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध इसका शैशवकाल माना जाता है। इस काल में राष्ट्रवाद चारित्रिक रूप में अधिक उदार तथा अंतर्राष्ट्रीय था। इस दौर में इसने राष्ट्रीय भिन्नताओं को बिना किसी भेदभाव के स्वीकारा, जिससे इस बात को बल मिला कि यह एक साझे संघर्ष के सहभागी हैं। लेकिन इस समय यूरोप के कुछ भाग में राष्ट्रवाद को एक अलग पहचान के साथ उभारा जा रहा है। इसका दूसरा काल 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्ति तक माना जाता है। इस दौर में राष्ट्रवादी आंदोलनों ने अपने व्यापक अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप को छोड़कर रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी का रूप अपना लिया। इस प्रवृत्ति का सबसे ज्यादा विकास दो विश्वयुद्धों के बीच के काल में हुआ। यहां तक कि गैर-राष्ट्रवादी साम्यवादी आंदोलनों ने भी राष्ट्रवाद का चोला पहन लिया। इसके अंतिम काल की शुरुआत द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्वार्द्ध में एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के राज्यों की स्वतंत्रता के साथ शुरू हुई। अब राष्ट्रवादी आंदोलनों का केंद्र यूरोप से तीसरे विश्व के देशों में आ गया। इसका उदय मूल रूप से औपनिवेशिक साम्राज्य के खिलाफ संघर्ष के परिणामस्वरूप हुआ। स्वतंत्रता के बाद भी इन देशों में यह प्रवृत्ति कायम रही और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भाईचारे के रूप में सामने आयी। गुटनिरपेक्ष आंदोलनों के द्वारा जो विश्वस्तर पर शाक्तिशाली गुटों के विरोध स्वरूप थी। शीतयुद्ध की समाप्ति और भूमंडलीकरण ने एक बार राष्ट्रवाद को उदार राष्ट्रवाद के रूप में मार्ग प्रशस्त किया है, जिसमें राजनीतिक सराकारों को दरकिनार कर आर्थिक सम्बंधों को केन्द्र में रखा गया है। लेकिन यह सब निर्भर करेगा राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर होने वाली गतिविधियों से, इसकी रूपरेखा तथा भविष्य इनके बीच के संबंधों और समायोजन क्षमता ही तय करेगी।

14.3 भारतीय राष्ट्रवाद

भारतीय राष्ट्रवाद की अपनी विशेषताएं हैं, इसलिए गाँधी के विचारों के विश्लेषण के पहले भारतीय राष्ट्रवाद के उदय संबंधी दो अनिवार्य बिन्दुओं का विश्लेषण करना जरूरी है। राष्ट्रवाद को समझने के लिए इन

बिन्दुओं का उल्लेख जरूरी है जिससे राष्ट्रवाद की समझ और भी व्यापक होगी।

1. यह सर्वविदित है कि भारतीय राष्ट्रवाद का उदय यूरोपीय साँचे में नहीं हुआ। भारतीय राष्ट्रवाद की प्रकृति व स्वरूप यूरोपीय राष्ट्रवाद से बिल्कुल अलग रही है। अतः इसके दायरे में यूरोपीय राष्ट्रवाद के प्रकृति व स्वरूप नहीं आते हैं। यूरोपीय राष्ट्रवाद जैविक एकता, विशिष्ट क्षेत्रफल, एक समान अर्थव्यवस्था, भाषाई समानता, राष्ट्र के प्रति एक सोच तथा सांस्कृतिक समानता तक ही सीमित है। लेकिन भारतीय राष्ट्रवाद का विकास सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि के साये में हुआ है, इसलिए इसकी प्रकृति और परंपरा यूरोपीय राष्ट्रवाद से अलग है।

2. भारतीय राष्ट्रवाद कुछ क्रांतिकारी विचारों या आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर होने वाले विकास या फिर सामाजिक परिवर्तनों का उत्पादन भी नहीं है। यह किसी भी तरीके से एक निश्चित दिशा में सामाजिक विकास भर नहीं था। औपनिवेशिक ताकतों के फलस्वरूप उपजी पीड़ाओं ने यहां के नेताओं को इन पीड़ाओं ने एक ठोस राजनीति पर काम करने के लिए प्रेरित किया। जिसके कारण संघर्ष का मुख्य उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता हो गई। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद आजादी के लिए संघर्ष का ही एक परिणाम था। औपनिवेशिक दासता के मकड़जाल से निकलने के लिए अपनाये जाने वाले तौर-तरीकों ने भारतीय राष्ट्रवाद के स्वरूप को प्रभावित करते रहा। ये सारे तर्क भारतीय राष्ट्रवाद को उन आरोपों से मुक्त करते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद बिना राष्ट्र का राष्ट्रवाद है और साथ ही साथ कैम्ब्रिज इतिहासकारों के उस दृष्टिकोण को नकारती है कि यहां राष्ट्रवाद का उदय आदर्शों, विचारों तथा वैचारिक धाराओं को महत्त्व देने के बजाय नाम, पद, स्वर्थ तथा एक-दूसरे से आगे निकलने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हुआ। इसके बजाय भारतीय राष्ट्रवाद को राजनीतिक के एक स्वरूप में जिसकी जड़ औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष में निहित है; समझा जाना अधिक प्रासंगिक और व्यापक होगा।

13.4 गाँधी का दृष्टिकोण

गाँधी ने राष्ट्रवाद पर अलग से अपना कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नहीं किया। इसलिए गाँधी के विचारों में राष्ट्रवाद को समझने के लिए उनकी विचारधारा और सम्पूर्ण दर्शन का अध्ययन करना जरूरी है। उनके लिए राष्ट्रवाद भारत की आजादी हेतु निहित संघर्षों में समाहित था। उनके विचारों को इस विषय को लेकर समझने के लिए इन दोनों चीजों पर गौर करना होगा कि गाँधी के हृदय में राष्ट्रवाद नामक पौधा का प्रस्फुटन भारत में नहीं बल्कि दक्षिण अफ्रीका में हुआ और तथ्य अकेले ही अन्य भारतीय राष्ट्रवादियों से अलग करती है। दूसरा, चम्पारण या बारदोली के बजाय ट्रांसवाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर गाँधी ने अपने अद्भुत व अनुपम राजनीतिक दर्शन, तौर-तरीकों का विकास किया। गाँधी ने कहीं एक जगह राष्ट्रवाद के बारे में कोई ठोस विचार नहीं दिया है, इसलिए गाँधी के दृष्टिकोण में राष्ट्रवाद को समझने के लिए सम्पूर्ण गाँधी साहित्य का अध्ययन करना जरूरी है। गाँधी के रचनाक्रमों के अध्ययन के फलस्वरूप कुछ तथ्य उभरकर सामने आये हैं।

13.4.1 'समायोजन' पर आधारित

गाँधी के दृष्टिकोण में समुदायों का राष्ट्रवादी समरसता कायम करना शामिल था। उनकी राष्ट्रवादी अवधारणा में न केवल धार्मिक समूह बल्कि जातियाँ और प्रजातियाँ भी शामिल थीं। इस पर रविन्द्र कुमार ने टिप्पणी की है कि चूंकि गाँधी के मानस में भारत की वास्तविक तस्वीर वर्गों, जातियों, समुदायों तथा धार्मिक समूहों के एक स्वच्छन्द घनीभूत के रूप में थी, सो वे इस उपमहाद्वीप के जनमानस में राष्ट्रीय भावना भरने में जितना समर्थ थे उतना इनके पूर्व न कोई था न बाद में हुआ।

ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के अपने कार्यक्रम में वे सभी जातियाँ, वर्गों, समुदायों, धर्मावलंबियोंको एक मंच पर लाये तथा अपने राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित कर लक्ष्य को प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। यह काम

उन्होंने सभी समूहों को साथ लेकर किया। साथ ही उनका प्रयास था कि विभिन्न मत भिन्नताओं और विभिन्न विचारों वालों को भी जागृत कर एक मंच पर लाया जाए।

13.4.4 यूरोपीय दृष्टिकोण से भिन्न

गाँधी का राष्ट्रवाद औपनिवेशिक सत्ता से प्रेरित था लेकिन उनके तौर-तरीके यूरोपीय देशों से कई मायनों में अलग थे। उन्होंने जैसे राष्ट्रवाद को दरकिनार कर दिया जो हिंसा पर आधारित हो जैसा कि यूरोपीय देशों में देखने को मिलता है। वे अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा का उपयोग करना चाहते थे, उनका मानना था कि 'प्रेम या आत्मा की ताकत के आगे हथियारों की ताकत निरीह व निष्प्रभावी है'। उनका मानना था कि हिंसा से आपसी संवाद खत्म होते हैं और समाज में हिंसक प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। उनका विचार था कि भारतीयों को ब्रिटिश सरकार की गलतियों का एहसास दिलाना चाहिए तथा सत्याग्रह द्वारा अपने आपको बदलने की कोशिश करनी चाहिए। उनकी नजरों में राष्ट्र की मुक्ति के लिए हिंसा का कोई स्थान न था।

13.4.3 सर्ववर्गीय समावेश पर आधारित

उनका राष्ट्रवाद समाज के सभी तबकों के साथ बिना किसी भेदभाव के सामूहिक सोच व लक्ष्य की अभिव्यक्ति थी। वे जाति या वर्ग के आधार पर पृथक्तावादी दृष्टिकोण के खिलाफ थे। उन्होंने जातीय ऊंच-नीच के खिलाफ हमेशा आवाज उठायी और भारत से छुआछूत मिटाने का अथक व गंभीर प्रयास किया। वे हमेशा से एक ऐसे राष्ट्रवाद के पक्षधर थे जो विभिन्न वर्गों-समुदायों तथा बहुलतावादी संस्कृति पर आधारित हो। भारत से छुआछूत को हटाने के लिए उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में काफी परिवर्तन किये। दक्षिण अफ्रीका में भी गाँधी सहयोगियों से सभी जातियों व समुदायों के लोग शामिल थे। 1915 में भारत लौटने पर अहमदाबाद में स्थापित पहले आश्रम में उनके व्यापक विरोध के बावजूद दलित व्यापारियों को आमंत्रित किया। उन्होंने दलितों को 'हरिजन' नाम दिया और फिर इसी नाम से उन्होंने साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन भी किया। यह पत्रिका समाज के निचले तबकों की समस्याओं पर केंद्रित थी। 1932 में जेल से छूटने के बाद छुआछूत को मिटाने के लिए उन्होंने 12500 मील की यात्रा पैदल की। उन्होंने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए 'हरिजन कोष' की स्थापना की। गाँधी का मानना था कि ब्रिटिश सरकार इसी जात-पात के आधार पर लोगों को बांटकर शोषण कर रही है। जैसा कि 1909 के एक्ट से हिन्दू-मुस्लिम के बीच खाई पैदा की थी। अतः भारत की एकता और अखंडता को रखने के लिए गाँधी ने ब्रिटिश सरकार के सारे कपटपूर्ण नीतियों को कमजोर करने की कोशिश की जिससे भारतीय राष्ट्रवाद कमजोर हो सकता था।

13.4.4 धर्मनिरपेक्षता पर आधारित

गाँधी का राष्ट्रवाद धर्म से प्रेरित होने के बावजूद पंथनिरपेक्ष प्रकृति वाल था। यद्यपि गाँधी की नजरों में भारत विभिन्न धर्मों, भाषाओं, पंथों तथा जातियों का देश था। फिर भी जब कभी भी संश्लेषण विश्लेषण व पारस्परिक अस्तित्व की बात आयी तो अनजाने ही वे हिंदुत्व की तरफ झुके नजर आये। गाँधी द्वारा बार-बार धर्म की बात करने से उनके विचारों में थोड़ी अस्पष्टता और उलझन दिखाई देती है। धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक था, वे धर्म में मिले तमाम रूढ़ियों, रिवाजों और अंधविश्वासों को तोड़ना चाहते थे। वे धर्म को व्यक्तिगत मानते थे जहां लोग अपने दैनिक जीवन के क्रियाकलापों की शुद्धता पर ध्यान देता हो। इसी प्रकार राष्ट्र के संदर्भ में भी उनकी प्रवृत्ति धर्मनिरपेक्ष थी। एम.एन. राय ने प्रारम्भ में गाँधी द्वारा 'राजनीतिक अध्यात्मिकरण' की आलोचना की। लेकिन बाद में उन्होंने समझा कि गाँधी के धार्मिक विचारों की जड़ नैतिक, मानवतावादी तथा वैश्विक थी तथा उनमें किसी व्यक्ति, पंथ, धर्म, समाज या राष्ट्र के प्रति उनके मन में लेशमात्र भी दुराग्रह नहीं था। गाँधी द्वारा हिन्द स्वराज लिखे जाने के समय यह बात बहस का मुद्दा थी कि भारत की राष्ट्र के रूप में स्थापना धार्मिक आधार पर संभव है या नहीं। इस किताब में उन्होंने राष्ट्र शब्द के लिए प्रजा शब्द का इस्तेमाल किया। उनका विश्वास था कि प्रजा नामक शब्द से भारत में एक साझे संस्कृति का निर्माण होगा। उन्होंने हिन्द

स्वराज्य में 'प्रजा' पर आधारित उदार राष्ट्रवाद को अपनाने पर बल दिया। उन्होंने लोगों का अह्वान किया और धर्म को धर्माधता की बुराई से मुक्त कराने और प्रेम तथा आध्यात्म पर आधारित धर्म का रास्ता सुगम व आसान होता है। इस प्रकार उन्होंने कहा कि सभी संगठित धर्म की अपनी वैधता होती है। इसका मतलब यह है कि सभी धर्मों को एक-दूसरे के प्रति सहनशीलता व सम्मान अपनाना चाहिए। यद्यपि गाँधी का झुकाव हिंदुत्व के प्रति था पर उनका दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक था। इसमें कोई शक नहीं कि गाँधी धर्म-निरपेक्ष तथा धार्मिक आदर्शों के प्रति समर्पित ही नहीं बल्कि इसको अपनाने में अग्रदूत की भूमिका निभाई। वे साम्प्रदायिक मतभेदों को आपसी मेल-जोल के साथ हल करना चाहते थे, जिसमें समुदायों की भागीदारी अनिवार्य थी। वे एक ऐसे राष्ट्रवाद का निर्माण करना चाहते थे जिसकी बुनियादी सद्भावना, सहअस्तित्व तथा समन्वय पर आधारित थी न कि समावेशीकरण, सम्मिश्रण तथा संयोजन पर। कुछ विद्वानों का मत यहां तक है कि अंतिम दिनों में उनका धार्मिक बहुलतावाद की सीमा 'बहुल' हिन्दुत्व से आगे जाकर बहुधर्मी तानों-बानों में गुंथ गई थी तथा उनके धार्मिक विचारों व दर्शन का स्वरूप पूर्णतः वैश्विक हो गया था।

13.4.5 अन्तर्राष्ट्रीयता के समकक्ष

गाँधीवादी राष्ट्रवाद में अन्तर्राष्ट्रीयतावादी अंश था। उनका मानना था कि दोनों का सह-अस्तित्व मुमकिन है। इसका कारण था कि वे राज्य व राष्ट्र को एक-दूसरे से पृथक मानते थे। उनके अनुसार राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का अर्थपूर्ण सम्मिलित स्वरूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी अंतःशाक्तियों से परिचालित होकर एक साझे लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। पर राज्य एक मशीनी व्यवस्था है जो राष्ट्र पर थोप दी जाती है। गाँधी की नजरों में राष्ट्र रचनात्मक और जीवंतता का एक रूप है तो राज्य रुढ़ियों और परंपराओं का एक आदर्श रूप।

गाँधी इस बात को सुनिश्चित करना चाहते थे कि राष्ट्र के सामाजिक सरोकारों पर राज्य के काले बादल न छा जाएं। वे इस बात से डरते थे कि राष्ट्र का भाग्य तथाकथित नियंत्रक के रूप में राज्य द्वारा निष्क्रिय न कर दिया जाये। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि भारत सिर्फ कुछ समुदायों का बहुरंगा समूह नहीं है वरन् यह एक राष्ट्र है जहां लोगों की आकांक्षाएं व आशाएं साझे हित से प्रेरित हैं तथा जिसकी प्रतिबद्धता एक आध्यात्मिक सभ्यता की खोज व निर्माण की विकास है। इस संदर्भ में भीखू पारिख का कथन उल्लेखनीय है कि गाँधी ने राष्ट्रवाद शब्द का प्रयोग देश प्रेम के रूप में किया। अधिकतर जगहों पर उन्होंने सामूहिक गौरव, पैतृक निष्ठा, पारस्परिक उत्तरदायित्व तथा बौद्धिक व नैतिक खुलेपन को अधिक बेहतर व अनुकूल माना। अतः राष्ट्रवाद का विचार को अंतर्राष्ट्रीयवाद के पूरक के रूप में समझा जा सकता है। गाँधी के अनुसार किसी के लिए भी यह सम्भव नहीं है कि वह राष्ट्रवादी बने बिना अंतर्राष्ट्रीयवादी बने। अंतर्राष्ट्रीयवाद तभी संभव है जब राष्ट्रवाद की अनुभूति कर ली जाये। राष्ट्रवाद को संकीर्णता, स्वार्थपरता तथा विशिष्टता के चश्मे से देखना गाँधी के अनुसार पाप है तथा आधुनिक राष्ट्रवाद की अवधारणा पर यह कलंक है। आधुनिकता की इस चकाचौंध में प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को पछाड़कर या गिराकर आगे बढ़ना चाहता है। भारतीय राष्ट्रवाद इन सबसे भिन्न और अलग मार्ग प्रशस्त करता है। यह अपने आपको इस ढंग से परिपूर्ण करना चाहता है जो सम्पूर्ण मानवता के पक्ष में खड़ा हो सके।

13.4.6 समुदाय व बाहुल्यवादी

गाँधी समुदायवादी रुख के अलावा बहुलता व सम्मिश्रण सरोकारों में अधिक विश्वास रखते थे। यह बात उस समय और अधिक स्पष्ट हुई जब जिन्ना ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता के आधार पर अलग राष्ट्र की मांग की तो इस पर गाँधी का विचार था कि यूरोपीय राष्ट्रों की तरह भारत की राष्ट्रीयता को पारिभाषित करना उचित नहीं है। वे भारत को एक ऐसी सभ्यता का देश मानते थे जहां विभिन्न सम्प्रदाय, जाति व समुदाय के लोग आपसी समझ व सहनशीलता के साथ वर्षों से रहते आ रहे हैं। यह समुदायों का एक ऐसा समुदाय है जहां प्रत्येक अपने कर्म, विचार व दर्शन के लिए स्वतंत्र है पर प्रत्येक का भाग्य एक साझा संस्कृति पर आधारित है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय मुस्लिम सिर्फ क्षेत्रीय दायरे में ही भारतीय नहीं हैं, बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी

वे पूर्णतः भारतीय हैं तथा हिन्दुओं के साथ-साथ वे भारतीय सभ्यता के साझे भागीदार हैं। यद्यपि अन्य समुदायों की तरह उनका अपने विशिष्ट रीति-रिवाज हो सकते हैं पर वे राष्ट्र के भीतर किसी तरह से शांति या सहअस्तित्व में बाधक नहीं हैं। उनकी नजर में भारत ही एक ऐसी हस्ती थी जिसकी सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टताएं पूरे भारत में एक समान थी। इसलिए विभिन्न समुदायों के बजाय सभ्यता की बात करते हुए गाँधी ने एक ऐसे भारतीय राष्ट्रवाद के निर्माण की कोशिश की जिसकी बुनियाद बहुलता तथा समरसता पर आधारित हो, जो विविधताओं व विभिन्नताओं का न केवल सम्मान करता हो बल्कि उसके प्रति उत्साह, उमंग और जीवंतता भी रखता हो। वे एक ऐसे वातावरण की रचना करना चाहते थे जहां संस्कृतियों व समुदायों में आपसी मेल-जोल हो। इस प्रकार गाँधी का राष्ट्रवाद मानवतावाद पर आधारित था। चूंकि गाँधी समुदाय को व्यक्तियों का समूह मानते थे, सो उनकी नजर में आपसी झगड़ों का निपटारा उसी तरह होना चाहिए जैसे परिवार के सदस्यों के बीच होता है।

13.4.7 जन आधारित धारणा

राष्ट्रवाद का उनका सिद्धांत जन आधारित था यही कारण रहा कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के आगमन के बाद एक नवीन किस्म के राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। गाँधी के आगमन ने राष्ट्रवादी आंदोलन को एक नई दिशा व दृष्टि दी। इससे आंदोलन का स्वरूप बहुजन व बहुवर्ग आधारित हो गया। अपने देशी गतिविधियों के कारण इसने एक अलग पहचान बनाई। गाँधी युग के पूर्व सामाजिक स्तर पर राजनीतिक जागरण कुछ चंद ऊंचे तबकों तक ही सीमित नहीं था बल्कि निजी हित साधने का एक जरिया बन चुका था। औपनिवेशिक शासन के लिए यह परिस्थितियों अनुकूल थी। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज वर्गों के आधार पर बंटता चला गया और दूसरी ओर साम्प्रदायिक विभाजन भी इसी का परिणाम था। लेकिन गाँधी ने चम्पारण, खेड़ा, बारदोली जैसे दूर-दराज क्षेत्रों में अपना प्रयोग कर आंदोलन को लोगों से जोड़ा और देशव्यापी जन आंदोलन जैसे अस्त्रयोग, खिलाफत, सविनय अवज्ञा आंदोलन से लोगों को जोड़ा। भारत छोड़ो जैसे अत्यंत प्रभावी आंदोलनों के द्वारा देश के कोने-कोने में हर वर्ग और समुदायों के बीच अपनी बात पहुंचाई तथा साझे लक्ष्य से प्रेरित कर राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की और इस तरह प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक जो आंदोलन कुछ खास लोगों तक सीमित था। उसने हिन्दुस्तान के जनमानस को आंदोलित, स्पंदित व सक्रिय कर दिया।

वह वही समय था जब कांग्रेस पर गाँधी की पकड़ मजबूत थी इसलिए इस समय के कांग्रेस के सभी प्रयासों में गाँधीवादी विचारधारा की प्रमुख व निर्णायक भूमिका थी। कांग्रेस के सभी कार्यक्रम 'व्यावहारिकता व अध्यात्मिकता' पर आधारित थे। इस परिप्रेक्ष्य में विपिन चन्द्र का यह कथन उल्लेखनीय है कि उपनिवेश विरोधी विचारधारा के साथ-साथ स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिकता, आर्थिक विकास, स्वतंत्र व संयुक्त राजनीति तथा गरीबोन्मुखी विचारों की प्रेरणा ने कांग्रेस की दशा व दिशा बदल दी तथा वह इस बात में सक्षम व समर्थ हुई कि वह राष्ट्रीय आंदोलन को लोकप्रिय जन आंदोलन का रूप प्रदान कर सके।

यद्यपि गाँधी इस बात को भली-भांति जानते थे कि इस तरह के जन आंदोलनों का भविष्य लंबा नहीं है तथा उसे लंबे समय तक जारी नहीं रखा जा सकता। इसलिए बीच-बीच में उन्होंने विराम की नीति अपनाई जो आगे के आंदोलनों में इस नीति ने ऊर्जा भरने का काम किया। इस तरह गाँधी ने संघर्ष-विराम-संघर्ष की नीति को अपना हथियार बनाया ताकि आंदोलन को लम्बे समय तक कायम रखा जा सके।

इस आंदोलन को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए गाँधी ने रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से तेरह (13) बिन्दुओं को तय किया। इन कार्यक्रमों में शामिल थे साम्प्रदायिक एकता, छुआछूत उन्मूलन, मद्यनिषेध, शिक्षा, महिला सशक्तिकरण, स्वास्थ्य व सफाई, राष्ट्रभाषा, मातृभाषा के प्रति प्रेम तथा ट्रस्टीशिप के द्वारा आर्थिक समानता का प्रचार-प्रसार। खिलाफत आंदोलन के समय गाँधी के प्रयासों से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता परवान चढ़ी।

खादी कार्यक्रम और छुआछूत कार्यक्रम मिशन के तौर पर चलाया गया। यद्यपि हिन्दू-मुस्लिम एकता को देश विभाजन से पूर्व भारतीय स्वतंत्रता के अंतिम दिनों में फिर से जिंदा किया गया। लेकिन सवाल उठता है कि क्या गाँधी ने इसे जनआंदोलन का रूप दिया? इस पर विवाद है। पर एक बात स्पष्ट है कि राष्ट्रवादी संघर्ष का अंतिम काल गाँधीवादी विचारधारा की गिरफ्त में था। गाँधीवादी राष्ट्रवाद एक व्यापक फलक का राष्ट्रवाद था जो संकुचित व साम्प्रदायिक दृष्टि से परे और सभी जातियों, दबे-कुचले व समाज के पिछड़े तबको को एक समाज धरातल पर लाने की बात करता है। यह राष्ट्रवाद सामाजिक और आर्थिक खाइयों को पाटना चाहता था। धर्म-निरपेक्षता के प्रति उनके विचार पर विवाद की संभावना है। फिर भी धर्म आधारित संकुचित विचारों से वे परे रहे हैं। उन्होंने धर्म को न केवल व्यक्तिगत दृष्टि से देखा बल्कि सांगठनिक स्तर पर भी गहरी पड़ताल की और साथ ही धर्म को काल्पनिक व वास्तविक तत्वों के बीच स्पष्ट सीमा रेखा निर्धारित की। यह सर्वविदित है कि वे हिन्दू धर्म से काफी प्रभावित थे पर किसी भी मायने में उनमें हठधर्मिता नाम की चीज देखने को नहीं मिलती। वे हिन्दू-मुस्लिम दोनों को समतामूलक दृष्टि से देखते थे। गाँधी रूढ़िवादी राष्ट्रवादी नहीं थे बल्कि उनकी विचारधारा अंतर्राष्ट्रीयवाद से अधिक प्रेरित थी। उनका राष्ट्रवाद मानवता पर आधारित था। उन्होंने साम्यवादी राष्ट्रवाद को भी स्वीकार नहीं किया। इसके बजाय व लोक मानवतावाद के पक्षधर थे चूंकि भारतीय राष्ट्रवाद औपनिवेशिक विरोधी संघर्ष से प्रभावित था इसलिए गाँधी ने राष्ट्रवाद की इस अनुभूति को जनआंदोलन का रूप प्रदान किया। विशाल जनमानस को एक मंच पर लाने के लिए अहिंसक आंदोलनों का सहारा लिया तथा खुद भी उस जीवन को जीया। राष्ट्रीय एकता और अखंडता को कायम रखने के लिए बहुत सारे रचनात्मक कार्यक्रम लोगों के समान रखे। अतः गाँधीवादी राष्ट्रवाद को समझने के लिए यह जरूरी है कि उनके विचारों पर दर्शनों को समझें। वे अपने राष्ट्रवाद के द्वारा न सिर्फ भारत की स्वतंत्रता चाहते थे बल्कि एकता और अखंडता को भी अक्षुण्ण रखना चाहते थे।

13.5 सारांश

उपरोक्त विश्लेषण से गाँधीवादी राष्ट्रवाद पर एक स्पष्ट रूपरेखा तैयार करना बहुत ही कठिन काम है। इस कठिनाई के उत्पन्न होने का कारण गाँधीवादी विचारधारा में जटिलता और औपनिवेशिक साम्राज्य के विरुद्ध लड़े जा रहे स्वतंत्रता संग्राम के कार्यक्रमों में परिवर्तन बहुत हद तक अपनी भूमिका अदा करती है। स्वतंत्रता के अंतिम तीन दशकों में गाँधी के दृष्टिकोणों में विरोधाभास तो देखने को नहीं मिलता पर पश्चिर्तनशीलता जरूर दिखती है। हिन्दू-मुस्लिम एकता भी सामाजिक-राजनीतिक बदलाव में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इन सब तथ्यों का गाँधी सहित अन्य नेताओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। इन सारी सीमाओं के बावजूद गाँधी की विचारधारा अर्थात् गाँधी का राष्ट्रवाद समुदाय, जाति और अन्य कुंठित विचारधाराओं से ऊपर था। राष्ट्र के संदर्भ में भी वे एक विशेष क्षेत्र से बंधे हुए नहीं थे, बल्कि उनका राष्ट्रवाद अंतर-राष्ट्रवाद का समर्थक था और इस संदर्भ में वे एक-दूसरे को पूरक मानते हैं। धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में उनकी सोच व्यापक थी पर हिन्दू-मुस्लिम एकता के संदर्भ में उनका विचार बदलता रहता था। वे मुस्लिमों को भारतीय सभ्यता से अलग स्वतंत्र समुदाय के रूप में मानने से इन्कार करते थे। साथ ही उन्होंने खिलाफत आन्दोलन के समर्थन के औचित्य को ढूँढना सही नहीं समझा। उन्होंने धर्म का प्रयोग राजनीति में उचित नहीं समझा क्योंकि यह अल्ला मुस्लिम राज्य का मार्ग प्रशस्त कर सकता था। इस तरह की सोच को कुछ विद्वानों ने अन्तरविरोध माना और यह कहा कि वे दक्षिण अफ्रीका में मुस्लिम सहयोग को सही नहीं मानते थे और कुछ विद्वानों ने यह माना कि गाँधी के विचारों में बदलाव के कारण हुआ। कुछ भी हो गाँधी का अंतिम लक्ष्य भारत की स्वतंत्रता थी और इसलिए उनको व्यापक जन आंदोलनों में उनको सफलता मिली। उनके विचारों में जो विरोधाभास हो पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने भारत जैसी विविधपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों वाले देश को एकसूत्र में बांधने का प्रयत्न किया।

अंत में यह कहा जा सकता है कि गाँधी ने राष्ट्रवाद की व्याख्या भारतीय सभ्यता के व्यापक संदर्भों में की थी न कि संकीर्ण राष्ट्रवाद के परिप्रेक्ष्य में और इससे भी अधिक उनका राष्ट्रवाद भारतीय स्वतंत्रता की आत्मा में था। इसी आत्मा को पाने के लिए कहीं-कहीं विचारों में बदलाव दिखता है।

13.6 अभ्यास प्रश्न

1. राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बतलाते हुए भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप बताइये।
2. गाँधी का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण पर लेख लिखिए।
3. गाँधी के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की समीक्षा कीजिए।

13.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. नंदा, बी. आर., गाँधी : पेन इस्लामिज्म, इम्पिरिएलिज्म एण्ड नेशनलिज्म इन इण्डिया, ओ.यू.पी., नई दिल्ली, 2002
2. शाह, मोहम्मद, फ्रीडम मुवमेन्ट इन इण्डिया, एसोसिएटेड पब्लिसिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1979
3. ब्राउन, जूडित, गाँधीयन राइस टू पावर : इंडियन पॉलिटिक्स 1915-22, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, 1972
4. ब्राउन, जूडित, गाँधी एण्ड सिविल डिसेओअबीडियन्स : द महात्मा इन इन्डियन पॉलिटिक्स 1928-34, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, 1977
5. रॉथरमण्ड, दैतमर, महात्मा गाँधी : एन एस्से इन पॉलिटिकल बायोग्राफी, मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1991
6. कुमार, रवीन्द्र, स्वतंत्रता संग्राम के गाँधीवादी युग का संक्षिप्त परिचय, कल्पाज़ पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2008